वेदों में राजनीतिशास्त्र

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी



विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही)

ओम्

वेदामृतम् (भाग १७-२०)

वेदों में राजनीति-शास्त्र

(VEDIC POLITY)

लेखक

पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

निदेशक

विश्वभारती अनुसंधान परिषद्

ज्ञानपुर (भदोही)

एवं

डॉ० भारतेन्दु द्विवेदी

अध्यक्ष, विश्वभारती अनुसंधान परिषद्

ज्ञानपुर (भदोही)

विश्वभारती अनुसंधान परिषद्

ज्ञानपुर (भदोही)

VEDĀMRITAM : VOL. XVII - XX

VEDOṄ MEṄ RĀJANĪTISHĀSTRA
(VEDIC POLITY)

BY

Dr. K. D. DVIVEDI & Dr. B. DVIVEDI

© Dr. K. D. DVIVEDI

जनवरी, १९९८
संस्करण : प्रथम

वेदों में राजनीतिशास्त्र
मूल्य : रु० 200.00

ISBN 81 - 85246 - 38-6

प्रकाशक
विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही)
पिन - २२१३०४

संकेत-सूची

अ., अथर्व.	—	अथर्ववेद संहिता
अ.	—	अध्याय
अयोध्या.	—	अयोध्या कांड
अर्थ.	—	कौटिलीय अर्थशास्त्र
अष्टा.	—	अष्टाध्यायी सूत्रपाठ
आचार.	—	आचाराध्याय (याज्ञवल्क्यस्मृति)
आप.	—	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
ऋग्.	—	ऋग्वेद संहिता
ऐत. आ.	—	ऐतरेय आरण्यक
ऐत., ऐत. ब्रा.	—	ऐतरेय ब्राह्मण
काठक.	—	काठक संहिता
कात्या.	—	कात्यायन श्रौतसूत्र
काम.	—	कामन्दकीय नीतिसार
कौ., कौटि.	—	कौटिलीय अर्थशास्त्र
गृह्य.	—	गृह्यसूत्र
गो. ब्रा., गोपथ.	—	गोपथ ब्राह्मण
चा.	—	चाणक्य सूत्र
छा., छान्दो.	—	छान्दोग्य उपनिषद्
जैमि., जैमि. ब्रा.	—	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
तै. ब्रा., तैत्ति. ब्रा.	—	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं., तैत्ति. सं.	—	तैत्तिरीय संहिता
P.	—	page
PP.	—	pages

पंच. ब्रा.	—	पंचविंश ब्राह्मण
पार.	—	पारस्कर गृह्यसूत्र
पु.	—	पुराण
पृ.	—	पृष्ठ
बृह.	—	बृहस्पति सूत्र
बृहदा.	—	बृहदारण्यक उपनिषद्
बौधा.	—	बौधायन श्रौतसूत्र
ब्रा.	—	ब्राह्मण
मनु.	—	मनुस्मृति
महा.	—	महाभारत
मैत्रा.	—	मैत्रायणी संहिता
यजु.	—	यजुर्वेद संहिता
याज्ञ.	—	याज्ञवल्क्य स्मृति
युद्ध.	—	युद्धकांड
रामा.	—	वाल्मीकीय रामायण
वा.	—	वाल्मीकीय रामायण
व्यव.	—	व्यवहाराध्याय (याज्ञवल्क्य स्मृति)
शत., शत. ब्रा.	—	शतपथ ब्राह्मण
शाकु.	—	अभिज्ञान शाकुन्तल
शान्ति.	—	शान्तिपर्व (महाभारत)
शुक्र.	—	शुक्रनीतिसार
श्रौत.	—	श्रौतसूत्र
सं.	—	संहिता
सत्या.	—	सत्याषाढ श्रौतसूत्र
सभा.	—	सभापर्व (महाभारत)
साम.	—	सामवेद संहिता
स्मृ.	—	स्मृति (स्मृतिग्रन्थ)

ओम्

प्राक्कथन

वेदों का महत्त्व – वेद आर्यजाति के प्राण हैं। ये मानवमात्र के लिये प्रकाशस्तम्भ और शक्ति के स्रोत हैं। विश्व को संस्कृति का ज्ञान देने वाले वेद हैं। वेद ही विश्वबन्धुत्व, विश्वकल्याण और विश्वशान्ति के प्रथम उद्घोषक हैं। वेद ही मानवमात्र के लिये विकास का मार्ग प्रशस्त करते हुए सुख और शान्ति की स्थापना कर सकता है।

वेद और राजनीतिशास्त्र – मनु का यह कथन उपयुक्त है कि-'सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनु. २.७) अर्थात् वेदों में सभी विद्याओं के सूत्र विद्यमान हैं। वेदों में राजनीतिशास्त्र से संबद्ध सैकड़ों मन्त्र हैं। इनमें राज्य के प्रति राजा के कर्तव्य, राजा-प्रजा के संबन्ध, राष्ट्र का स्वरूप, सभा समिति और विदथ की स्थापना, विधान और विधिनिर्माण, राजा का निर्वाचन, राज्याभिषेक, युद्ध, सैन्य-व्यवस्था, विविध शस्त्रास्त्र, अर्थव्यवस्था, शासन-प्रणाली आदि का संक्षिप्त वर्णन है। उपर्युक्त प्रायः सभी विषयों पर आवश्यक सामग्री उपलब्ध है। उसका ही इस ग्रन्थ में आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

वेदामृतम्-ग्रन्थमाला – इस ग्रन्थमाला के १६ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ में भाग १७ से २० की समस्त सामग्री संकलित की गई है। राज्य-प्रशासन, सभा समिति आदि का स्वरूप, सैन्य-व्यवस्था और विविध शस्त्रास्त्र आदि। उपयोगिता की दृष्टि से चारों भागों को एक खंड में दिया जा रहा है।

सामग्री-संकलन – वेद केवल राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थ नहीं हैं। उनमें राजनीतिशास्त्र से संबद्ध सामग्री इधर-उधर बिखरी हुई है। उसको विषयानुसार संकलित किया गया है। महाभारत शान्तिपर्व, कौटिलीय अर्थशास्त्र और शुक्रनीति आदि में राजनीतिशास्त्र-विषयक सामग्री बहुत अधिक है। मैंने प्रयत्न किया है कि उसमें से अत्यन्त उपयोगी सामग्री पाठकों के लिये लाभार्थ यथास्थान दी जाय। इससे पाठकों का ज्ञानवर्धन होगा और तुलनात्मक अध्ययन भी हो सकेगा। वेदों में सूत्ररूप में दिये विषयों का विशदीकरण भी इससे प्राप्त हो सकेगा।

राजनीतिशास्त्र – राजनीतिशास्त्र मानवजीवन का अंग है। राष्ट्र का प्रशासन जनता के विकास, सुख-शान्ति, उद्योग, सुरक्षा, आर्थिक प्रगति आदि के लिये उत्तरदायी है। प्रशासन की उत्कृष्टता से ही देश के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। जनता की सुख-समृद्धि प्रशासन

पर निर्भर है। राजनीतिशास्त्र उस उत्कर्ष को प्राप्त कराने का साधन है। अतएव शुक्रनीति में कहा गया है कि यह नीतिशास्त्र सभी का हित करने वाला है, राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था का स्थापक है। धर्म अर्थ काम और मोक्षरूपी चतुर्वर्ग को देने वाला है।

सर्वोपकारकं लोकस्थितिकृद् नीतिशास्त्रकम् ।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ।। शुक्र. १.५

मैंने प्रयत्न किया है कि विषय को सरल और सुबोध बनाया जाय। साथ ही यह भी प्रयत्न किया है कि विषय से संबद्ध कोई आवश्यक सामग्री छूटने न पावे। ग्रन्थ के निम्नलिखित अध्यायों में विशेष महत्त्वपूर्ण सामग्री दी गई है— अध्याय ६. राज्य के विविध अंग, ७. राजा का निर्वाचन, राज्याभिषेक, १०. विविध शासन-प्रणालियाँ, १२. प्रमुख संस्थाएं, १६. सैन्य-व्यवस्था, १७. विविध शस्त्रास्त्र।

कृतज्ञता प्रकाशन – वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों के अतिरिक्त महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र और शुक्रनीति से बहुत उपयोगी सामग्री प्राप्त हुई है। इनके अतिरिक्त ये ग्रन्थ भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं — १. डा. काशीप्रसाद जायसवाल-Hindu Polity, २. डा. श्यामलाल पांडेय-वेदकालीन राज्य-व्यवस्था, ३. डा. अलतेकर-प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, ४. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार-प्राचीन भारत की शासन संस्थाएँ। तदर्थ इनका बहुत आभारी हूँ।

ग्रन्थ के प्रकाशन की व्यवस्था ज्येष्ठ पुत्र डा. भारतेन्दु ने की है। प्रूफ रीडिंग आदि कार्यों में परिवार के इन सदस्यों ने विशेष सहयोग दिया है— धर्मेन्दु, ज्ञानेन्दु, डा. विश्वेन्दु, डा. आर्येन्दु एवं पुत्रवधुएँ श्रीमती डा. सविता, जया, सुनीता, अपर्णा एवं रीना। इन सभी को हार्दिक आशीर्वाद है।

आशा है यह ग्रन्थ जनता की वेदों के प्रति रुचि जागृत करेगा और भारतीय संस्कृति के प्रति उनका अनुराग बढ़ाएगा।

– डा. कपिलदेव द्विवेदी

शान्तिनिकेतन,
ज्ञानपुर (भदोही)
दिनांक ५.९.१९९६ ई.
(जन्माष्टमी, २०५३ वि.)

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ

अध्याय – १

राजनीतिशास्त्र का उद्‌भव और विकास १-१५

१. राजनीतिशास्त्र के विभिन्न नाम : ३
२. राजनीतिशास्त्र का उद्‌भव और विकास : ४

अध्याय – २

वेदों में समाज के तत्त्व १७-२५

१. वैदिक समास का स्वरूप : १९
२. समाज के संघटक गुण : २०
३. आदर्श समाज का लक्ष्य : २०
४. गुणों के अनुसार कार्य का निर्धारण : २१
५. वैदिक वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-प्रधान : २३
६. समाज का निर्माण और आवयविक सिद्धान्त : २४

अध्याय – ३

राज्य-उत्पत्ति-विषयक सिद्धान्त २७-४२

१. विकास-सिद्धान्त : २९
२. युद्ध-सिद्धान्त : ३०
३. समाज-अनुबन्धवाद : ३३
४. दैवी-सिद्धान्त : ३७
५. वैदिक और पाश्चात्त्य दैवी-सिद्धान्त में अन्तर : ४१

अध्याय – ४

राज्य का स्वरूप, उद्देश्य और कार्य ४३-५२

१. राज्य का सप्तांग स्वरूप : ४५
२. राज्य का आवयविक स्वरूप : ४६
३. वैदिक और पाश्चात्त्य आवयविक स्वरूप में अन्तर : ४८
४. राज्य के उद्देश्य : ४९

५. राज्य के कार्य : ५०

अध्याय – ५

राज्य के विभिन्न तत्त्व ५३-६५

१. तत्त्व और अंग में अन्तर : ५५
२. राज्य के तत्त्व : ५५
३. वेदों में राज्य के तत्त्व : ५५
४. ब्रह्म का स्वरूप : ५७
५. क्षत्र का स्वरूप : ५७
६. विश् का स्वरूप : ५९
७. राष्ट्र का स्वरूप : ६१
८. वेदोत्तर काल में राज्य के तत्त्व : ६३

अध्याय – ६

राज्य के विविध अंग ६७-९९

१. राज्य के विविध अंग : ६९
२. राजा के गुण, कर्तव्य आदि : ७१
३. राजा के कुछ प्रमुख कर्तव्य : ७४
४. मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद् : ७९
५. कोष : ८८
६. दंड, सेना (बल) : ८८
७. मित्र (सुहृद्) : ९१
८. जनपद (राष्ट्र) : ९२
९. पुर (दुर्ग) : ९३
१०. षाड्गुण्य (६ गुण) : ९५

अध्याय – ७

राजा का निर्वाचन और राज्याभिषेक १०१-११९

१. राजा का निर्वाचन : १०३
२. राजा का राज्याभिषेक : १०६
३. अभिषेक और कर्तव्य-विधान : ११३

४. राजा का पदच्युत किया जाना और पुन: प्रतिष्ठापन : ११७

अध्याय – ८

राजा के विभिन्न कर्तव्य १२१-१३७

१. राजा के राष्ट्रीय कर्तव्य : १२३
२. राजा के धार्मिक कर्तव्य : १२७
३. राजा के आर्थिक कर्तव्य : १२८
४. राजा के सामाजिक कर्तव्य : १२९
५. राजा के शैक्षिक कर्तव्य : १३१
६. राजा के कर्तव्य प्रजा के प्रति : १३२
७. प्रजा के कर्तव्य राजा के प्रति : १३४
८. राजा और प्रजा के संबन्ध : १३५

अध्याय – ९

संविधान और विधि-निर्माण १३९-१५४

१. वैदिक संविधान : १४१
२. संविधान का उद्देश्य : १४१
३. संविधान की रचना : १४१
४. संविधान के मौलिक तत्त्व : १४२
५. विविध संविधान : १४२
६. वैदिक संविधानों की प्रमुख विशेषताएं : १४३
७. विधि और विधि-निर्माण : १४४
८. विधि-निर्माण के केन्द्र : १४७
९. विधिपालिका के कार्य : १५२
१०. विधि-निर्माण में आचार्यों का महत्त्व : १५३
११. विधि-निर्माण में जनमत का महत्त्व : १५३

अध्याय – १०

विविध शासन-प्रणालियाँ १५५-१७४

१. शासन-प्रणालियों के नाम : १५७
२. राज्य और राजा : १५९

३. साम्राज्य और सम्राट् : १६०
४. माहाराज्य और महाराज : १६२
५. स्वाराज्य और स्वराट् : १६२
६. भौज्य और भोज : १६४
७. वैराज्य और विराट् : १६५
८. आधिपत्य और अधिपति : १६७
९. सार्वभौम और एकराट् : १६८
१०. पारमेष्ठ्य और परमेष्ठी : १६९
११. स्वावश्य : १७१
१२. आतिष्ठ : १७१
१३. जनराज्य या जानराज्य : १७१
१४. अधिराज्य : १७३
१५. विप्रराज्य : १७४
१६. समर्यराज्य : १७४

अध्याय – ११

राज्य के प्रमुख संचालक (राजकृत्) १७५-१९५

१. राज्य के लिए सहायकों की आवश्यकता : १७७
२. राज्य के प्रमुख संचालक : १७८
३. राजा और राजकृत् (रत्निन्) : १७९
४. राजानो राजकृतः (रत्निनः) : १८१
(१) राजन्य : १८१
(२) महिषी : १८१
५. अराजानो राजकृतः (रत्निनः) : १८२
(१) ब्रह्मन् या पुरोहित : १८२
(२) सेनानी : १८३
(३) ग्रामणी : १८४
(४) सूत : १८६
(५) क्षत्ता (क्षत्तृ) : १८९
(६) संग्रहीता (संग्रहीतृ) : १८९

(७) भागदुघ : १९०
(८) अक्षावाप : १९०
(९) गोविकर्त : १९२
(१०) पालागल : १९२
६. राज्य के अन्य कार्यवाहक : १९३
७. रत्नी और प्रजा का प्रतिनिधित्व : १९४
८. मंत्रिपरिषद् के सदस्य : १९५

अध्याय – १२

प्रमुख संस्थाएँ १९७-२३७

१. संस्थाओं की उपयोगिता : १९९
२. सभा : १९९
(१) सभा की प्राचीनता : १९९
(२) सभा-विषयक विभिन्न मत : २००
(३) सभा का संगठन : २०३
(४) सभा की सदस्यता : २०५
(५) सभासद् की योग्यता : २०७
(६) सभासद् के कार्य : २०९
(७) सभासदों के विशेषाधिकार : २०९
(८) सभापति : २१०
(९) सभा के कार्य : २१०
(१०) सभा की कार्य-प्रणाली : २१४
(११) सभा की न्यायसमिति : २१५
(१२) सभा में नारी सदस्य : २१७
३. समिति : २१८
(१) समिति की प्राचीनता : २१८
(२) समिति की उपयोगिता : २२०
(३) समिति का संगठन : २२१
(४) समिति की कार्यप्रणाली : २२२
(५) समिति के कार्य : २२३

४. विदथ : २२६
(१) विदथ की प्राचीनता : २२६
(२) विदथ के विषय में विभिन्न मत : २२७
(३) विदथ की सदस्यता : २३०
(४) विदथ का अध्यक्ष : २३२
(५) विदथ के कार्य : २३३
५. संसद् : २३४
(१) संसद् का स्वरूप : २३४
(२) संसद् के कार्य : २३४
(३) सात संसद् : २३५
६. सेना : २३५

अध्याय – १३

अर्थ-व्यवस्था (कोश) २३९-२६२

१. कोश का महत्त्व : २४१
२. कोश-संचय के प्रमुख साधन : २४४
(क) बलि (कर) : २४५
(ख) शुल्क : २४८
(ग) शत्रु-विजय-द्वारा प्राप्त धन : २५०
३. कर के विविध रूप : २५०
४. कर लेने का प्रकार : २५४
५. मुद्राएँ : २५६
६. कोश-संग्रह से संबद्ध अधिकारी : २६०
(क) भागदुघ : २६०
(ख) संग्रहीता (संग्रहीतृ) : २६१
(ग) गणक : २६२

अध्याय – १४

न्याय और दंड-विधान २६३-२७५

१. न्याय की आवश्यकता : २६५
२. न्याय का स्वरूप : २६५

३. दंड-विधान : २६७
(क) दंड की उपयोगिता : २६७
(ख) दंड का स्वरूप : २६९
४. अपराध और दंड : २६९
(१) यातुधान : २७०
(२) रक्षस्, राक्षस : २७१
(३) चोर, स्तेन आदि : २७२
(४) असत्यवादी, पिशुन, मृध्रवाच् : २७३
(५) अत्रिन्, क्रव्याद्, किमीदिन् : २७४
(६) अघशंस, दुर्हार्द् आदि : २७४

अध्याय – १५

दूत और गुप्तचर-व्यवस्था २७७-२९१

१. दूत की आवश्यकता : २७९
२. कौटिल्य आदि का मत : २८०
३. दूतों और चरों की योग्यता : २८०
४. दूत के कर्तव्य : २८१
५. गुप्तचरों के कार्य : २८२
६. देवदूत : २८३
७. राजदूत : २८४
८. दूत की योग्यता और उसके क्रियाकलाप : २८६
९. गुप्तचर-व्यवस्था और उसके कार्यकलाप : २८८

अध्याय – १६

राज्य की सुरक्षा और सैन्य-व्यवस्था २९३-३२०

१. राज्य के दो प्रकार के शत्रु : २९५
२. आभ्यन्तर शत्रु और उनका दमन : २९५
३. बाह्य शत्रु-नाशन और सैन्य-व्यवस्था : २९७
४. सेना का स्वरूप : २९८
५. सेना के अंग : २९९
(क) गज और गजारोही सेना : ३००

(ख) अश्व और अश्वारोही सेना : ३००
(ग) पदाति या पैदल सेना : ३०२
(घ) रथ और रथारोही सेना : ३०३
६. नारी-सेना : ३०५
७. सेना, सैनिक और अधिकारी : ३०७
(१) सेनापति : ३०८
(२) पदाति-सेनाध्यक्ष : ३११
८. सेना के ६ भेद : ३११
९. सेना के आठ भेद : ३१२
१०. युद्ध-कार्य : ३१३
११. युद्ध के प्रकार : ३१३
१२. युद्धों में माया का प्रयोग : ३१७
१३. योद्धाओं का वेश : ३१८
१४. युद्ध का काल : ३१८
१५. सैनिकों का उपयोग, वेतन और भत्ता : ३१९
१६. विजयी और पराजित राजा के आचरण : ३२०

अध्याय – १७

विविध शस्त्रास्त्र ३२१-३४४

१. शस्त्र और अस्त्र : ३२३
२. दिव्य और मानवीय अस्त्र : ३२३
३. दिव्य अस्त्र : ३२४
(१) आग्नेय अस्त्र या अग्निबाण : ३२४
(२) वायव्य अस्त्र : ३२४
(३) पाशुपत अस्त्र : ३२४
(४) ब्रह्मास्त्र : ३२४
(५) आथर्वण अस्त्र : ३२५
(६) वारुण अस्त्र या वरुण के पाश : ३२५
(७) संमोहन अस्त्र : ३२५
(८) तामस अस्त्र : ३२५

(९) ऐन्द्र अस्त्र या वज्र : ३२६
(१०) अग्निपुराण में वर्णित शस्त्रास्त्र : ३२६
(११) कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित शस्त्रास्त्र : ३२७
४. मानवीय शस्त्रास्त्र : ३२९
(क) अस्त्र :- : ३२९
(१) धनुष, (२) बाण, (३) इषुधि, तूणीर, (४) सृक,
(५) हेति, मेनि, (६) प्रहेति, (७) अशनि, (८) ऋष्टि,
(९) रम्भिणी, (१०) सीसे की गोली
(ख) शस्त्र :- : ३३६
(१) असि, (२) स्वधिति, (३) परशु, (४) क्षुर,
(५) वाशी, (६) कृपाण, (७) शूल, (८) चक्र,
(९) सूना, (१०) कर्त, (११) समुद्रफेन,
(१२) उल्का, (१३) दण्ड, (१४) अश्मन्, पाषाण,
(१५) धूमाक्षी
५. अंगरक्षक आयुध : ३३९
(१) बिल्म (टोप), (२) वर्म एवं कवच, (३) रुक्म,
(४) खादि, हस्तघ्न, (५) शिप्रा
६. युद्ध के उपकरण : ३४०
७. युद्धों में वाद्य-प्रयोग : ३४२
८. पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट शस्त्रास्त्र : ३४४
सहायक ग्रन्थ : ३४५
निर्देशिका (Index) : २४७-३५२

सुभाषित

१. वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । मनु. २.६
सर्वज्ञानमयो हि सः । मनु. २.७

२. सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । अथर्व. १२.१.१

३. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः । अथर्व. १२.१.१२

४. वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः । यजु. ९.२३

५. वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम । अथर्व. १२.१.६२

६. स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त ।
जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त ।
विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त । यजु. १०.४

७. कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा । यजु. ९.२२

८. महते जानराज्याय । यजु. ९.४०

९. सुखस्य मूलं धर्मः । धर्मस्य मूलम् अर्थः ।
अर्थस्य मूलं राज्यम् । राज्यमूलम् इन्द्रियजयः ।
चाणक्यसूत्र १ से ४

१०. सर्वोपकारकं लोक-स्थितिकृद् नीतिशास्त्रकम् ।
धर्मार्थकाममूलं हि, स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ।।
शुक्रनीतिसार १.५

११. (क) आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः ।
(ख) चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः ।
ताभिर्धर्मार्थौ यद् विद्यात्, तद् विद्यानां विद्यात्वम् ।
कौटिलीय अर्थशास्त्र १.१-४

१२. अथ धर्मार्थफलाय राज्याय नमः । नीतिवाक्यामृत

अध्याय १

राजनीतिशास्त्र का उद्‌भव और विकास

१. राजनीतिशास्त्र के विभिन्न नाम

२. राजनीतिशास्त्र का उद्‌भव और विकास

अध्याय १

राजनीतिशास्त्र का उद्भव और विकास

१. राजनीतिशास्त्र के विभिन्न नाम

राजनीतिशास्त्र से संबद्ध प्राचीन ग्रन्थों में इस शास्त्र को राजधर्म, राजशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि नामों से संबोधित किया गया है। मनुस्मृति और महाभारत में इसे राजधर्म नाम दिया गया है।[१] महाभारत शान्तिपर्व में इसे राजशास्त्र भी कहा गया है।[२] इसका अभिप्राय यह है कि इस शास्त्र का उद्देश्य राजा के कर्तव्य, राजा की शासन पद्धति, राज्य के संचालन की प्रक्रिया आदि का विवेचन है। राजनीतिशास्त्र के लिए दण्डनीति शब्द का भी प्रचलन था। मनुस्मृति और महाभारत का कथन है कि दण्ड ही प्रजा का शासक है। यही प्रजा को सन्मार्ग पर लाता है। दण्ड के भय से ही अपराधी नियन्त्रण में रहते हैं, अतः दण्ड को धर्म कहा जाता है।[३] दण्ड के विषय में मनु का कथन है कि यदि दण्ड का ठीक प्रयोग किया जाता है तो प्रजा प्रसन्न रहती है। यदि इसका अनुचित प्रयोग किया जाता है तो यह राजा और प्रजा दोनों के लिए घातक है। यदि दण्ड का प्रयोग नहीं किया जाता है तो बलवान् निर्बलों को खा जाएंगे, दुर्जन सज्जनों का नाश कर देंगे और मात्स्यन्याय प्रवृत्त हो जाएगा।[४] कौटिल्य का भी यही कहना है कि कठोर दंड से प्रजा आतंकित हो जाती है। कम दण्ड का प्रभाव नहीं होता, अतः उचित दंड ही श्रेष्ठ है।[५]

राजनीतिशास्त्र का एक प्रचलित नाम नीतिशास्त्र भी है। नीति शब्द नी (ले जाना) धातु से बना है। अतः नीति का अर्थ होता है — मार्गदर्शन, पथ-प्रदर्शन। नीति की परिभाषा की गई है — 'नीयते व्यवस्थाप्यते स्वेषु स्वेषु सदाचारेषु लोकाः यया स नीतिः' अर्थात् जिसके द्वारा प्रजा अपने-अपने आचरण में स्थापित की जाती है, कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लाई

---

१. राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि । मनु० ७.१
सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः । महा० शान्ति० ६२.२९

२. राजशास्त्रप्रणेतारः । महा० शान्ति० ५८.३

३. (क) दण्डनीतिरिति ख्याता । महा० शान्ति० ५९.७८
(ख) दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः । मनु० ७.१८
(ग) एकैव दण्डनीतिस्तु विद्या । कामन्दकीय० २.५

४. मनु० ७.१९ और २०

५. तीक्ष्णदण्डो हि भूतानाम् उद्वेजनीयः । मृदुदण्डः परिभूयते । यथार्हदण्डः पूज्यः । अर्थशास्त्र १.३.२

जाती है, उसको नीति कहते हैं। नीति की व्याख्या शुक्राचार्य ने की है[६] — धर्म या सन्मार्ग की ओर ले जाने के कारण इसे नीति कहते हैं। शुक्राचार्य नीतिशास्त्र का महत्त्व बताते हुए कहते हैं कि — यह नीतिशास्त्र सबका उपकार करने वाला है, समाज को सुरक्षित करता है और चतुर्वर्ग को सिद्ध करता है, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों का मार्ग प्रशस्त करता है।[७] महाभारत में भी इस शास्त्र को नीतिशास्त्र कहा गया है।[८]

कामन्दकीय नीतिसार में इस शास्त्र के लिए राजविद्या नाम भी दिया गया है।[९]

आचार्य कौटिल्य ने राजनीतिशास्त्र के लिए 'अर्थशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया है। सामान्यतया अर्थ शब्द का अर्थ धन या संपत्ति लेकर अर्थशास्त्र का अर्थ संपत्तिशास्त्र या वित्तशास्त्र (Economics) लिया जाता है। परन्तु कौटिल्य का कथन है कि 'अर्थ' शब्द से जैसे वृत्ति, व्यवसाय, धंधे या पेशे का ग्रहण होता है, उसी प्रकार यह भूमि का भी वाचक है। भूमि को प्राप्त करने और उसका पालन करने के कारण अर्थशास्त्र शब्द राजधर्म या राजशास्त्र अर्थ का बोधक है।[१०] कौटिल्य का वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था। चणक का पुत्र होने के कारण उन्हें 'चाणक्य' और कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण 'कौटिल्य' नाम पड़ा। कामन्दक ने अपने नीतिसार में उन्हें स्पष्ट रूप से 'विष्णुगुप्त' कहा है।[११]

२. राजनीतिशास्त्र का उद्भव और विकास

राजनीतिशास्त्र का उद्भव कब और कैसे हुआ, यह निश्चित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। विश्व के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं, परन्तु ये राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थ नहीं हैं। इनमें स्फुट रूप में राजनीतिशास्त्र के तत्त्व प्राप्त होते हैं। इनके आधार पर राजनीतिशास्त्र की रूपरेखा तैयार होती है। वैदिक वाङ्मय में चारों वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ और उपनिषदों का समावेश होता है। साथ ही वेदों के ६ अंग-शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष भी वेदांग होने के कारण वैदिक वाङ्मय में आते हैं। इनमें से आरण्यक और उपनिषदों

---

६. नयनाद् नीतिरुच्यते । शुक्रनीति १.१५७

७. सर्वोपकारकं लोकस्थितिकृद् नीतिशास्त्रकम् ।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ।। शुक्रनीति १.५

८. तत् सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम् । महा० शान्ति० ५९.७४

९. राजविद्याविदां मतम् । काम० १.८

१०. मनुष्याणां वृत्तिरर्थः, मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः, तस्याः पृथिव्या लाभ-पालनोपायः शास्त्रम् अर्थशास्त्रम् इति । कौटिल्य० प्रकरण १८०, तन्त्रयुक्तयः, १

११. नीतिशास्त्रामृतं श्रीमान् अर्थशास्त्रमहोदधेः ।
य उद्दधे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ।। काम० १.६

में आध्यात्मिक विषय प्रधान हैं, अतः इनमें राजनीतिशास्त्र विषयक सामग्री का प्रायः अभाव है। वेदांगों में भी एतद्-विषयक सामग्री नहीं के बराबर है।

वेदों में सर्वमुख्य ऋग्वेद है। इसमें कोई भी सूक्त पूर्णरूपेण राजनीति-विषयक नहीं है और न कहीं पर विशेष रूप से राजनीति की ही चर्चा की गई है। ऋग्वेद में देवगणों की चर्चा के प्रसंग में कुछ राजनीति-विषयक सामग्री मिलती है।

ऋग्वेद में राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण सूक्त ये हैं — (यहाँ मंडल और सूक्त का निर्देश है) — १.२५ (राजकर्म), १.३२ (इन्द्र-वृत्र-युद्ध), १.८० (स्वराज्य), १.११४ (लोककल्याण), १.१३० (राजा, विदथ), १.१७४ (राजधर्म), ४.४ (शत्रुनाशन), ४.४२ (राजकर्म), ४.५७ (कृषि), ५.३७ (राजधर्म), ७.१८ और ७.३३ (दाशराज्ञ युद्ध), ७.७४ (राजा-प्रजा), ८.४६ (दानस्तुति), ८.९३ (स्वराज्य), ८.९६ (युद्ध), १०.८५ (विवाह), १०.८६ (नारी-गौरव), १०.१०३ (सेना, युद्ध), १०.१६६ (शत्रुनाशन), १०.१७३ (राजा, राज्य), १०.१९१ (संगठन)।

ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से सामग्री बहुत अधिक है। यहाँ पर कुछ महत्त्वपूर्ण सूक्त दिए जा रहे हैं। कांड और सूक्तसंख्या का निर्देश है।

अथर्व० १.९ (निर्वासित राजा को पुनः गद्दी पर बैठाना), १.२९ (राष्ट्रसंवर्धन), २.१२ (शत्रुनाशन), २.१६ (सुरक्षा), ३.३ (पदच्युत राजा की पुनः स्थापना), ३.४ (प्रजा द्वारा राजा का वरण), ३.५ (राजा और राजकृत्), ३.८ (बृहद् राष्ट्र), ३.१९ (क्षात्र धर्म), ४.८ (राज्याभिषेक), ४.२२ (एकछत्र राजा), ४.३० (राष्ट्री देवी, वाग्देवी), ४.३१ (सेना-निरीक्षण), ४.३२ (सेना-प्रोत्साहन), ६.४० (अभय), ६.४२ और ६.७४ (सांमनस्य), ६.८७ (राजा का वरण), ६.८८ और ६.१२८ (राजा की स्थापना), ६.९७ और १९.१३ (विजयी राजा), ६.९९ (विजय), ७.१२ (राष्ट्रसभा), ७.१९ (प्रजापालन), ७.५० (विजय), ७.१०९ (राष्ट्रभृतः, राष्ट्ररक्षक), ११.९ (सेना, युद्ध), १२.१ (भूमिसूक्त, राष्ट्रगौरव), १७.२२ और २३ (विराज्, स्वराज्, सम्राज्), १९.१४ से १६ (अभय), १९.१७ और १८ (सुरक्षा), १९.२४ और १९.४१ (राष्ट्र), १९.५५ (सभा, सभासद्)।

यजुर्वेद में भी राजनीति-विषयक सामग्री पर्याप्त मात्रा में है। यद्यपि यजुर्वेद का संबन्ध विविध यज्ञों से है, परन्तु यज्ञ प्रकारान्तर से राष्ट्र की समृद्धि, सुख-शान्ति की कामना, राजा के गौरव की अभिवृद्धि, राज्याभिषेक, विश्वशान्ति की स्थापना आदि के द्वारा राजनीति से संबद्ध है। यहाँ पर कुछ महत्त्वपूर्ण अध्यायों और मंत्रों का निर्देश है।

(अध्याय ९) वाजपेय यज्ञ (राजा के द्वारा शक्ति की संप्रप्ति), (अध्याय १०) राजसूय यज्ञ और राज्याभिषेक, (अध्याय १४, मंत्र २८ से ३१) अग्निचयन, विभिन्न अधिपति,

(अध्याय १५, मंत्र १५ से १९) सेनानी और ग्रामणी, (अध्याय १९ से २१) सौत्रामणी यज्ञ, राजसत्ता की संपुष्टि, (अध्याय २२) अश्वमेध यज्ञ, राजा के आधिपत्य की घोषणा, (अध्याय ३०) पुरुषमेध, राष्ट्रीय उद्योग और विभिन्न व्यवसाय, (अध्याय १६) रुद्राध्याय, गण-गणपति, सेना-सेनापति, युद्ध के शस्त्रास्त्र, (अध्याय २०, मंत्र २५) ब्रह्म और क्षत्र का समन्वय, (अध्याय २०, मंत्र १ से १०) राजा और राज्य, (अध्याय ३६, मंत्र ९ से २३) विश्वशान्ति, विश्वबन्धुत्व, (अध्याय ३४, मंत्र १ से ६) शिवसंकल्पसूक्त, जनकल्याण की भावना और (अध्याय ४० मंत्र ६ और ७) सर्वभूतात्मवाद, समदृष्टित्व। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, पंचविंश ब्राह्मण आदि में भी राजनीतिशास्त्र से संबद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य दिए गए हैं। जैसे — राजकर्मचारी के गुण, विविध करों का उल्लेख आदि।

वेदांगों में मुख्यरूप से अपने-अपने विषयों का ही वर्णन है। व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि में शास्त्रीय विषयों की ही चर्चा है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिशास्त्र-संबन्धी तथ्य प्राप्त होते हैं। यथा — राजा के गुण, मन्त्रिपरिषद्, राज्यसभा, शासनतन्त्र के अधिकारी, न्याय और दंडव्यवस्था, सेना, सेनापति, सैनिक, जनपद, संघ या गण, आयुधजीवी संघ आदि।[१२]

महाभारत शान्तिपर्व के अध्याय ५८ और ५९ में राजनीतिशास्त्र के उद्भव और विकास का इतिहास दिया गया है। इसमें बताया गया है कि राजनीतिशास्त्र के प्रणेता ये आचार्य थे — भगवान् विशालाक्ष (शिव), महातपस्वी काव्य (शुक्राचार्य), सहस्राक्ष इन्द्र, प्रचेतस् के पुत्र मनु, भगवान् भरद्वाज और गौरशिरस् मुनि।[१३] इन राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थों का विस्तृत वर्णन अध्याय ५९ में दिया गया है — सर्वप्रथम ब्रह्मा ने १ लाख अध्यायों वाला नीतिशास्त्र बनाया। इसमें धर्म, अर्थ और काम शास्त्रों का विस्तृत वर्णन था, अतः इसका 'त्रिवर्ग' नाम पड़ा। इस शास्त्र को सर्वप्रथम भगवान् विशालाक्ष (अर्थात् शिव) ने ग्रहण किया। अतः इस नीतिशास्त्र का नाम 'वैशालाक्ष' पड़ा। उन्होंने इसे संक्षिप्त करके इसमें १० हजार अध्याय रखे। इसके बाद इन्द्र ने इसे संक्षिप्त करके इसमें ५ हजार अध्याय रखे। इसका नाम 'बाहुदन्तक नीतिशास्त्र' पड़ा। फिर बृहस्पति ने इसको संक्षिप्त करके इसमें ३ हजार अध्याय

---

१२. विशेष विवरण के लिए देखें — डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल – कृत 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' पृष्ठ ३८९ से ४६६ ।

१३. विशालाक्षश्च भगवान्, काव्यश्चैव महातपाः ।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च, तथा प्राचेतसो मनुः ।।
भरद्वाजश्च भगवान्, तथा गौरशिरा मुनिः ।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः ।। महा० शान्ति० ५८, २-३

किए और इसका नाम 'बार्हस्पत्य नीतिशास्त्र' पड़ा। फिर शुक्राचार्य ने इसको संक्षिप्त करके एक हजार अध्याय वाला बनाया। इसका नाम 'शुक्रनीतिशास्त्र' पड़ा।[१४]

इस नीतिशास्त्र में वर्णित विषयों की बहुत लम्बी सूची शान्तिपर्व, अध्याय ५८ श्लोक ५ से १२ में तथा अध्याय ५९ श्लोक ३१ से ७३ में दी गई है। कुछ अति महत्त्वपूर्ण विषय ये हैं — त्रयी (वेदत्रयी), आन्वीक्षिकी (ज्ञानकांड), वार्ता (कृषि, वाणिज्य आदि), दण्डनीति का वर्णन, साम दान दंड भेद एवं उपेक्षा इन पांच उपायों का वर्णन, मन्त्री, राजदूत, गुप्तचर एवं राजकर्मचारियों की नियुक्ति, मंत्रणा, भेदनीति, संधि, विग्रह आदि का वर्णन, सेना का संगठन, सेना के ८ अंग, न्याय और दंड-विधान, कर-व्यवस्था, कोष की वृद्धि के साधन, शत्रुओं से सुरक्षा की व्यवस्था, अपराधियों को कठोर दंड देना, प्रजा का पूर्ण संरक्षण, दीन-हीनों की रक्षा, श्रम और उद्योग का महत्त्व, सेना और कोष को अत्युत्तम बनाना, दुर्गों का निर्माण, काम क्रोध आदि दुर्गुणों का परित्याग, राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना, प्रजा के हित को प्राथमिकता देना, शत्रुनाशन, किसी पर भी अधिक विश्वास न करना, शत्रुओं और दुष्टों से सदा सावधान रहना आदि।

राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से महाभारत आकर-ग्रन्थ है। यद्यपि महाभारत के आदिपर्व, सभापर्व और उद्योगपर्व में भी राजनीतिशास्त्र से संबद्ध कुछ प्रसंग आए हैं, परन्तु शान्तिपर्व इस शास्त्र का अगाध कोष है। शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मपर्व के १३० अध्यायों में राजनीतिशास्त्र-विषयक सामग्री का बाहुल्य है। इसके कुछ विशिष्ट अध्याय और विषय ये हैं — राजदण्ड का महत्त्व (अध्याय १५), राजधर्म (अ० ५६), राजधर्म की श्रेष्ठता (अ० ६३ एवं ६४), राजा की आवश्यकता (अ० ६७ एवं ६८), राजा के कर्तव्य (अ० ७५) मंत्रियों की परीक्षा एवं उनके गुण (अ० ८०, ८१), राजा की व्यावहारिक नीति, मंत्रिमंडल का संगठन, दूत और सेनापति आदि के गुण (अ० ८५), राष्ट्ररक्षा (अ० ८७), करविधान और कोषवृद्धि (अ० ८८), राजा के कर्तव्य (अ० ८९,९०), सैन्य संचालन की विधि (अ० १००), गणतन्त्र राज्य और उसकी नीति (अ० १०७), राजा और राजकर्मचारियों के गुण (अ० ११५ एवं ११८), कर्मचारियों की नियुक्ति (अ० ११९), राजधर्म (अ० १२०), दंडनीति (अ० १२२), कूटनीति (अ० १४०), राजा और मंत्रियों के कर्तव्य तथा उनका उत्तरदायित्व (अ० ५५-५६, ७०-७१, १२०), कर-व्यवस्था (अ० ७१, ७६, १२०, १३०), स्वराष्ट्र-शासन (अ० ८०), परराष्ट्रनीति, संधि एवं विग्रह (अ० २०, ८६, १००-१०३, ११३), आदर्श-राज्य-व्यवस्था (सभापर्व अ० ५), कूटनीति (आदिपर्व अ० १४२), आपद्धर्म (सभापर्व अ० ३२, वनपर्व अ० २५)।

महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म पितामह ने कतिपय प्राचीन आचार्यों के श्लोक भी दिए

---

१४. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ५९, श्लोक २९ से ८५

हैं। इनमें कुछ ये हैं — उशनस् (५६.२८), बृहस्पति (५६.३८), प्राचेतस मनु (५७.४३), आचार्य भार्गव द्वारा रचित राजचरित (५७.४०) आदि।

महाभारत के पश्चात् आचार्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ उल्लेखनीय है कि कौटिल्य के तीन नाम प्रचलित हैं — कौटिल्य, चाणक्य और विष्णुगुप्त। वे चणक के पुत्र थे, अतः चाणक्य नाम पड़ा। कुटिल से कौटिल्य बना है। कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण कौटिल्य नाम पड़ा। वस्तुतः उनका पितृ-दत्त नाम विष्णुगुप्त था। आचार्य कामन्दक ने अपने नीतिसार में चाणक्य या कौटिल्य का असली नाम विष्णुगुप्त दिया है।

नीतिशास्त्रामृतं श्रीमान्, अर्थशास्त्रमहोदधेः ।
य उद्दधे नमस्तस्मै, विष्णुगुप्ताय वेधसे ।। काम० १-६

इससे यह भी ज्ञात होता है कि विष्णुगुप्त अर्थशास्त्र का रचयिता है और यह नीतिशास्त्र का ग्रन्थ है।

आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यें के मतों का उल्लेख किया है और उनकी आलोचना करके अपना मन्तव्य 'इति कौटिल्यः' करके दिया है। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं — (१) कौटिल्य से पहले नीतिशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ थे और अनेक आचार्यों ने राजनीतिशास्त्र पर गहन चिन्तन किया था। कौटिल्य के समय तक उनके मन्तव्य प्रचलित थे। (२) कौटिलीय अर्थशास्त्र की राजनीतिविषयक सर्वांगीण व्याख्या और प्रसिद्धि के कारण नीतिशास्त्र के अन्य ग्रन्थ लुप्त हो गए।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में जिन प्राचीन राजनीतिशास्त्र के आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें कुछ आचार्यों के नाम ये हैं — (कोष्ठ में पृष्ठ-संख्या का निर्देश है)[१५] मनु (मानव, पृ० १०, ५७, १२७), बृहस्पति (बार्हस्पत्य, १०, ५७, १२७), उशनस् (औशनस, शुक्राचार्य, १०, १२७), भारद्वाज (५३, ६४, ६९३), पराशर (५४, ६५, १२७, ६९६), पिशुन (नारद, ६५, ६९६), विशालाक्ष (शिव, ५४, ६४, ६९५), कात्यायन (५२४), वातव्याधि (६६, ६९९), कौणपदन्त (६५, ६९७), कणिंक (५२४), घोटमुख (५२४), चारायण (५२४), किंजल्क (५२५), पिशुन (नारद, ५२५), आम्भ (६७)। डॉ0 श्याम शास्त्री ने भी इनका उल्लेख किया है। जिनके मन्तव्यों पर अर्थशास्त्र में विचार किया गया है, वे हैं — विशालाक्ष, इन्द्र (बहुदन्त), बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज और गौरशिरस्।[१६]

---

१५. कौटिलीय अर्थशास्त्र, व्याख्याकार — वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण — १९७७ के अनुसार ।

१६. देखिये पृष्ठ ६, १७, २७ से २९, ३२-३३, ६३, १७७, १९२, २५३, २५५, ३२२, ३२८ से ३३०, ३७५, ३८२ (अर्थशास्त्र, डा० श्यामशास्त्री संपादित, द्वितीय संस्करण) ।

अर्थशास्त्र का उद्देश्य है — राजा को मार्गनिर्देश। साथ ही शासन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाना, युद्धकाल और शान्तिकाल में शासन-तन्त्र का स्वरूप और कार्यप्रणाली। अर्थशास्त्र ने इस उद्देश्य को पूर्ण किया है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में १५ अधिकरण और १७९ प्रकरण हैं। प्रथम अधिकरण में राजा के कर्तव्य, द्वितीय में राजकीय अधिकारियों के कर्तव्य और विभिन्न अध्यक्ष, तृतीय में विवाह, दायभाग, लेन-देन, शर्तनामा आदि, चतुर्थ में शिल्पी, व्यापारी एवं षड्यन्त्रकारियों से प्रजा की रक्षा, पंचम में कोष-संग्रह, राजद्रोहियों को दंड, षष्ठ में शान्ति और उद्योग, सप्तम में षाड्गुण्य, संधि, विग्रह आदि, अष्टम में विभिन्न व्यसन और उनका प्रतीकार, नवम में युद्ध, आक्रमण, विभिन्न विपत्तियाँ और उनके प्रतीकार, दशम में कूट-युद्ध, छावनी, चतुरंग सेना, व्यूह आदि, एकादश में शत्रुओं में फूट या भेद डालने वाले प्रयोग, द्वादश में दूतकर्म, मंत्रयुद्ध, कूटप्रयोग, त्रयोदश में छल और कपटवाले उपाय, शत्रुविजय, शान्तिव्यवस्था, चतुर्दश में शत्रुवध के प्रयोग, पञ्चदश में अर्थशास्त्र की तंत्रयुक्तियाँ और चाणक्यसूत्र।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के लेखक और समय के विषय में पर्याप्त विवाद है। परन्तु आन्तरिक परीक्षा से ज्ञात होता है कि यह अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री विष्णुगुप्त (कौटिल्य) की ही कृति है। अतः इसका समय भी लगभग ३०० ई० पू० है। कौटिलीय अर्थशास्त्र ग्रन्थ की समाप्ति में दो श्लोक लेखक ने दिए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उसके प्रयत्न से नन्द राजा को हराया गया, उसने यह अर्थशास्त्र लिखा और उसका वास्तविक नाम 'विष्णुगुप्त' था।

येन शास्त्रं च शस्त्रं च, नन्दराजगता च भूः ।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु, तेन शास्त्रमिदं कृतम् ।।
दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं, बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम् ।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च ।।

कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० ९४५

इसके पश्चात् कुछ स्मृतिग्रन्थ आते हैं। इनका समय २०० ई० पू० से २०० ई० तक माना जाता है। इनमें मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और विष्णु स्मृति मुख्य हैं। इनमें राजा के कर्तव्य, राजकर्मचारियों के कार्य, न्याय और दंड-व्यवस्था, परराष्ट्रों से संबन्ध आदि विषयों का वर्णन किया गया है। इनमें इन विषयों का गंभीर और विशद विवेचन नहीं है। ये ग्रन्थ अर्थशास्त्र या नीतिशास्त्र न होकर धर्मशास्त्र के रूप में लिखे गए हैं, अतः इनमें वर्ण और आश्रम-व्यवस्था, भक्ष्य-अभक्ष्य, विवाह आदि संस्कार, दायभाग, स्त्रीधन, चतुर्वर्ण के कर्तव्य, प्रायश्चित्त, दान, तप आदि का भी विस्तृत विवेचन है।

स्मृतिग्रन्थों के पश्चात् नीतिशास्त्र-विषयक दो ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये हैं — कामन्दकीय नीतिसार और शुक्रनीति या शुक्रनीतिसार।

कामन्दकीय नीतिसार आचार्य कामन्दक की रचना है। इसमें २० सर्ग और ३६ प्रकरण हैं। अधिकांश ग्रन्थ अनुष्टुप् (श्लोक) छन्द में लिखा गया है। इसका समय ५०० ई० के लगभग माना जाता है। इसमें अधिकांश प्रसंग कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार हैं। राजतंत्र का ही मुख्यतया वर्णन है। शासन–व्यवस्था, वर्णव्यवस्था, दीवानी और फौजदारी के कानून आदि विषयों का उल्लेख नहीं है। इसके २० सर्गों में मुख्य विषय ये लिए गए हैं —

सर्ग १. इन्द्रियजय, २. त्रयी, वार्ता, दण्डनीति, ३. राजा के कर्तव्य, ४. राज्य के ७ अंग, राजा, अमात्य आदि, ५. राजकर्मचारियों के कर्तव्य आदि, ६. कण्टकशोधन, दंडविधान, ७. राजा आदि की सुरक्षा, ८. मंडलशोधन, शत्रु-मित्र-विचार, ९. संधि-विचार, १०. विग्रह-विचार, ११. यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय का विचार, १२. मंत्र, मंत्रणा, १३. दूत, गुप्तचर, १४. उत्साह, उद्योग, १५. द्यूत आदि व्यसन और उनके कुप्रभाव, १६. विजययात्रा, १७. छावनी बनाना, १८. साम, दान, दंड, भेद, इन चार उपायों का वर्णन, १९. सेना, युद्ध, कूटयुद्ध, २०. सेना के अंग–रथ, अश्व, पैदल सेना आदि का वर्णन और व्यूहरचना।

राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए शुक्रनीति अत्यन्त उपादेय है। इसमें शासन–व्यवस्था का बहुत सुन्दर ढंग से सांगोपांग विवेचन है। अन्य ग्रन्थों के तुल्य इसमें भी राजतंत्र का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं है। मूलग्रन्थ की रचना के विषय में पर्याप्त मतभेद है। प्रो० गुस्ताव ओपर्ट (Prof. Gustav Oppert) ने इसका सबसे प्रामाणिक संस्करण निकाला था। उनका मत है कि यह ग्रन्थ ईसापूर्व की रचना है। प्रो० अलतेकर आदि इसका समय ८०० ई० से १२०० ई० के मध्य मानते हैं। शुक्रनीति में तोप, बारूद आदि का उल्लेख होने से कुछ विद्वान् इसे १४ वीं शताब्दी तक ले आते हैं। परन्तु नेपोलियन बोनापार्ट ने अपने ग्रन्थ '**Aid Memory to Military Sciences**' में लिखा है कि — 'Gun-powder was known to India and China and was used for the purpose of war many centuries before Christian Era'. अर्थात् बारूद बनाना और उसका युद्ध में उपयोग भारतीय और चीनी लोगों को ईसवीय सन् से कई शताब्दी पूर्व ज्ञात था।

इससे ज्ञात होता है कि बारूद, तोप आदि के उल्लेख के कारण इसका समय ८०० ई० के बाद नहीं रखा जा सकता है। इसमें इस्लाम धर्म और यवनों (यावनाः, वेदभिन्नप्रमाणास्ते०, अ० ४.४.३५) का उल्लेख है, अतः ७ वीं शताब्दी ई० से पूर्व इसका समय नहीं रखा जा सकता है।

शुक्रनीति में कुछ ऐसी बातों का उल्लेख भी है, जिनका अन्य नीतिशास्त्र के ग्रन्थों में वर्णन नहीं है। जैसे —

(१) राजा बहुमत के अनुसार अपना निर्णय दे। (कुर्याद् बहुसंमतम्, अ० १-३६६)।

(२) कर्मचारियों की नियुक्ति और पदोन्नति उनकी योग्यता और काम के आधार पर करे, जाति या कुल के आधार पर नहीं। श्रेष्ठता कर्म से होती है, जाति या कुल से नहीं (कर्मशीलगुणाः पूज्यास्तथा जातिकुले नहि। न जात्या न कुलेनैव, श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते।। न जातिर्न कुलं चैव, केवलं लक्षयेत् क्वचित्। अ० २.५४-५५)।

(३) जनता पर हलका कर लगावे, उन्हें हानि न पहुँचावे, जैसे माली फूल चुनता है और वृक्ष को हानि नहीं पहुँचाता। (मालाकार इव ग्राह्यो भागो नाङ्गारकारवत्, अ० ४.२.१११)

(४) सामान्य जनता के मुकदमों का पंचायत द्वारा निर्णय किया जाय, क्योंकि प्रत्येक जाति के अलग-अलग रीति-रिवाज होते हैं। (कीनाशाः कारुकाः... कुर्युः स्वेन धर्मेण निर्णयम्। अशक्यो निर्णयो ह्यन्यैः, तज्जैरेव तु कारयेत्। अ० ४.५.१८-१९)

(५) प्रधान मंत्री सभी विभागों पर अपना नियंत्रण रखे और सभी विभागों की जानकारी रखे। (सर्वदर्शी प्रधानस्तु, अ० २.८३)

(६) राजा दस हजार कोस या मीलतक की सारी सूचनाएँ प्रतिदिन प्राप्त करे। (अयुतक्रोशजां वार्तां, हरेद् एकदिनेन वै। अ० १.३६८) इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय दूर-संचार-प्रणाली की कोई विधि प्रचलित थी।

(७) सेना के छोटे अंग से लेकर बड़े अंग तक के नामों का निर्देश। पत्तिपाल, गौल्मिक, शतानीक आदि नाम और उनका विवरण। (अ० २.१३७-१३८)।

(८) प्रधानमंत्री, मंत्री, सचिव, अमात्य, पुरोहित आदि के वेतन का स्पष्ट निर्देश। इनकी राज्य में उच्चता की दृष्टि से क्या स्थिति है, इसका स्पष्टीकरण। (अ० १.७० से ७३)।

(९) राजकर्मचारियों का वेतन, वेतनवृद्धि, छुट्टी, पेन्शन, बोनस, प्रोविडेन्ट फंड आदि का विवरण। (अ० २.३७५ से ३९७)।

(१०) सोना, चाँदी, ताँबा आदि के मूल्य का अनुपात। सोने का मूल्य चाँदी से १६ गुना, चाँदी का मूल्य ताँबे से प्रायः ८० गुना। इसी प्रकार रांगा, शीशा आदि का मूल्य-निर्धारण। (अ० ४.२, ९० से ९२)।

(११) चुंगी वस्तु के मूल्य का १/३२वाँ भाग ले। (अ० ४.२, १०८)। व्यापारी से लाभ का १/३२वाँ भाग टैक्स ले। (अ० ४.२, १२७)। मालगुजारी आदि लेने पर किसान को रसीद दे। (अ० ४.२. १२३)

(१२) राजा पर्यावरण की रक्षा के लिए गांव में गांव वाले वृक्ष और जंगलों में जंगल के वृक्ष लगावे। (अ० ४.४. ४४-४५)।

(१३) दिन में शराब की दूकानें बन्द रखी जाएँ। ये दूकानें गांव आदि से बाहर हों। दिन में कोई शराब न पीने पावे। (न दिवा मद्यपानं तु, राष्ट्रे कुर्याद् हि कश्चन। (अ०४.४.४३)।

(१४) मुकदमें में जो भी बयान वादी-प्रतिवादी दें, उसपर उनके हस्ताक्षर या अंगूठे का निशान लगवावे और राजा उस पर सरकारी मुहर लगावे। (वादिनश्चिह्नितं साक्ष्यं, कृत्वा राजा विमुद्रयेत्, (अ०४.५.८७)।

(१५) भूस्वामित्व के विषय में निर्देश है कि यदि कोई २० वर्ष तक किसी भूमि पर कब्जा किए हुए है और भूस्वामी ने कोई आपत्ति न की हो तो २० वर्ष बाद उस भूमि पर उसी व्यक्ति का अधिकार हो जाएगा। (वर्षाणि विंशतिर्यस्य भूर्भुक्ता तु परैरिह०, (अ०४.५.२११)। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के लिए कहा है कि यदि १० वर्ष तक आपत्ति न की गई हो तो वह वस्तु उपभोक्ता की हो जाएगी। (अ०४.५.२१०)।

(१६) वर्ष में एक लाख रुपये तक की आय वाले राजा के लिए व्यय का विवरण दिया गया है कि वह इतनी-इतनी राशि अमुक मध्ये व्यय करे। ८ हजार रुपये प्रतिमास के व्यय में से घर-खर्च १५०० रु०, क्लर्क आदि १०० रु०, मंत्री आदि ३०० रु०, स्त्री-पुरुषादि ३०० रु०, स्वागत-सत्कार २०० रु०, घुड़सवार एवं पैदल सैनिक ४ हजार रु०, द्वारपाल आदि ४०० रु०। इस प्रकार ६,८०० रु० प्रतिमास व्यय करे। वर्ष में एक बार सैनिकों को वर्दी बनवाने के लिए १५०० रु० दे। शेष रुपया कोष में सुरक्षित रखे। (अ०४.७.२५ से २७)। इसी प्रकार एक लाख रुपये वार्षिक आय वाला राजा इतनी सेना अपने पास रखे :— पैदल सिपाही १००, बन्दूकधारी, सिपाही ३००, रथ १, घोड़े ८०, तोप २, ऊँट १०, हाथी २, क्लर्क ६, मंत्री ३। (अ०४.७.२२ से २४)।

(१७) बारूद बनाने का नुस्खा, लघुनालिक (बन्दूक) और बृहत् नालिक (तोप) बनाने की विधि, तोप का गोला बनाने की विधि और तोप से गोला छोड़ने की विधि का विस्तृत वर्णन दिया गया है। (अ०४.७.१८१ से १९९)।

(१८) राजा के दैनिक कार्यों का निर्देश। २४ घंटों का समयविभाजन। राजा प्रतिदिन आय-व्यय और कोषागार की जाँच करे। नियमित व्यायाम करे। स्त्री और सुरा के चक्कर में न फँसे। (अ०१.२७५ से २८६)।

(१९) दूध, अन्न, आटा आदि में मिलावट पर दंड दे। तोल आदि में बेईमानी पर दंड दे। कोई राजकर्मचारी घूस न ले। (उत्कोचग्रहणं नैव०, अ०१.२९३ से २९७)।

(२०) सड़कें बड़ी और चौड़ी हों। नगरों में राजमार्ग तीस हाथ (४५ फीट) चौड़ा हो, अन्यत्र ३० या २० फीट चौड़ी सड़कें हों। शौचालय, मूत्रालयों की व्यवस्था हो। स्थान-स्थान पर धर्मशालाओं की व्यवस्था हो। (अ०१.२६० से २७०)।

(२१) अधिकार का मद प्रबल होता है, अतः किसी अधिकारी को एक स्थान पर अधिक समय तक न रहने दे। कार्य के आधार पर पदोन्नति की जाय। (नाधिकारं चिरं दद्यात्०, अधिकारमदं पीत्वा को न मुह्येत् पुनश्चिरम्। (अ०२.१०९–११०)।

(२२) धूर्तता से ही राजनीति चलती है। धूर्तता से ही बड़ा सेठ होता है। माया (धूर्तता, छल–कपट) से ही स्वार्थ सिद्ध किया जाता है। (विना मायां महाद्रव्यं द्राङ् न संपाद्यते जनैः। मायया तु विना तद् हि, न साध्यं स्याद् यथेप्सितम् । (अ०५–२९)।

शुक्रनीति में राजा, उसके मंत्रियों तथा राजकर्मचारियों के कार्यों का विस्तृत वर्णन किया गया है। न्याय और दंड-व्यवस्था का भी पूरा विवरण दिया गया है। राज्य की उत्पत्ति, राजा के कर्तव्य, उत्तराधिकार के नियम, साम दान दंड भेद इन चार उपायों का वर्णन, राज्य के सात अंग–राजा, मंत्री, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना का वर्णन, मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या और कार्यविभाजन आदि का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। समाजशास्त्र से संबद्ध कतिपय प्रश्नों पर विशद विवेचन हुआ है। चार प्रकार के न्यायालयों का पूरा वर्णन है। शुक्राचार्य का कथन है कि शासन-पद्धति का उद्देश्य समाज की सर्वांगीण उन्नति करना और प्रजा की रक्षा करना है, केवल दंडविधान ही नहीं। राज्य का कर्तव्य है — शिक्षा को प्रोत्साहन देना, व्यापार की वृद्धि, उद्योग-धन्धों की सुव्यवस्था करके देश की आर्थिक स्थिति को उन्नत करना। प्रजा के हितार्थ चिकित्सालय, धर्मशाला, कूप आदि का निर्माण और उनकी सुव्यवस्था करना।

शुक्रनीति के पश्चात् उल्लेखनीय ग्रन्थों में चण्डेश्वर (१३२५ ई०) कृत 'राजनीतिरत्नाकर' है। डॉ० जायसवाल ने इसका संपादन किया है। इसमें अनेक आचार्यों और ग्रन्थों के मत प्रमाणरूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इनके नाम ये हैं — (१) व्यासकृत 'अर्थप्रदीप'। यह अप्राप्य है। (२) 'कामन्दकीय नीतिसार' का उल्लेख 'अर्थशास्त्र' नाम से है। (३) कात्यायन। इनका कोई ग्रन्थ प्राप्य नहीं है। (४) कुल्लूक भट्ट। इनकी मनुस्मृति की टीका उपलब्ध है। (५) नारद। इनकी नारद स्मृति है। (६) मनु। इनकी मनुस्मृति है। (७) शुक्रनीति। यह शुक्रनीतिसार है।

श्री मित्रमिश्र-रचित 'वीरमित्रोदयराजनीति' ग्रन्थ में भी प्राचीन आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं। इनमें प्रमुख हैं —विज्ञानेश्वर, बृहत्पाराशर, अपरार्क, गौतम, बृहस्पति, नारद, अंगिरा (अंगिरस्) और कात्यायन। इसमें जो उद्धरण दिए गए हैं, वे प्रायः स्मृतिग्रन्थों और पुराणों से हैं।

इनके अतिरिक्त विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं — जैन विद्वान् सोमदेव सूरि (दशम शताब्दी ई०) का 'नीतिवाक्यामृत'। यह ग्रन्थ राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने इसकी एक टीका भी संपादित की है, जो अज्ञात लेखक की है।

इसकी पांडुलिपि में टीका के लेखन का समय कार्तिक सुदी ४, विक्रम सं० १५४१ (अर्थात् १४८४ ई०) दिया गया है।[१७] नीतिवाक्यामृत और इसकी टीका दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ में जिन आधार ग्रन्थों से सन्दर्भ लिए गए हैं, उनका नाम-निर्देश है। सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक-चम्पूनामक एक महाकाव्य भी लिखा है। दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि सोमदेव सूरि कौटिलीय अर्थशास्त्र और कामन्दकीय नीतिसार से परिचित तो था ही, इनके अतिरिक्त वह गुरु (बृहस्पति), शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म और भारद्वाज आदि प्राचीन राजशास्त्र-प्रणेताओं के ग्रन्थों से भी परिचित था। टीकाकार ने भी चारायण, पारस्कर, भारद्वाज, मनु, बृहस्पति और शुक्र के ग्रन्थों से सन्दर्भ दिए हैं। इनमें गुरु का अभिप्राय संभवतः बृहस्पति से है। महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म द्वारा उपदिष्ट सन्दर्भों के लिए संभवतः भीष्म का नाम है। नीतिवाक्यामृत में जिन प्राचीन नीतिग्रन्थों के उद्धरण दिए गए हैं, उनकी संख्या ५० से अधिक है। टीकाकार ने आचार्य वर्ग, भागुरि और भारद्वाज के ग्रन्थों से बहुत उद्धरण दिए हैं। ये उद्धरण सूत्ररूप में न होकर पद्य में हैं।

टीकाकार ने इनके अतिरिक्त १० और राजशास्त्र-प्रणेताओं के नाम दिए हैं। ये हैं — १. भृगु, २. राजपुत्र, ३. रैभ्य, ४. जैमिनि, ५. नारद, ६. गौतम, ७. गर्ग, ८. कौशिक, ९. ऋषिपुत्र, १०. हारीत।[१८]

डॉ० जायसवाल ने उक्त विवरणों आदि के आधार पर अपना मन्तव्य प्रकट किया है कि प्राचीन काल में अर्थशास्त्र (Political Science) विषयक ग्रन्थों की संख्या निश्चित रूप से ३० के लगभग रही होगी।[१९]

डॉ० अलतेकर ने इनके अतिरिक्त कुछ अन्य राजशास्त्र–विषयक ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[२०] ये ग्रन्थ १००० ई० के बाद के हैं। इनमें मौलिकता का अभाव है। ये संकलनात्मक ग्रन्थ हैं। इनमें धर्म के विविध अंगों का वर्णन है। राजनीति पर भी कुछ अध्याय दिए गए हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय ये हैं — (१) भोज (१०२५ ई०) का युक्तिकल्पतरु, (२) सोमेश्वर (११२५ ई०) का अभिलषितार्थचिन्तामणि, (३) लक्ष्मीधर (११२५ ई०) का राजनीतिकल्पतरु, (४) देवणभट्ट (१३०० ई०) का राजनीतिकांड, (५) विजयनगराधिपति कृष्णदेव राय (१५२५ ई०) का आमुक्तमाल्यद, (६) नीलकंठ (१६२५ ई०) का नीतिमयूख। इन ग्रन्थों में अमात्य, दुर्ग, कोष, परराष्ट्र और रणनीति का भी वर्णन है।

---

१७. विस्तृत विवरण के लिए देखिये — Hindu Polity. पृष्ठ ७ से ११

१८. Hindu Polity. पृष्ठ ११

१९. वही, पृष्ठ ९

२०. डॉ० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, पृष्ठ १४-१५

चालुक्य नृपति सोमेश्वर (११२५-११३८ ई०) के 'मानसोल्लास' ग्रन्थ में राजशास्त्र का वर्णन है। १०० अध्यायों में से केवल ४० अध्यायों में ही राज्य- प्राप्ति और राज्य-वृद्धि का विवेचन है। इसमें सैन्य-संगठन के वर्णन में हाथियों और घोड़ों की बीमारियों और दवाओं का विस्तृत वर्णन है (२. ५२९ से ६०४)। शासन-विषयक समस्याओं की चर्चा में सोमेश्वर ने राजा के गुण, मन्त्रियों की योग्यता, कोशाधिपति के कर्तव्य आदि का विचार किया है। विदेशीय नीति की भी चर्चा की गई है। सेना के शस्त्रास्त्रों का वर्णन भी विस्तार से दिया है।

धर्मसूत्रों और स्मृतिग्रन्थों में भी राजधर्म का काफी विवेचन हुआ है। पुराणों में कुछ अध्यायों में राजशास्त्र की चर्चा है। काव्य, नाटक और इतिहास के ग्रन्थों में प्रतिज्ञायौगन्धरायण, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, पंचतंत्र, हितोपदेश, कादम्बरी, हर्षचरित, दशकुमारचरित और राजतरंगिणी आदि ग्रन्थों में कुछ शासन-विषयक सामग्री मिलती है।

जैनों के आचारांग सूत्र और बौद्धों के दीर्घनिकाय, चुल्लवग्ग जातक, दिव्यावदान आदि ग्रन्थों कुछ उपयोगी सामग्री मिलती है। इनमें गणतन्त्रों के बारे में काफी उपयोगी सामग्री है। कुछ शिलालेख और ताम्रपत्र भी राजशास्त्र पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।[२१]



२१. वही, पृष्ठ १६-१७।

अध्याय २

वेदों में समाज के तत्त्व

१. वैदिक समाज का स्वरूप

२. समाज के संघटक गुण

३. आदर्श समाज का लक्ष्य

४. गुणों के अनुसार कार्य का निर्धारण

५. वैदिक वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-प्रधान

६. समाज का निर्माण और आवयविक सिद्धान्त

अध्याय २

वेदों में समाज के तत्त्व

१. वैदिक समाज का स्वरूप

वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक विचारधारा के अनुसार समाज मनुष्यकृत न होकर दैवी संस्था है। यह समाज भौगोलिक बन्धनों से मुक्त है। यह किसी देश या कालविशेष से संबद्ध नहीं है। इसका संबन्ध मानवमात्र से है। मानव - सृष्टि के साथ ही समाज की सृष्टि हुई। मानव की समस्त जीवनलीला समाज में ही प्रारम्भ होती है और उसका अन्त भी समाज में ही होता है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड ही विराट् पुरुष या एक महामानव है।[१] इस विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सूर्य उसका नेत्र है, चन्द्रमा उसका मन है, अग्नि उसका मुख है, वायु उसका प्राण है, अन्तरिक्ष उसकी नाभि है, द्युलोक उसका सिर है, पृथ्वी उसका पैर है, दिशाएँ उसके कान हैं।[२] उसी विराट् पुरुष से समाज का भी निर्माण हुआ है।

ऋग्, यजुः और अथर्व वेदों के मंत्रों से ज्ञात होता है कि पूरे समाज को चार मुख्य श्रेणियों में बांटा गया है। इन चार श्रेणियों को ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र नाम दिये गये हैं। विराट् पुरुष से इनकी उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण उसका मुख है, राजन्य (क्षत्रिय) उसकी भुजाएँ हैं, वैश्य उसकी जंघा (या मध्यभाग) है और शूद्र उसके पैर हैं।[३] इन चारों वर्णों को चतुर्वर्ण या चातुर्वर्ण्य कहा जाता है। यह चातुर्वर्ण्य भारतीय

---

१. ऋग्वेद १०.९०। यजु० अध्याय ३१। अथर्व० १९.६

२. (क) चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च, प्राणाद् वायुरजायत ।।
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं, शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्०। ऋग् १०.९०, १३-१४

(ख) यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्०।
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अथर्व० १०.७.३२ से ३४

३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।
ऋग्० १०.९०.१२। यजु० ३१.११। अथर्व० १९.६.६

समाज का आधार है। इसी 'चातुर्वर्ण्य व्यवस्था' के आधार पर भारतीय समाज का संगठन और विकास हुआ है। इस दृष्टि से समाज एक शाश्वत संस्था है।

२. समाज के संघटक गुण

समाज का निर्माण किन गुणों के आधार पर होता है, इस विषय पर विचार करते हुए वेदों में कहा गया है कि समाज के निर्माण के लिए कुछ विशिष्ट गुण चाहिएं। ये गुण हैं — ज्ञान (बुद्धिबल), रक्षणशक्ति, प्रजा-पालन या भरण-पोषण की सामर्थ्य, श्रमशक्ति और मौलिक एकता। समाज में ब्राह्मण ज्ञान या बुद्धि का प्रतीक है, राजन्य (क्षत्रिय) रक्षणशक्ति है, वैश्य प्रजा-पालन या उसके भरण-पोषण की सामर्थ्य है, शूद्र श्रमशक्ति है। इसको ही यजुर्वेद ने इस प्रकार रखा है। ब्रह्म (ज्ञान, विद्या, बुद्धि) के लिए ब्राह्मण है, रक्षण के लिए राजन्य (क्षत्रिय) है, प्रजा के भरण-पोषण के लिए वैश्य है और तप (श्रमशक्ति) के लिए शूद्र है।[४] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों एक विराट् पुरुष के अंग हैं, अतः इनकी मौलिक एकता है। प्रत्येक अंग के पृथक्-पृथक् कार्य के अनुरूप प्रत्येक वर्ण के पृथक् कार्य निर्धारित किये गये हैं। इस प्रकार वेदों के अनुसार आदर्श समाज वह है, जिसमें कार्य-विभाजन की योजना के अनुसार समाज का संगठन होता है। कार्य-विभाजन की प्रणाली होने पर भी उसमें मौलिक एकता अवश्य होनी चाहिए।

वेदों के अनुसार वैदिक समाज में उपर्युक्त पाँच गुण विद्यमान होते थे। यदि ये पाँचों गुण अविकृत रूप में विद्यमान रहते हैं तो वह आदर्श समाज कहा जाता है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो (Plato) ने आदर्श नगर-राज्य (City state) के लिए प्रायः इन्हीं गुणों का उल्लेख किया है। उसका कथन है कि — जब राज्य की जनता में इन गुणों के आधार पर कार्य-विभाजन होता है, तब आदर्श राज्य की स्थापना होती है। ऐसे राज्य में सभी वर्गों, सभी व्यक्तियों तथा सभी संस्थाओं का समान रूप से कल्याण होता है और सर्वोदय होता है।

३. आदर्श समाज का लक्ष्य

आदर्श समाज का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है — समाज के सदस्यों का एक लक्ष्य होना। यजुर्वेद में एक मन्त्र है, जिसमें इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि — 'लोकं पृण, छिद्रं पृण' अर्थात् लोक-कल्याण को सर्वप्रथम रखो और जनहित में बाधक जो तत्त्व या छिद्र हैं, उनको दूर करो।[५] इससे ज्ञात होता है कि लोक-हित समाज का मुख्य लक्ष्य

---

४. ब्रह्मणे ब्राह्मणम्, क्षत्राय राजन्यम्, मरुद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्रम्। यजु० ३०.५

५. लोकं पृण, छिद्रं पृण। यजु० १५.५९

है। महाभारत में भी क्षात्रधर्म की व्याख्या में निर्देश दिया गया है कि आदर्श समाज का लक्ष्य होना चाहिए — १. सुखभूयिष्ठम् - सुख और शान्ति का पूर्ण अस्तित्व, २. अच्छलम् - छल-कपट का अभाव, ३. सर्वलोकहितम् - सारे समाज का हित और कल्याण।[६] शुक्रनीति ने समाज के लक्ष्य की ओर संकेत किया है कि समाज का उद्देश्य है — पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति। पुरुषार्थचतुष्टय में चार तत्त्व हैं — धर्म (कर्तव्यपालन), अर्थ (धन और वैभव की उपलब्धि), काम (सभी कामनाओं की तृप्ति) और मोक्ष (निर्वाण की प्राप्ति)। शुक्रनीति का यह भी कथन है कि राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य है — सभी लोगों का हित करना और समाज की स्थिति को सुरक्षित करना।[७] इससे ज्ञात होता है कि समाज का प्रमुख लक्ष्य है — पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति। इसकी प्राप्ति के लिए समाज में शान्ति की व्यवस्था, सुख-सुविधाओं की प्रचुरता तथा विघ्नों का शमन करना समाज का काम है।

४. गुणों के अनुसार कार्य का निर्धारण

वेदों में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि, स्वभाव और कार्यक्षमता पृथक् होती है। यदि व्यक्ति अपनी रुचि का कार्य करता है तो उसमें उसे शीघ्र दक्षता प्राप्त होती है, अन्य कार्यों में नहीं।

इसी दृष्टि से वेदों में वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख है। यह वर्णव्यवस्था वृत्तिमूलक है, जातिमूलक नहीं। ब्राह्मण को मुख कहने का अभिप्राय है कि वह मुख का कार्य करता है। ये कार्य हैं — ज्ञान-प्रसार, भाषण, प्रवचन, धार्मिक क्रियाकलाप, शास्त्रार्थ आदि। इसी प्रकार क्षत्रिय या राजन्य को बाहु कहने का अभिप्राय है — शौर्य कार्य, रक्षण कार्य और शस्त्र-अस्त्र से संबद्ध क्रियाकलाप। वैश्य को मध्यभाग या उदर कहने का अभिप्राय है — उदर के तुल्य धन-संग्रह करना और उसका यथास्थान समुचित उपयोग। इसमें व्यापार और वाणिज्य से संबद्ध सभी विषयों का समावेश हो जाता है। वैश्य ही समाज की अर्थ-व्यवस्था का संचालक और नियन्त्रक है। शूद्र को पैर कहने का अभिप्राय है — जिस प्रकार पैर गमन-आगमन का साधन है, शरीर का भार ढोते हुए उसे क्रियाशील बनाता है, उसी प्रकार श्रम से संबद्ध सभी कार्यों को करके समाज को गतिशील क्रियाशील और विकासशील बनाना।[८]

---

६. प्रत्यक्षं सुखभूयिष्ठम्, आत्मसाक्षिकमच्छलम् ।
सर्वलोकहितं धर्मं, क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ।। शान्ति० ६४.५

७. सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृद् नीतिशास्त्रकम् ।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ।। शुक्र० १.५

८. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्०। ऋग्० १०.९०.१२

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है — ब्रह्मणे ब्राह्मणम्, क्षत्राय राजन्यम्, महद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्रम्।[९]

इसका अभिप्राय है कि — ब्रह्म या ज्ञान से संबद्ध सभी कार्यों के लिए ब्राह्मण वर्ण है। क्षत्र या रक्षण कार्य के लिए क्षत्रिय है। मरुत् देव वृष्टि देवता हैं। ये जलसंचय करते हैं और यथास्थान जल की वर्षा करते हैं। इसी प्रकार वैश्य वर्ण का कार्य है — धन का संग्रह करना और समाज की आवश्यकता के अनुसार उसका यथास्थान व्यय करना। शूद्र के लिए तपस् कार्य कहा है। तपस् से अभिप्राय है - तप या श्रम से संबद्ध सभी कार्य। उद्योग और विकास से संबद्ध सभी कार्यों के लिए तप और श्रम चाहिए। कठोर परिश्रम से ही उद्योग और विकास के सभी कार्य सफल होते हैं। इस प्रकार जहाँ ब्रह्मशक्ति, क्षत्रशक्ति और मरुत्-शक्ति समाज के लिए अनिवार्य हैं, उसी प्रकार श्रमशक्ति के बिना कोई भी समाज न प्रगति कर सकता है और न विकास। इसलिए तीनों वर्णों के तुल्य शूद्र वर्ण भी समाज का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है।

यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में रुचिभेद से सैकड़ों वृत्तियों का उल्लेख है। इसमें कला-संबन्धी कार्य, ज्ञान आदि से संबद्ध कार्य, पशुपालन, विविध उद्योग-धन्धों और सभा आदि से संबद्ध उद्योगों का भी उल्लेख है।[१०]

यह समाज का मनौवैज्ञानिक अध्ययन है। रुचिभेद से वृत्तिभेद हो जाता है। शान्त प्रकृति के व्यक्ति को ज्ञान, विज्ञान, ध्यान, योग, धार्मिक-क्रियाकलाप पसन्द आते हैं तो उग्र प्रकृति के व्यक्ति को शस्त्र-अस्त्र, सैन्य-क्रियाकलाप रुचिकर होते हैं। धन-वैभव के इच्छुक व्यक्ति को व्यापार और वाणिज्य के कार्य रुचिकर होते हैं। इसी प्रकार शारीरिक शक्ति वाले, किन्तु मन्द बुद्धि, व्यक्ति को श्रमसाध्य कार्य और उद्योग रुचिकर होते हैं। वेदों में गुण, स्वभाव और कार्यक्षमता को आधार मानते हुए जो वृत्तियों का उल्लेख है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य के आर्थिक जीवन के लिए इन गुणों का उल्लेख वेदों की महत्त्वपूर्ण देन है। व्यवसाय-संबन्धी ये बातें सिद्धान्त रूप में दी गई हैं। समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार इनके स्वरूप में आवश्यकतानुसार परिवर्तन, संशोधन और परिवर्धन किया जा सकता है।

---

९. यजु० ३०.५

१०. नृत्ताय सूतम्, गीताय शैलूषम्, धर्माय सभाचरम्, मेधायै रथकारम्, धैर्याय तक्षाणम्, वनाय वनपम्, महसे वीणावादम्, आस्कन्दाय सभास्थाणुम्, भूत्यै जागरणम्, पुष्ट्यै गोपालम्। यजु० ३०.५ से २१

५. वैदिक वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-प्रधान

वेदों में जो वर्ण-व्यवस्था दी गई है, वह शुद्धरूप से गुणों और कर्मों पर आश्रित है। वेदों में वर्ण वृत्तिपरक है, जातिपरक नहीं। अतः ब्राह्मण आदि वर्णों का संबन्ध जन्म से सर्वथा नहीं है। जिसकी जो वृत्ति होगी, वही उसका वर्ण होगा। अतः वर्ण-व्यवस्था समाज का अभिन्न अंग है।

मनु, महाभारत, गीता आदि में इस बात का स्पष्ट निर्देश है कि वर्णों की व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर की गई है। गीता में श्रीकृष्ण का कथन है कि गुण और कर्मों के आधार पर ही मैंने चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है।[११] दूसरे स्थान पर कहा गया है कि स्वाभाविक गुणों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है।[१२]

महाभारत में इस विषय का बहुत विस्तार से विवेचन हुआ है। भीष्म पितामह का कथन है कि ब्राह्मण के ये गुण हैं — संयम, आचारशुद्धि, सरलता, सदाचार, दयालुता, सहनशीलता, निष्काम भाव, मृदुता, अक्रूरता और क्षमाशीलता। जो इन गुणों से युक्त होता है, वही ब्राह्मण कहलाने के योग्य है। यदि वह पापकर्म करता है तो उसे ब्राह्मण नहीं समझना चाहिये।[१३] महाभारत ने कुछ दुर्गुणों का उल्लेख किया है कि इन दुर्गुणों से युक्त ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। ये दुर्गुण हैं — दुश्चरित्रता, धर्महीनता, चुगली करना, कुकर्मरत होना, मर्यादा का त्याग, अपवित्रता, क्रूरता, हिंसा, धर्म और सदाचार का त्याग।[१४]

मनु ने भी ब्राह्मणों को अत्यन्त संमाननीय माना है, परन्तु निर्देश दिया है कि यदि वे ब्राह्मण के कर्म नहीं करते हैं तो उन्हें शूद्र समझा जाना चाहिए। मनु का कथन है कि —

---

११. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। गीता ४.१३

१२. ब्राह्मणक्षत्रियविशां, शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि, स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। गीता १८.४१

१३. तस्माद् धर्मो विहितो ब्राह्मणस्य
दमः शौचमार्जवं चापि राजन् ।....
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्,
स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ।। शान्ति० ६३.७ और ८

१४. शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मबन्धुः,
दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेतः।....
निर्मर्यादे चाशुचौ क्रूरवृत्तौ
हिंसात्मके त्यक्तधर्मस्ववृत्ते।। शान्ति० ६३.४ से ६

जो ब्राह्मण वेदों को न पढ़कर अन्य शास्त्रों का अध्ययन करता है, वह सपरिवार शूद्र हो जाता है।[१५] इसी प्रकार दूसरे स्थान पर कहा है कि — जो ब्राह्मण प्रातः और सायं संध्या-उपासना कर्म नहीं करता है, उसे शूद्र समझना चाहिए और उसका बिरादरी से बहिष्कार किया जाना चाहिये।[१६]

इससे स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण और कर्म हैं। समाज की सुचारु व्यवस्था के लिए वृत्तियों का विभाजन किया गया है। जो जिस वृत्ति को करता है, उसका उसी प्रकार समाज में आदर और संमान होता है।

६. समाज का निर्माण और आवयविक सिद्धान्त

आवयविक सिद्धान्त अवयव (अंग) और अवयवी (अंगी) को आधार मानकर चला है। अवयवी (अंगी) एक होता है और उसके अवयव (अंग) अनेक होते हैं। जिस प्रकार एक वृक्ष की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं, उसी प्रकार मूलभूत एक तत्त्व के अनेक अंग या अवयव हो जाते हैं।

इस दृष्टि से वेदों में 'आवयविक सिद्धान्त' का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के पुरुष सूक्त में विराट् ब्रह्म या महामानव की कल्पना की गई है। उसी विराट् के अंग-प्रत्यंगों से यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रकट हुआ है। उस विराट् पुरुष को अतएव काल्पनिक रूप में हजारों हाथ, पैर, आँख, नाक, कान और सिरवाला कहा गया है।[१७] उससे न केवल द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी ही उत्पन्न हुए, अपितु सारा चराचर जगत् उत्पन्न हुआ। उससे ही मनुष्य, पशु, वृक्ष-वनस्पति आदि हुए। उससे ही समाज के अंग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हुए।[१८]

इससे स्पष्ट है कि 'आवयविक सिद्धान्त' की सर्वप्रथम स्थापना और व्याख्या वेदों में हुई है। यह पुरुषसूक्त तीनों वेदों में आया है। सामवेद में भी इस सूक्त के कुछ मंत्र आए

---

१५. योऽनधीत्य द्विजो वेदम्, अन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वम्, आशु गच्छति सान्वयः।। मनु० २.१६८

१६. न तिष्ठति तु यः पूर्वां, नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः, सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।। मनु० २.१०३

१७. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। यजु० ३१.१

१८. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। यजु० ३१.११

हैं।[१९] पूरे वैदिक वाङ्मय में इस सूक्त का अनेक सन्दर्भों में उल्लेख मिलता है। इस प्रकार समाज-निर्माण के आवयविक सिद्धान्त की स्थापना का श्रेय वेदों को है।

●

१९. ऋग्वेद १०.९० १ से १६। यजु० ३१.१ से २२। अथर्व० १९.६.१ से १६। सामवेद ६१७ से ६२१।

अध्याय ३

राज्य-उत्पत्ति-विषयक-सिद्धान्त

१. विकास-सिद्धान्त

२. युद्ध-सिद्धान्त

३. समाज-अनुबन्धवाद

४. दैवी सिद्धान्त

५. वैदिक और पाश्चात्त्य दैवी सिद्धान्त में अन्तर

अध्याय ३

राज्य-उत्पत्ति-विषयक-सिद्धान्त

वेदों और परकालीन साहित्य में राज्य की उत्पत्ति के विषय में कई सिद्धान्तों की कल्पना की गई है। इनमें विशेषरूप से उल्लेख किया गया है कि देश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न होने पर उसके नियन्त्रण हेतु एक प्रशासक की आवश्यकता अनुभव की गई। उसको राजा नाम दिया गया। उसके मार्गदर्शन हेतु नीतिशास्त्र या राजनीतिशास्त्र का निर्माण हुआ।

राज्य संस्था का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, इस विषय पर अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं, उनके स्वरूप और गुण-दोषों पर यहाँ विचार प्रस्तुत किया गया है।

१. विकास-सिद्धान्त

राज्य-संस्था के विकास के संबन्ध में सबसे प्राचीन सन्दर्भ अथर्ववेद के एक सूक्त में प्राप्त होता है। इस सूक्त में राज्य की विराट् स्थिति से लेकर सभा, समिति संस्था के विकास तक का वर्णन है। इस सूक्त में राज्य संस्था या समाज़ के क्रमिक विकास की संक्षिप्त रूपरेखा दी गई है। अथर्ववेद का कथन है कि सबसे प्रथम विराट् (वि+राट् अर्थात् राजा-रहित या अराजक) दशा थी। यह भयावह दशा थी, अतः सभी को भय हुआ कि क्या यही अवस्था सदा बनी रहेगी?[१] इसमें उत्क्रमण (विकास) हुआ और गार्हपत्य संस्था का संगठन हुआ। गार्हपत्य संस्था का अभिप्राय है — परिवार या कुटुम्ब संस्था। परिवाररूपी एक इकाई का विकास हुआ और इसके संरक्षण, भरण-पोषण आदि का उत्तरदायित्व गृहपति पर हुआ। अतः इसे गार्हपत्य कहते हैं।[२] इसमें फिर उत्क्रमण (विकास) हुआ। यह पारिवारिक संस्था से उठकर 'आहवनीय' दशा हुई। यह संभवतः ग्राम-संस्था है। इसमें गृहपतियों का आवाहन किया जाता था। गृहपतियों के परामर्श आदि से ग्राम-संस्था का संचालन होता था।[३] ग्रामसंस्था के नेता या प्रमुख को 'ग्रामणी' कहा गया है।

इस आहवनीय दशा में फिर उत्क्रमण (विकास) हुआ। इस दशा को दक्षिणाग्नि कहा गया है।[४] दक्षिणाग्नि का अभिप्राय संभवतः विद्वज्जनों का संगठन है। दक्षिण चतुर अर्थ में है और अग्नि अग्रणी अर्थ में। दक्षिणाग्नि यह ग्रामसंस्था की अपेक्षा बड़ा संगठन है। यह

---

१. विराड् वा इदमग्र आसीत्, तस्या जातायाः सर्वम् अबिभेद्, इयमेवेदं भविष्यतीति । अथर्व० ८.१०.१

२. सोदक्रामत्, सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् । अ० ८.१०.२

३. सोदक्रामत्, साऽऽहवनीये न्यक्रामत् । अ० ८.१०.४

४. सोदक्रामत्, सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् । अ० ८.१०.६

जनपदीय संगठन ज्ञात होता है। इसमें फिर उत्क्रमण (विकास) हुआ। इससे 'सभा' नामक संस्था का विकास हुआ।[५] यह राष्ट्रीय सभा (National Judicature) राष्ट्रीय न्यायालय के रूप में विकसित हुई। इस सभा में भी उत्क्रमण (विकास) हुआ। इससे 'समिति' नामक संस्था का विकास हुआ। यह 'समिति' संस्था राष्ट्रीय संसद् (National Assembly) के रूप में प्रकट हुई।[६] इस समिति का कार्य था — राजा का चयन करना, उसे अभिषिक्त करना और राज्य के लिए अयोग्य सिद्ध होने पर उसे गद्दी से उतारना आदि।[७] समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य समझी जाती थी।[८]

इससे ज्ञात होता है कि ग्राम-संस्था का ही क्रमिक विकास होते हुए सभा और समिति संस्थाएँ राज्य-संचालक के रूप में विकसित हुईं।

डॉ० अलतेकर ने ऋग्वेद के एक मंत्र के आधार पर यह विचार रखा है कि सर्वप्रथम इकाई परिवार या कुटुम्ब थी। इसका ही विकास होते हुए ग्राम, विश् और जन नामक संस्थाएँ प्रकट हुईं।[९] मंत्र में जन, विश्, जन्मन् और पुत्र शब्दों का प्रयोग है। इसमें पुत्र शब्द परिवार या कुटुम्ब के लिए है। जन्मन् शब्द एक ही वंश में उत्पन्न हुए पारिवारिक जनों के समूह या ग्राम के लिए है। कई ग्रामों के समूह को विश् कहते थे और इसके प्रमुख को विश्पति। विश् एक बड़ा दृढ संगठन था। कई विशों को मिलाकर एक जन-संस्था बनती थी। इसके प्रमुख को जनपति या राजा कहते थे। डॉ० अलतेकर ने इस व्यवस्था की तुलना रोम की समाज-व्यवस्था से की है। जेम्स=जन्मन् या कुलसमूह, क्यूरिया=विश् (ग्राम समूह), ट्राइब=जन (विशों का समूह)।[१०]

२. युद्ध सिद्धान्त

वेदों में आर्य और अनार्य जातियों के संघर्ष का अनेक स्थानों पर वर्णन है। अनार्यों के लिए असुर, रक्षस्, राक्षस, पिशाच, दास, दस्यु, पणि, वृत्र आदि शब्दों का उल्लेख

---

५. सोदक्रामत्, सा सभायां न्यक्रामत् । अ० ८.१०.८

६. सोदक्रामत्, सा समितौ न्यक्रामत् । अ० ८.१०.१०

७. ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह । अ० ६.८८.३
नास्मै समितिः कल्पते । अ० ५.१९.१५

८. राजा न सत्यः समितीरियानः । ऋग्० ९.९२.६
यत्रौषधीः समग्मत राजानः समितावि व । ऋग्० १०.९७.६

९. स इज्जनेन स विशा स जन्मना,
स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः । ऋग्० २.२६.३

१०. डॉ० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासनपद्धति । पृष्ठ २४-२५

है। अनेक मन्त्रों में उल्लेख है कि इन्द्र ने राक्षसों का वध किया। ऋग्वेद में आर्य और दस्यु दोनों का उल्लेख है।[११] आस्तिक, यज्ञप्रेमी और धार्मिक के लिए आर्य शब्द आया है और नास्तिक, यज्ञ-विरोधी और अनाचारी के लिए अनार्य, दस्यु या दास शब्द है।[१२] आर्यों और अनार्यों का सदा युद्ध चलता रहता था। युद्ध के संचालन के लिए, शत्रुओं से रक्षा के लिए और अपराधों पर नियन्त्रण के लिए राजा और राज्य की आवश्यकता पड़ी। अतः देवों ने अपना राजा इन्द्र को चुना और उसने दासों, असुरों एवं अनार्यों पर विजय प्राप्त की। ऋग्वेद का कथन है कि इन्द्र और अग्नि ने दस्युओं और वृत्रों को मारा।[१३] अथर्ववेद में वर्णन है कि इन्द्र ने दासों (दस्युओं) को नष्ट किया।[१४] उसने दस्युओं को नष्ट करके आर्यों की रक्षा की।[१५] यजुर्वेद में वर्णन किया गया है कि जो हमें दास बनाना चाहता है, उसे हे इन्द्र! तुम घोर अंधकार में डाल दो या नरक में फेंक दो।[१६] इससे ज्ञात होता है कि शत्रु राजा जीतकर लोगों को दास बनाते थे, अतः इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि तुम उन्हें हराओ और यातना देकर नरक में डालो। इसी प्रकार पणि जाति धनाढ्य, किन्तु कृपण जाति थी। यह आर्यों को सताती थी, उनका शोषण करती थी, अतः ऋग्वेद में कहा गया है कि तुम पणि (कृपण, शोषक) न हो।[१७] दूसरे स्थान पर कहा गया है कि राजा इन्द्र कृपण पणियों से कभी मित्रता नहीं करता।[१८]

वेदों अनेक स्थलों पर वर्णन है कि इन्द्र, सोम या बृहस्पति ने राक्षसों को नष्ट किया। इन्द्र के लिए उल्लेख है कि उसने शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को जीता।[१९] यजुर्वेद के एक मंत्र में उल्लेख है कि देवासुर युद्ध में इन्द्र के नेतृत्व में देवसेना ने शत्रुओं को जीता। इन्द्र के सहयोगी बृहस्पति और सोम थे। मरुत् देवता सेना की अग्रिम पंक्ति में थे।[२०] राजा का

---

११. वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवः । ऋग्० १.५१.८

१२. बर्हिष्मते....अव्रतान् । ऋग्० १.५१.८
अनुव्रताय...अपव्रतान् । ऋग्० १.५१.९

१३. हतो वृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती । ऋग्० ६.६०.६

१४. यो दासं वर्णमधरं गुहाकः । अथर्व० २०.३४.४

१५. हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् । अ० २०.११.९

१६. यो अस्माँ अभि दासति, अधरं गमया तमः । यजु० ८.४४

१७. मा पणिर्भूः । ऋग्० १.३३.३

१८. न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रः । ऋग्० ४.२५.७

१९. शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः । यजु० १७.३३

२०. इन्द्र आसां नेता, बृहस्पतिर्दक्षिणा, यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानाम्...जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् । यजु० १७.४०

अभिषेक भी इसीलिए किया जाता था कि वह राक्षसों का वध करे।[२१] यजुर्वेद का कथन है कि राजा का वरण (चुनाव) ही राक्षसों के वध के लिए किया जाता था।[२२] इससे यह भी सिद्ध होता है कि राजा का चयन युद्ध कार्य के लिए किया जाता था। ऋग्वेद आदि से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय छोटे युद्ध नहीं, अपितु महायुद्ध भी होते थे और उसमें राजा (इन्द्र) की उपस्थिति आवश्यक होती थी।[२३] यह मंत्र सामवेद और अथर्ववेद में भी आया है।[२४]

इन सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि राजा का वरण ही शत्रुओं को जीतने के लिए तथा राष्ट्र की रक्षा के लिए होता था।

ऐतरेय ब्राह्मण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि राजा की उत्पत्ति युद्धकार्य के लिए हुई। ऐतरेय ब्राह्मण में आख्यान है कि देवों और असुरों में युद्ध चल रहा था। इस युद्ध में असुर विजयी हुए और देवता पराजित। इसके कारण पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि देवताओं का राजा न होना इस पराजय का कारण है। असुरों का राजा था, अतः वे विजयी हुए। इसलिए निश्चय किया गया कि उन्हें भी अपना राजा चुनना चाहिए। इस निश्चय के अनुसार देवों ने सोम को राजा चुना। इसका परिणाम यह हुआ कि देवों ने सोम राजा के नेतृत्व में सारी दिशाओं में विजय प्राप्त की।[२५]

इससे स्पष्ट है कि राजा और राज्य का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम असुरों से हुआ। इस पद्धति को उपयोगी मानकर देवों ने भी यह पद्धति अपनाई। इससे यह भी ज्ञात होता है कि आर्यों ने सामाजिक जीवन की अवस्था से राजनीतिक समाज की अवस्था (State of Political Society) में प्रवेश किया और उनमें राजा और राज्य का सर्वप्रथम विकास हुआ।

यह सत्य है कि प्रारम्भ में राजा और राज्य का प्रादुर्भाव युद्ध में विजय के लिए हुआ। प्रारम्भिक अवस्था में राजा का मुख्य कार्य था - युद्ध में विजय प्राप्त करना, प्रजा की संपत्ति आदि की रक्षा और उसकी स्वतंत्रता स्थिर रखना। समाज के विकास के साथ राजा के कर्तव्यों में भी वृद्धि हुई। राजा का कर्तव्य केवल युद्ध में विजय प्राप्त करना ही न रहकर अब प्रजारंजन, प्रजा-पालन, राज्य के विकास कार्यों को कार्यान्वित करना, कृषि और उद्योगों की उन्नति,

---

२१. हतं रक्षः, रक्षसां त्वा वधाय । यजु० ९.३८

२२. यूयम् इन्द्रम् अवृणीध्वं वृत्रतूर्ये । यजु० १.१३

२३. तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे । ऋग्० १.८१.१

२४. साम० ४११, १००२ । अथर्व० २०.५६.१

२५. देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त...तांस्ततोऽसुरा अजयन्... देवा अब्रुवन् अराजतया वै नो जयन्ति, राजानं करवामहा इति, तथेति ते सोमं राजानम् अकुर्वन्, ते सोमेन राज्ञा सर्वा दिशोऽजयन् । ऐत. ब्रा. १.१४

प्रजा को चोर-डाकू आदि से संरक्षण देना, सबलों द्वारा निर्बलों के शोषण को रोकना और मात्स्य-न्याय को राज्य में अस्तित्व-हीन करना। इस प्रकार राजा का उत्तरदायित्व बढ़ गया और वह केवल प्रखर योद्धा ही न रहकर कुशल प्रशासक और लोक-कल्याणकर्ता के रूप में प्रस्तुत हुआ।

इन्हीं कारणों से युद्ध-सिद्धान्त अनुपयुक्त होकर परकाल में लुप्त हो गया।

३. समाज-अनुबन्धवाद

राजनीतिशास्त्र के इतिहास में समाज-अनुबन्धवाद (Theory of Social Contract) को विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। महाभारत आदि में Contract के लिए 'समय' शब्द का प्रयोग है, अतः इसे 'समयवाद' भी कहा जाता है। वेदों में अनुबन्धवाद से संबद्ध कुछ सामग्री प्राप्त होती है, उसके आधार यह कहा जा सकता है कि वेदों में समाज-अनुबन्धवाद के तत्त्व विद्यमान हैं। राज्याभिषेक से संबद्ध मन्त्रों में यजुर्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि जिसको भी हमने राजा चुना है, उसे कतिपय प्रतिज्ञाओं का पालन करना पड़ेगा। यदि वह इन प्रतिज्ञाओं का पालन नहीं करता है तो उसे पदच्युत कर दिया जाएगा। राजा भी अपनी ओर से उन प्रतिज्ञाओं के पालन का वचन देता है। इस प्रकार राजा और प्रजा के मध्य एक प्रकार का अनुबन्ध (समझौता, समय) होता है। इसी आधार पर राजा का राज्याभिषेक होता है और वह राजत्व प्राप्त करता है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में राजा के लिए 'धृतव्रत' शब्द का प्रयोग मिलता है। धृतव्रत का अर्थ है — जिसने कुछ नियमों या प्रतिज्ञाओं के पालन का व्रत लिया है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में वर्णन है कि धृतव्रत राजा वरुण साम्राज्य के लिए गद्दी पर बैठता है। तैत्तिरीय संहिता में भी यह मन्त्र आया है।[२६] ऋग्वेद में मित्र और वरुण को क्षत्रिय महाराज बताते हुए उन्हें साम्राज्य करने के लिए गद्दी पर बैठाया गया है और उन्हें 'धृतव्रत' उपाधि दी गई है।[२७] अथर्ववेद में भी राजा वरुण को 'धृतव्रत राजा' कहा गया है।[२८] इसका अभिप्राय यह है कि राजा कुछ प्रतिज्ञाओं के पालन का संकल्प लेकर ही गद्दी पर बैठता है।

यजुर्वेद में राज्याभिषेक से संबद्ध कई मन्त्रों में यह स्पष्ट किया गया है कि राजा किन-किन कर्तव्यों के पालन के लिए नियुक्त किया जाता है। इन कर्तव्यों में कुछ विशेष उल्लेखनीय कर्तव्य ये हैं — (१) कृषि के विकास के लिए, जन-कल्याण के लिए, राष्ट्र की श्रीवृद्धि

---

२६. नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः । ऋग्० १.२५.१० । यजु० १०.२७ । तै. सं० १.८.१६.१

२७. निषेदतुः साम्राज्याय सुक्रतू । धृतव्रता क्षत्रिया । ऋग्० ८.२५.८

२८. राजन् वरुण...धृतव्रतो राजा । अथर्व० ७.८३.१

के लिए और जनता के पालन-पोषण के लिए,[२९] (२) तेजस्विता के लिए, शिक्षा के प्रसार के लिए, बल, श्री-समृद्धि और यश की वृद्धि के लिए,[३०] (३) ज्ञान के प्रसार के लिए, ऐश्वर्य-संपन्नता के लिए और प्रजा के संरक्षण के लिए,[३१] (४) इन्द्र के तुल्य पराक्रम के लिए, शत्रुओं को रुलाने के लिए, अभिमानी पापियों को नष्ट करने के लिए तथा जनता के योगक्षेम के लिए।[३२]

ऐतरेय ब्राह्मण में यह स्पष्ट किया गया है कि राजा का राज्याभिषेक करने से पूर्व उससे शपथ ली जाती थी कि वह अपनी प्रतिज्ञाओं और शर्तों का पालन करेगा। जनता के प्रतिनिधि के रूप में पुरोहित राजा को शपथ दिलाता है और उसके उत्तर में राजा शपथ लेता है कि यदि मैं इन प्रतिज्ञाओं (शर्तों) को तोड़ूँगा तो मेरे जीवन भर के सारे पुण्य नष्ट हो जाएँ।[३३]

इससे स्पष्ट है कि यह अनुबन्ध (इकरारनामा, समय) दोनों पक्षों (राजा और प्रजा) की ओर से जनता के संमुख किया जाता था। अतः यह अभिषेक का अभिन्न अंग था।

कौटिल्य ने राजा और राज्य की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि — पहले प्रजा मात्स्यन्याय से दुःखित थी अर्थात् जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार बलवान् लोगों ने निर्बलों का रहना दूभर कर दिया था। अतः प्रजा ने इस कष्ट से उद्धार के लिए विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया। उसे खेती की उपज का छठा भाग और व्यापार की आय का दसवाँ भाग कर के रूप में देना स्वीकार किया। इस शर्त के आधार पर राजा ने प्रजा के योगक्षेम का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।[३४] यहाँ राजा को भृत अर्थात् भृत्य (सेवक) कहा गया है। कर से प्राप्त आय उसका वेतन है और प्रजा की रक्षा उसका उत्तरदायित्व है।

महाभारत शान्तिपर्व के तीन अध्यायों (५९, ६७ और ६८) में राजा और राज्य की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसका सारांश यह है — सत्य युग में न राजा

---

२९. कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा । यजु० ९.२२

३०. तेजसे, सरस्वत्यै, बलाय, श्रियै, यशसेऽभिषिञ्चामि । यजु० २०.३

३१. सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे । यजु० २०.३३

३२. इन्द्राय, रुद्रवते, अभिमातिघ्ने, रायस्पोषदे । यजु० ६.३२

३३. एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वा अभिषिञ्चेत् ...स ब्रूयात् सह श्रद्धया — 'यां च रात्रीम् अजायेऽहं, यां च प्रेतास्मि, तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृङ्क्तीथा यदि ते द्रुह्येयम्' इति । ऐत० ब्रा० ८.१५

३४. मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे । धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः । तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः । अर्थ० पृष्ठ ४४-४५

था, न राज्य, न दंड था और न दंड-दाता। सारी प्रजा धर्मानुसार चलती थी और एक-दूसरे की रक्षा करती थी।[३५] यह अवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकी। धीरे-धीरे अधर्म के प्रभाव से उनमें मोह, लोभ और काम व्याप्त हो गया। इस प्रकार अव्यवस्था व्याप्त होने पर सारे देवता ब्रह्मा के पास गए। उन्होंने राज्य की रक्षा और व्यवस्था के लिए दंडनीति (राजनीतिशास्त्र) का निर्माण किया और आदेश दिया कि इसके अनुसार राज्य की व्यवस्था की जाय।

इसके पश्चात् देवता भगवान् विष्णु के पास गये और प्रार्थना की कि एक सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को आप राजा बनावें। उन्होंने विरजा (विरजस्) नामक एक मानसपुत्र को जन्म दिया और उसे राजा बनाया। उसने वैराग्य भाव के कारण राजा होना स्वीकार नहीं किया। उसका पुत्र कीर्तिमान् और कीर्तिमान् का पुत्र कर्दम भी वैराग्य वृत्ति के कारण तपस्या में लग गए। उसके पुत्र अनंग और अनंग के पुत्र अतिबल ने नीतिशास्त्र के अनुसार राज्य किया। उसका पुत्र वेन राजा हुआ। वह अत्याचारी था, अतः ऋषियों ने उसे कुशाओं से मार डाला। वेन का पुत्र पृथु हुआ। वह राजनीतिविशारद था। पृथु राजा से महर्षियों ने प्रतिज्ञा कराई कि वह वेद-शास्त्रों की रक्षा करेगा और दंडनीति के अनुसार राज्य करेगा। राजा पृथु ने प्रतिज्ञा की कि — 'मैं दंडनीति के अनुसार निर्भय होकर राज्य करूँगा'।[३६] तब उसे राजा बनाया गया।[३७]

इस प्रकार सर्वप्रथम भूतल पर राज्य नामक तत्त्व की उत्पत्ति हुई।[३८]

महाभारत शान्तिपर्व में ही एक दूसरे अध्याय में राजा की उत्पत्ति का वर्णन है। इसमें वर्णन किया गया है कि राजा के अभाव में सर्वत्र अराजकता होती है। बलवान् निर्बलों को इसी प्रकार सताते हैं और लूट लेते हैं, जैसे समुद्र में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं।[३९] अतः बिना राजा वाले राज्य में निवास नहीं करना चाहिए।[४०]

---

३५. यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ।
न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ।। शान्ति० ५९.१३-१४

३६. प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व, मनसा कर्मणा गिरा ।
पालयिष्याम्यहं भौमं, ब्रह्म इत्येव चासकृत् ।
यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो, दण्डनीति-व्यपाश्रयः ।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ।। शान्ति० ५९.१०६-१०७

३७. राजा पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् । शान्ति० ५९. ११३

८. यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् । शान्ति० ५९.१३

३९. अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम् ।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् । शान्ति० ६७.१७

४०. नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये । शान्ति० ६७.५

महाभारत का कथन है कि इस प्रकार अराजकता की स्थिति उत्पन्न होने पर सब लोगों ने इकट्ठे होकर समय (समझौता, अनुबन्ध या इकरारनामा) किया कि — 'हम लोगों में जो भी कटुभाषी, अत्याचारी, परस्त्रीगामी और परधनापहारी होगा, उसे हम समाज से बहिष्कृत करेंगे।[४१] इस अनुबन्ध के बाद सब सुख से रहने लगे। इस प्रकार कुछ समय तक काम चला, परन्तु फिर दुर्व्यवस्था फैल गयी। तब सारी प्रजा ब्रह्मा जी के पास गई और कहा कि इस दुर्व्यवस्था से बचाने के लिए हमें कोई राजा दीजिए।[४२]

ब्रह्मा जी ने मनु को राजा होने की आज्ञा दी, परन्तु मनु ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि — मैं पापकर्म से बहुत डरता हूँ। राज्य करना बड़ा कठिन काम है।[४३] तब प्रजा ने मनु से कहा — कि आप मत डरें। हम आपका सहयोग करेंगे। आपके कोश की वृद्धि के लिए हम धन, सुवर्ण और कर आदि देंगे। प्रजा सुरक्षित होकर जो धर्म करेगी, उसका चतुर्थ भाग आपको मिलता रहेगा। आप हमारी रक्षा करें, जैसे इन्द्र देवों की।[४४] प्रजा के इस प्रबल अनुरोध को मनु ने स्वीकार कर लिया और राजा का कार्यभार संभाल लिया। इस प्रकार 'राजा' की उत्पत्ति हुई। इस पर भीष्म पितामह ने कहा है कि — पृथिवी पर जो भी मनुष्य अपना कल्याण चाहते हैं, वे प्रजा-रक्षण के लिए अपना कोई राजा अवश्य बना लें।[४५]

उपर्युक्त दोनों सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि राज्य की स्थापना का श्रेय पृथु को है। वह प्रथम भूपति हुआ। राजा का अभिप्राय है — प्रजा को सब प्रकार से प्रसन्न रखना और उसकी रक्षा करना।[४६] यह कार्य मनु ने किया, अतः मनु प्रथम राजा के रूप में विख्यात हैं। मनु ने ही सर्वप्रथम आचारशिक्षा, दण्डनीति और नीतिशिक्षा का प्रारम्भ किया।

डॉ० श्यामलाल पाण्डेय ने वैदिक अनुबन्धवाद के विषय में अपना विचार व्यक्त किया है कि इसमें कुछ न्यूनताएँ रह गई हैं। ये हैं — (१) इसमें मनुष्य के प्राकृत जीवन की

---

४१. समेत्य तास्ततश्चक्रुः, समयानिति नः श्रुतम् ।
वाक्शूरो दण्डपरुषो, यश्च स्यात् पारजायिकः ।।
यः परस्वमथादद्यात्, त्याज्या नस्तादृशा इति ।। शान्ति० ६७. १८-१९

४२. अनीश्वरा विनश्यामो, भगवन् ईश्वरं दिश । शान्ति० ६७.२०

४३. ततो मनुं व्यादिदेश, मनुर्नाभिननन्द ताः ।
बिभेमि कर्मणः पापाद्, राज्यं हि भृशदुस्तरम् । शान्ति० ६७. २१-२२

४४. पाह्यस्मान् सर्वतो राजन्, देवानिव शतक्रतुः । शान्ति० ६७.२८

४५. एवं ये भूतिमिच्छेयुः, पृथिव्यां मानवाः क्वचित् ।
कुर्यू राजानमेवाग्रे, प्रजानुग्रहकारणात् ।। शान्ति० ६७.३३

४६. रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते । शान्ति० ५९.१२५

अवस्था (State of Nature), सामाजिक जीवन की अवस्था (State of Society), और राजनीतिक जीवन की अवस्था (State of Political Society), इनके क्रमिक विकास का उल्लेख नहीं है। (२) इसमें अनुबन्ध अथवा प्रतिज्ञा, प्रस्तावित राजा और जनता के मध्य, होने की व्यवस्था नहीं है। (३) प्रस्तावित राजा और जनता स्पष्ट रूप से अनुबन्ध के पालन का वचन देते हुए दिखाई नहीं पड़ते। (४) इसमें दार्शनिक तत्त्व का अभाव है।[४७]

इस विषय में कथन है कि वेदों में सभी बातें सूत्र रूप में या बीज के रूप में कही गई हैं। उसमें सभी तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या और वर्णन न संभव है और न अपेक्षित है। वेद के सूत्रों और बीजों को लेकर विभिन्न शास्त्रों की रचनाएँ हुई हैं। अतः कहा गया है कि — इतिहास, पुराण आदि की रचनाओं के द्वारा वेदों के सूक्ष्म भावों की व्याख्या करें।[४८]

डॉ० अल्तेकर ने समाज-अनुबन्धवाद (समझौता, समय, सहमति, इकरारनामा) सिद्धान्त को ही अग्राह्य और हेय बताया है। उनका कथन है कि — 'सहमति का सिद्धान्त इतिहास की दृष्टि से अशुद्ध और तर्क की दृष्टि से लचर है।' सहमति या अनुबन्ध के लिए आवश्यक है कि दोनों पक्ष अपने अधिकारों और कर्तव्यों को समझते हों। इसके लिए सुशिक्षित और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रौढ होना आवश्यक है। प्रारंभिक प्राकृत अवस्था में लोगों को अपने अधिकार और कर्तव्य का बोध नहीं था, अतः अनुबन्ध या सहमति जैसे सिद्धान्त उनपर लागू नहीं होते। अतः भारतीय विचारकों ने राजा और राज्य की उत्पत्ति के लिए सहमति सिद्धान्त को अनुपयुक्त समझा था।[४९]

४. दैवी सिद्धान्त

ऋग्वेद में दैवी सिद्धान्त के कुछ संकेत मिलते हैं। राजा वरुण अपराधों को क्षमा करता है और वह बन्धनों से मुक्त करता है।[५०] अग्नि को राजा वरुण की उपाधि देते हुए उसे नियमों का पालक कहा गया है।[५१] इससे केवल इतना संकेत मिलता है कि राजा में कुछ दैवी गुण होते हैं, जो इन विशिष्ट गुणों से युक्त होता है, उसे राजा कहा जाता है।

यजुर्वेद में इस विषय पर अधिक सामग्री उपलब्ध होती है। यजुर्वेद के एक मंत्र में

---

४७. पांडेय, वेदकालीन राज्यव्यवस्था, पृष्ठ २९-३०

४८. इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।

४९. अलतेकर, प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ २२

५०. राजा वरुणो मुमोक्तु । ऋग्० १.२४.१२
अवैनं राजा वरुण: ससृज्यात् । ऋग्० १.२४.१३

५१. त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रत: । ऋग्० २.१.४

राजा के लिए 'दिवः सूनुः' शब्द का प्रयोग हुआ है।[५२] इसका अर्थ है कि राजा द्युलोक या देवों का पुत्र है। इससे राजा के दिव्यत्व या देवत्व का बोध होता है। यजुर्वेद के अध्याय ९ और १० में राजसूय यज्ञ का वर्णन है और राज्याभिषेक की प्रक्रिया वर्णित है। राजा के लिए कहा गया है कि **राज्ञ एव राजसूयम्, राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति**।[५३] अर्थात् राजा के लिए राजसूय यज्ञ है। राजसूय यज्ञ करके ही राजा होता है। गोपथ ब्राह्मण में भी यही बात कही गई है कि राजसूय यज्ञ करने ये ही उसका नाम राजा पड़ा।[५४]

यजुर्वेद के इन अध्यायों में कई मन्त्र ऐसे आए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि राजा देवों का अंश है या दिव्य विभूतियों से युक्त है। एक मंत्र में कहा गया है कि — हे राज्याभिषेक के लिए प्रस्तावित राजन्! तुम ब्रह्मा हो, तुम सविता हो, तुम वरुण हो, तुम इन्द्र हो और तुम रुद्र हो।[५५] इससे ज्ञात होता है कि राजा उक्त पाँच देवों की विभूतियों से युक्त होकर राज्य-प्रशासन की बागडोर संभालता है।

यजुर्वेद के ही एक अन्य मंत्र में राजा में दस देवों के गुणों के आधान का वर्णन है। ये दस देव हैं — सविता, सरस्वती, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, अग्नि, सोम और विष्णु।[५६] इन दसों देवों के गुणों में प्रेरणाशक्ति, वाक्शक्ति, ज्ञानशक्ति, ओजस्विता, तेजस्विता, सोम्यता, व्यापकता आदि गुणों का समावेश है।

एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि — हे राजन्! तुझे सोम देव की सोम्यता, अग्नि की ओजस्विता, सूर्य की वर्चस्विता और इन्द्र के ऐश्वर्य से संपन्न करके तेरा राज्याभिषेक करते हैं।[५७] इससे ज्ञात होता है कि राजा में सोम, अग्नि, सूर्य और इन्द्र के गुणों को प्रतिष्ठापित करके उसे देवत्व का रूप दिया जाता है।

यजुर्वेद के इन मंत्रों से राजा की दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त का समर्थन होता है।

अथर्ववेद में भी दैवी सिद्धान्त की पुष्टि प्राप्त होती है। अथर्ववेद का कथन है कि राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, मित्र, वरुण, यम, सूर्य आदि देवों का अंश धारण करता है।[५८]

---

५२. दिवः सूनुरसि । यजु० ६.६

५३. शत० ब्रा० ५.१.१.१२

५४. स राजसूयेनेष्ट्वा राजेति नामाधत्त । गो० ब्रा० १.५.८

५५. त्वं ब्रह्मासि, सवितासि, वरुणोऽसि, इन्द्रोऽसि, रुद्रोऽसि । यजु० १०.२८

५६. सवित्रा प्रसवित्रा, सरस्वत्या वाचा....देवतया प्रसूतः प्र सर्पामि । यजु० १०.३०

५७. सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चामि, अग्नेर्भ्राजसा,
सूर्यस्य वर्चसा, इन्द्रस्येन्द्रियेण । यजु० १०.१७

५८. अग्नेर्भाग स्थ, इन्द्रस्य, सोमस्य, मित्रावरुणयोः, यमस्य, देवस्य सवितुर्भाग स्थ । अथर्व० १०.५.७ से १४

इससे ज्ञात होता है कि राजा में इन देवों के अंश या गुण विद्यमान होते हैं। अतः वह दैवी शक्ति है। इसी सूक्त में आगे वर्णन किया गया है कि राजा विष्णु के पद पर अधिष्ठित होता है।[५९] इसका परिणाम यह होता है कि पृथिवी आदि सभी तत्त्व अपना-अपना तेज राजा को देते हैं। इन तत्त्वों में ११ पदार्थों के नाम हैं और उनसे प्राप्त होने वाले ११ प्रकार के तेज का वर्णन है। इन ११ पदार्थों और ११ प्रकार के तेज का संक्षिप्त विवरण यह है — (१) पृथिवी से अग्नि का तेज (अग्नितेजाः), (२) अन्तरिक्ष से वायु का तेज (वायुतेजाः), (३) द्युलोक से सूर्य का तेज (सूर्यतेजाः) (४) दिशाओं से मन का तेज (मनस्तेजाः), (५) आशाओं (उपदिशाओं) से वात (प्रचंडवायु) का तेज (वाततेजाः), (६) ऋग्वेद के मंत्रों से सहिष्णुता और पक्षपात-रहितता का तेज अर्थात् गुण (सामतेजाः), (७) यज्ञ से ब्रह्मतेज (ब्रह्मवर्चस्, ज्ञान का तेज) (ब्रह्मतेजाः), (८) ओषधियों से सोम का तेज (सोम्यता का गुण) (सोमतेजाः), (९) जल से वरुण का तेज (न्यायाधीश का गुण) (वरुणतेजाः), (१०) कृषि से अन्न का तेज (अन्न-समृद्धि और पुष्टता का गुण) (अन्नतेजाः), (११) प्राण से पुरुष का तेज (आत्मिकबल, मनोबल और मनस्विता का गुण) (पुरुषतेजाः)[६०]।

इस विवरण से ज्ञात होता है कि राजा ज्योंही विष्णुपद पर प्रतिष्ठित होता है, सभी पदार्थ अपनी-अपनी विशेषताएँ राजा को समर्पित कर देते हैं। इस प्रकार राजा पूर्णरूप से दिव्य पुरुष या देवरूप हो जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी राजा के देवत्व की पुष्टि की गई है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजसूय यज्ञ करने के बाद ही राजा का अभिषेक होता है और वह विधिवत् राजा माना जाता है।[६१] उससे पहले वह सामान्य पुरुष है। अभिषेक से पूर्व उसे यज्ञ में दीक्षा लेनी पड़ती है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि जब व्यक्ति दीक्षा लेता है तो वह विष्णु और यजमान दोनों का रूप धारण कर लेता है।[६२] यजुर्वेद के एक मंत्र की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण का यह कथन है कि दीक्षा लेने से विष्णु हो जाता है और यज्ञ करने के कारण यजमान होता है।[६३] राज्याभिषेक की दीक्षा लेने से राजा विष्णु-रूप हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि राजा देवता के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

शतपथ ब्राह्मण ने इस प्रसंग में एक रोचक बात दी है कि जो भी व्यक्ति, क्षत्रिय या वैश्य भी, यज्ञ की दीक्षा लेता है, उसको ब्राह्मण ही कहा जाएगा।[६४]

---

५९. विष्णोः क्रमोऽसि । अथर्व० १०.५.२५

६०. अथर्व० १०.५ २५ से ३५

६१. राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति । शत० ५.१.१.१२

६२. उभयं वा एषोऽत्र भवति यो दीक्षते विष्णुश्च यजमानश्च । शत० ३.२.१.१७

६३. विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्य । यजु० ४.१०

६४. तस्मादपि दीक्षितं राजन्यं वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात् । शत० ३.२.१.४०

इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में राजा की दैवी उत्पत्ति का समर्थक एक उपाख्यान प्राप्त होता है। इसमें कहा गया है कि प्रजापति इन्द्र को राजा बनाना चाहते थे। इन्द्र देवों में छोटा था। उसे विशाल शक्ति की आवश्यकता थी, अतः उसने प्रजापति से प्रार्थना की कि आप मुझे अपना तेज दे दें। प्रजापति ने अपना तेज इन्द्र को दिया और इन्द्र देवों का राजा बन गया।[६५] इस उपाख्यान से सिद्ध होता है कि जबतक दिव्य गुण या दैवी तेज प्राप्त नहीं होता है, तब तक वह राजा नहीं बन पाता। यह दैवी तेज राजा की दैवी उत्पत्ति का बोधक है।

शतपथ ब्राह्मण आदि में इस सिद्धान्त में दार्शनिक तत्त्व का भी समावेश किया गया है। इसमें मानवस्वभाव के अध्ययन के आधार पर कहा गया है कि मनुष्य का स्वभाव है — अनृत की ओर प्रवृत्ति। अनृत को छोड़कर ऋत या सत्य की ओर प्रवृत्ति, देवत्व की अभिव्यक्ति है। सत्य का अनुसरण करना, सत्य की ओर प्रवृत्ति, सत्याचरण और सत्यनिष्ठा देवत्व के प्रतीक हैं।[६६] अतएव राज्याभिषेक के समय पहले व्रत ग्रहण कराया जाता है कि — हे अग्नि, मैं आज से व्रत धारण करूँगा और अनृत को छोड़कर सत्यमार्ग को अपनाऊँगा।[६७] शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि इस प्रतिज्ञा के द्वारा वह मनुष्यत्व से देवत्व का प्राप्त होता है।[६८]

वैदिक दैवी सिद्धान्त में उक्त दार्शनिक तत्त्व का समावेश अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राजा की दिव्यता उसके आचार, व्यवहार और क्रियाकलाप पर निर्भर है। इस दार्शनिक तत्त्व का अभिप्राय यह भी है कि राजा का जीवन आदर्श हो। वह सत्यनिष्ठ हो। प्रजा के दुःख को अपना दुःख समझे और प्रजा की उन्नति में अपनी उन्नति समझे। ऐसा सत्यनिष्ठ राजा अन्यायी, अत्याचारी, पापी और निरंकुश नहीं हो सकता है। न्यायप्रियता उसके जीवन का अंग होता है, अतः वह अपनी उदारवृत्ति के कारण देवों का अंश समझ जाता है और प्रजा का आदार प्राप्त करता है।

मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में भी राजा के दैवी सिद्धान्त के समर्थक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। मनुस्मृति का कथन है कि — संसार में अराजकता थी, लोगों में भय व्याप्त था, अतः सारी प्रजा की रक्षा के लिए परमात्मा ने राजा की सृष्टि की।[६९] उस ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर का दिव्य अंश लेकर राजा की सृष्टि की।[७०] राजा

---

६५. तैत्ति० ब्रा० २.२.१०. १-२

६६. सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । शत० १.१.१.४
सत्यसंहिता वै देवाः । अनृतसंहिता वै मनुष्याः । ऐत० ब्रा० १.६

६७. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि । इदमहम् अनृतात् सत्यमुपैमि । यजु० १.५

६८. तन्मनुष्येभ्यो देवान् उपैति । शत० १.१.१.४

६९. रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः । यजु० ७.३

७०. मनु० ७.४

देवों के अंश से निर्मित था, अतः वह अपने तेज से सबका स्वामी बना।[७१] राजा भले ही कम आयु का हो, उसका अपमान नहीं करना चाहिए। वह मनुष्य रूप में बड़ा देवता या बड़ी दैवीशक्ति है।[७२] मनु ने कहा है कि यदि राजा कठोर दंडनीति का प्रयोग न करे तो बलवान् निर्बलों को इसी प्रकार दुःख देने लगेंगे, जैसे मछलियों को लोहे के छड़ में छेदकर पकाते हैं।[७३]

महाभारत में भी राजा को देवता-स्वरूप माना है और कहा है कि राजा महान् देवता है। राजा को मनुष्य समझकर उसका कभी अपमान नहीं करना चाहिए।[७४] वह अग्नि, सूर्य, मृत्यु, कुबेर और यम के रूप में पाँच स्वरूपों को धारण करता है।[७५] महाभारत में अराजकता से होने वाली हानियों का विस्तृत विवरण भी दिया गया है।[७६] राजा के प्रजा-रक्षण आदि कार्यों के कारण राजा, भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि अनेक नाम पड़े हैं।[७७]

मत्स्य पुराण में भी राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है, उसका कथन है कि — न्यायपूर्वक दण्ड की व्यवस्था के लिए और सब प्राणियों की रक्षा के हेतु ब्रह्मा ने देवों का अंश लेकर राजा की सृष्टि की।[७८]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि वेदों से लेकर परकाल तक राजा को देवों का अंश या देवता मानने का सिद्धान्त प्रचलित रहा है।

५. वैदिक और पाश्चात्त्य दैवी सिद्धान्त में अन्तर

वैदिक दैवी सिद्धान्त और पाश्चात्त्य राजनीतिशास्त्रज्ञों द्वारा स्थापित दैवी सिद्धान्त में मौलिक अन्तर है। पाश्चात्त्य विचारधारा के अनुसार राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। राजा के द्वारा

---

७१. मनु० ७.५

७२. महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति । मनु० ७.८

७३. शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः । मनु० ७.२०

७४. नहि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति । शान्ति० ६८.४०

७५. कुरुते पंचरूपाणि कालयुक्तानि यः सदा ।
भवत्यग्निस्तथाऽऽदित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ।। शान्ति० ६८.४१

७६. महा० शान्ति० ६८.१० से २८

७७. राजा भोजो विराट् सम्राट्, क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एभिः स्तूयते शब्दैः, कस्तं नार्चितुमर्हति । शान्ति० ६८.५४

७८. दण्डप्रणयनार्थाय राजा सृष्टः स्वयंभुवा ।
देवभागानुपादाय सर्वभूतादिगुप्तये ।। मत्स्य पु० २२६.१

किए गए सभी कार्यों का उत्तरदायित्व ईश्वर पर होता है। ईश्वर ही राजा को उचित कार्यों के लिए पुरस्कृत और अनुचित कार्यों के लिए दंडित करता है। राजा प्रजा के प्रति उत्तरदायी नहीं है, अतः प्रजा उसके कार्यों पर कोई निर्णय नहीं दे सकती है। प्रजा के लिए राजा की आज्ञाएँ ईश्वरीय आज्ञाएँ हैं, चाहे वे उचित हों या अनुचित। प्रजा द्वारा राजा की आज्ञा का उल्लंघन ईश्वरीय आज्ञा का उल्लंघन है। दूसरी ओर राजा के लिए अनिवार्य नहीं है कि वह लोक-रंजन या प्रजापालन हेतु दत्तचित्त रहे। प्रजा उसे ऐसे कार्यों के लिए बाध्य नहीं कर सकती। अतः इस मत में लोकहित के कर्तव्यों पर कोई बल नहीं है।

यदि दुर्भाग्यवश राजा अत्याचारी है तो यह प्रजा के दुष्कर्मों का ही फल है। ईश्वर ने उनके पापकर्मों के फल के लिए ऐसा राजा भेजा है। इस मत के अनुसार राजा के विरुद्ध कुछ भी कहने या करने का अधिकार प्रजा को नहीं है। जो कुछ अधिकार राजा देता है, वही प्रजा के अधिकार हैं।

वैदिक दैवी सिद्धान्त इस पाश्चात्त्य विचारधारा से सर्वथा भिन्न है। वैदिक विचारधारा के अनुसारा राजा का देवत्व उसके पवित्र आचरण पर निर्भर है। राजा अपनी तपस्या और सत्यनिष्ठा के द्वारा देवत्व प्राप्त करता है और उन दिव्य विभूतियों का प्रजा के पालन और लोककल्याण के कार्यों में उपयोग करता है। वेदों के अनुसार दिव्यगुणयुक्त राजा आदर्श चरित्र वाला होता है और उसका यह पवित्र चरित्र प्रजा को सन्मार्ग पर लाने के लिए आदर्श होता है।

दूसरा मुख्य अन्तर यह है कि वैदिक दैवी सिद्धान्त के अनुसार राजा ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है। वह अपने कर्मों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी है। प्रजा के अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण राजा द्वारा नहीं, अपितु उन नियमों और विधियों द्वारा किया जाता है, जिनका निर्माण शास्त्रज्ञों ने किया है। राजा इन विधि-विधानों का केवल रक्षक है। राजा के अधिकारों की सीमा है। यदि वह अपनी सीमा का अतिक्रमण करता है तो दंड का पात्र होता है। राजा का प्रमुख कर्तव्य होता है — प्रजा-रंजन, लोक-कल्याण और प्रजा को सत्पथ पर लाकर सुख-समृद्ध की वृद्धि।

इस प्रकार वैदिक दैवी-सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आदर्श है। अतः इसको राजशास्त्र में विशेष स्थान प्राप्त हुआ है।

अध्याय ४

राज्य का स्वरूप, उद्देश्य और कार्य

१. राज्य का सप्तांग स्वरूप

२. राज्य का आवयविक स्वरूप

३. वैदिक और पाश्चात्त्य आवयविक स्वरूप में अन्तर

४. राज्य के उद्देश्य

५. राज्य के कार्य

अध्याय ४

राज्य का स्वरूप, उद्देश्य और कार्य

१. राज्य का सप्तांग स्वरूप

ऋग्वेद आदि में राज्य के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित है। ऋग्वेद में 'राष्ट्रानाम्' का प्रयोग और अथर्ववेद में 'राष्ट्राणि' के प्रयोग से ज्ञात होता है कि वेदों में अनेक राष्ट्रों की सत्ता स्वीकार की गई है।[१] ऋग्वेद में राष्ट्र के लिए राज्य शब्द का प्रयोग केवल एक बार (राज्यम्) हुआ है।[२] अथर्ववेद में इसका प्रयोग सात बार हुआ है — राज्यम्, राज्यानि, राज्ये, राज्याय।[३] इससे ज्ञात होता है कि राज्य शब्द का प्रचलन बाद में हुआ है।

महाभारत, कौटिल्य, मनु, शुक्र आदि ने राज्य को सप्तांग या सप्तप्रकृति-युक्त कहा है। इसका अभिप्राय है कि राज्य के सात अंग या सात प्रकृतियाँ होती हैं। इन सात अंगों के मेल से राज्य का निर्माण होता है। ये ७ अंग हैं — १. स्वामी, आत्मा या राजा, २. अमात्य (मंत्री), ३. पुर या दुर्ग, ४. राष्ट्र या जनपद (भूप्रदेश), ५.कोश (कर, बलि), ६. दंड, सेना या बल, ७. सुहृत् या मित्र।[४] महाभारत में इनको राज्य के सात अंग कहा गया हैं।[५] कौटिल्य ने स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दंड और मित्र, इनको सात प्रकृति कहा है।[६] शुक्र ने राज्य को सप्तांग कहते हुए इनके नाम दिए हैं — स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और बल।[७]

मनु का कथन है कि इन सातों का महत्त्व बराबर है। कोई बड़ा या छोटा नहीं है।[८]

---

१. (क) राजा राष्ट्रानाम् । ऋग्० ७.३४.११
(ख) त्वं राष्ट्राणि रक्षसि । अ० १९.३०.३

२. शं राज्यं रोदस्योः । ऋग्० ७.६.२

३. राज्यम्, अ० ४.८.१ । ११.१२.२ । १२.३.३१ । राज्यानि ११.८.१५ । राज्ये १८.४.३१ और ३२ । राज्याय ३.४.२

४. स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं, कोशदण्डौ सुहृत् तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः, सप्तांगं राज्यमुच्यते । मनु० ९.२९४

५. एतत् सप्तात्मकं राज्यम् । शान्ति० ६९.६५

६. स्वाम्यमात्य-जनपद-दुर्ग-कोश-दण्ड-मित्राणि प्रकृतयः । अर्थ० पृ० ५३५

७. स्वाम्यमात्यसुहृत्कोश - राष्ट्रदुर्गबलानि च ।
सप्तांगमुच्यते राज्यम् । शुक्र० १.६१

८. मनु० ९.२९६

कौटिल्य का कथन है कि उत्तम राजा इन सबको उत्कृष्ट बना लेता है और अपने राज्य को बढ़ाता हुआ सारी पृथ्वी का स्वामी हो जाता है।[९]

वेदों में राजा, अमात्य, राष्ट्र, सेना, कोश (बलि), पुर (दुर्ग) और मित्र शब्दों का प्रयोग आया है, परन्तु राज्य के अंग के रूप में नहीं। राज्य के सप्तांग की कल्पना वेदों में अप्राप्य है। यह परवर्ती राजनीतिशास्त्रकर्ताओं की देन है। कौटिल्य, मनु और महाभारत में इन सप्तांगों का स्पष्ट उल्लेख है। ईसापूर्व चतुर्थ शती के राजनीतिशास्त्रकार कौटिल्य और मनु का कथन है कि राज्य एक सजीव एकात्मक संस्था है। यह एक अदृढ संगठन नहीं है, अपितु सुदृढ संस्था है। कौटिल्य का कथन है कि ये सातों अंग परस्पर अनुस्यूत राज-संपत्ति हैं।[१०] मनु का कथन है कि ये सातों अंग इसी प्रकार परस्पर संबद्ध हैं, जैसे त्रिदंड (तिपाई) के तीन पैर। ये परस्पर उपकारक हैं।[११]

आधुनिक राजनीतिशास्त्र के अनुसार भूप्रदेश, जनता और केन्द्रीय शासन ये तीन राज्य के आवश्यक अंग माने जाते हैं। इनकी सप्तांगों से तुलना करने से ज्ञात होता है कि सप्तांगों में राजा और अमात्य ये केन्द्रीय शासन (सरकार) के रूप में हैं। राष्ट्र या जनपद भूप्रदेश हैं। पुर, दुर्ग या राजधानी यह जनता के स्थान पर हैं। इस प्रकार आधुनिक राजशास्त्र की आवश्यकताओं को ये सप्तांग पूरा करते हैं। राजा और मंत्रिपरिषद् में केन्द्रीय शासन संनिविष्ट था। ये राज्यशासन को एक सूत्र में पिरोते थे। राष्ट्र या भूप्रदेश राज्य का आवश्यक अंग था। दुर्ग और सेना राज्य की रक्षा के लिए अनिवार्य थे। राज्य के सुप्रबन्ध के लिए कोश-संग्रह अनिवार्य अंग है। मित्रराष्ट्रों की आवश्यकता इसलिए थी कि कोई बलवान् राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को उत्पीडित न करे। मित्रराष्ट्रों की संगठनात्मक एकता उनके सह-अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक थी, इसलिए मित्र का उल्लेख है।

२. राज्य का आवयविक स्वरूप

वेदों में राज्य के आवयविक स्वरूप (Organic Nature of State) के कुछ चिह्न उपलब्ध हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के पुरुषसूक्त में सृष्टिरचना का वर्णन मिलता है। इसमें आवयविक सिद्धान्त को अपनाया गया है। इसमें कहा गया है कि सृष्टिरचना से पूर्व समस्त जगत् समष्टिरूप में विराट् पुरुष था। उससे ही समस्त जगत् का विकास हुआ।

---

९. अर्थ० पृ० ५३९

१०. अरिवर्जा: प्रकृतय:, सप्तैता: स्वगुणोदया: ।
उक्ता: प्रत्यङ्गभूतास्ता:, प्रकृता राजसंपद: ।। अर्थ० पृ० ५३८

११. सप्तांगस्य राज्यस्य, विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यगुणवैशेष्याद्, न किंचिदतिरिच्यते ।। मनु० ९.२९६

उस विराट् पुरुष या महामानव के विभिन्न अंगों से सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि की उत्पत्ति हुई।[१२] उससे ही द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी की सृष्टि हुई।[१३] उस विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य (क्षत्रिय), जंघा (उदर) से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न हुए।[१४] इस प्रकार समाज का उद्भव विराट् पुरुष से माना गया है। यजुर्वेद मे एक सुन्दर उपमा देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सारे पक्षी एक घोंसले में एकत्र हो जाते हैं, उसी प्रकार संसार की सभी वस्तुएँ उस विराट् पुरुष में एकत्र होकर रहती हैं। उसीसे इसका विकास होता है और उसी में इसका अन्त होता है।[१५]

यजुर्वेद के एक अध्याय में राज्य की कल्पना विराट् पुरुष के रूप में की गई है और राज्य के विविध अंगों को पुरुष के अंग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मंत्र में कहा गया है कि — राष्ट्र (भूभाग) मेरी (विराट् पुरुष की) पीठ है। प्रजा (विश्) मेरी ग्रीवा, कंधे, कटि, जंघा और घुटने हैं।[१६] कोश (श्री) मेरा सिर है, यश (कीर्ति) मेरा मुख है, तेजस्विता मेरे केश और दाढ़ी-मूंछ हैं, राजा मेरा प्राण है।[१७] मित्रबल मेरा सहायक अंग है।[१८] बल मेरी भुजाएँ हैं, पुरुषार्थ मेरे हाथ हैं, क्षात्रधर्म मेरी आत्मा है।[१९] ज्ञान-विज्ञान मेरी नाभि हैं, धर्म (न्याय) मेरे पैर हैं।[२०]

इन मंत्रों में राज्य के आवयविक स्वरूप का विशद वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि वेदों में राज्य के आवयविक स्वरूप का उल्लेख है।

शुक्रनीति में राज्य की एक वृक्ष से उपमा देते हुए इसके अंग-प्रत्यंगों का विशद वर्णन किया गया है। शुक्राचार्य का कथन है कि राज्यरूपी वृक्ष का मूल (जड़) राजा है, मन्त्रिगण

---

१२. ऋग्० १०.९०.१३ । यजु० ३१.१२
१३. ऋग्० १०.९०.१४ । यजु० ३१.१३
१४. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्० । ऋग्० १०.९०.१२ । यजु० ३१.११
१५. यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन् इदं सं च वि चैति सर्वम् ।। यजु० ३२.८
१६. पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्, अंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी । .. जानुनी विशः । यजु० २०.८
१७. शिरो मे श्रीः, यशो मुखं, त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि, राजा मे प्राणः । यजु० २०.५
१८. मित्रं मे सहः । यजु० २०.६
१९. बाहू मे बलमिन्द्रियम्, हस्तौ ये कर्म वीर्यम् ।
आत्मा क्षत्रमुरो मम । यजु० २०.७
२०. नाभिर्मे चित्तं विज्ञानम्, पद्भ्यां धर्मोऽस्मि । यजु० २०.९

उसका स्कन्ध (तना) है, सेनापति लोग उसकी शाखाएँ हैं, सेनाएँ उसके पत्ते हैं, प्रजा उसके फूल हैं, राष्ट्रीय समृद्धि उसके फल हैं और सारा राज्य (सारी भूमि) उसका बीज है।[२१]

इससे ज्ञात होता हैकि राज्य के अंग-प्रत्यंगों की कल्पना प्राचीन राजनीतिशास्त्रकारों ने की थी।

३. वैदिक और पाश्चात्त्य आवयविक सिद्धान्त में अन्तर

वैदिक आवयविक सिद्धान्त 'एकोऽहं बहु स्याम्' एक का अनेक रूप में प्रकट होना और 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' पुनः अनेक का एक में विलय होना, सिद्धान्तों पर आश्रित है। इसमें मूलरूप में एक तत्त्व है, उससे ही अवयव के रूप में राज्य के विभिन्न तत्त्व प्रादुर्भूत हुए, जैसे शरीर के हाथ, पैर आदि अंग। पाश्चात्त्य राजनीतिशास्त्र के विचारकों के अनुसार राज्य एक जीवधारी रचना (Living Organism) है। राज्य के विभिन्न विभाग (Departments) इस सजीव रचना की कोशिकाएँ (Cells) हैं। ये राज्य के विकास के साथ निरन्तर विकसित होती रहती हैं।

डॉ० श्यामलाल पाण्डेय ने पाश्चात्त्य राजनीतिक चिन्तकों के विचारों का उल्लेख किया है और कहा है कि कार्ल जकारिया (Karl Zacharia), कार्ल वोल्ग्राफ (Karl Volgraff), कांस्टेंटिन फ्रैंज़ (Constantin Franz), जे. के. बलांशी (J.K. Balantschi), हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) आदि ने राज्य के आवयविक स्वरूप की जो रूपरेखा खींची है और उसके क्रमिक विकास का जो वर्णन किया है, उसमें और वैदिक सिद्धान्त के स्वरूप एवं उसके विकास में समानता नहीं है।[२२] दोनों के चिन्तन में मौलिक अन्तर है।

वैदिक विचारधारा के अनुसार विराट् ब्रह्म या महामानव से समस्त सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। उसमें केवल राज्य ही नहीं, अपितु समस्त चर-अचर का समावेश है। राज्य उसका आंशिक विकास मात्र है। विराट् पुरुष समस्त जगत् की समष्टि है। चर-अचर जगत् के सभी पदार्थ व्यष्टि हैं। महाप्रलय के समय सारी व्यष्टि का उस विराट् पुरुष में अन्तर्भाव हो जाता है और पुनः सृष्टि के समय सभी पदार्थों का प्रादुर्भाव होता है। समाज और राज्य के सभी अंग विराट् पुरुष के अंग-प्रत्यंग हैं। ये वृक्ष की शाखा-प्रशाखा के तुल्य विस्तृत होते हैं। वैदिक विचारधारा राज्य को सजीव रचना नहीं मानता।

वैदिक आवयविक सिद्धान्त एक विशिष्ट कल्पना है। इसका अपना स्वतंत्र महत्त्व है।

---

२१. राज्यवृक्षस्य नृपतिर्मूलं स्कन्धाश्च मन्त्रिणः ।
शाखाः सेनाधिपाः सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च ।
प्रजाः फलानि भूभागा बीजं भूमिः प्रकल्पिता ।। शुक्र० ५.११

२२. श्यामलाल पांडेय, वेदकालीन राज्यव्यवस्था, पृष्ठ ५०-५१

राजनीतिशास्त्र में इसका विशिष्ट स्थान है। इसकी पूर्णरूप से समानता पाश्चात्त्य राजशास्त्र के अनुसार वर्णित आवयविक सिद्धान्त से नहीं मानी जा सकती है।

४. राज्य के उद्देश्य

यजुर्वेद में राजा के राज्याभिषेक से संबद्ध मंत्रों में राज्य के उद्देश्यों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यजुर्वेद का मत है कि प्रजा की सर्वांगीण उन्नति करना ही राज्य का उद्देश्य या लक्ष्य है।

यजुर्वेद का कथन है कि इन चार प्रमुख कार्यों के लिए राजा का अभिषेक किया जाता है। (१) राजा राज्य में कृषि की उन्नति करे। (२) जनता का सर्वविध कल्याण हो। राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था हो। (३) राज्य में ऐश्वर्य, धन-धान्य और श्री की वृद्धि हो, अर्थात् आर्थिक समृद्धि हो। (४) राज्य में प्रजा का ठीक भरण-पोषण हो, अर्थात् राज्य में कोई भूखा-प्यासा न रहे और प्रजा को अपने स्वास्थ्य एवं नीरोगता आदि के लिए पर्याप्त सुविधा हो।

कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा।[२३]

यजुर्वेद में राजा को वरुण देवता का प्रतिनिधि माना गया है। जिस प्रकार वरुण धर्म अर्थात् न्याय का अधिपति है, उसी प्रकार राज्य में न्याय-व्यवस्था का ठीक संचालन करने वाला राजा है।[२४] वरुण को 'सत्यौजाः' कहा गया है, अर्थात् राजा की ओजस्विता सत्यनिष्ठा या ईमानदारी पर निर्भर है। राजा का उच्च चरित्र ही न्याय की प्रतिष्ठा करता है।[२५] इस प्रकार राज्य में न्याय की प्रतिष्ठा करना राज्य का लक्ष्य है।

यजुर्वेद के एक मंत्र में राज्य के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है। मंत्र का कथन है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजा का अभिषेक किया जाता है। ये हैं — (१) तेजस्विता, ओजस्विता के लिए, (२) शिक्षा-प्रसार के लिए, (३) अन्न-समृद्धि के लिए, (४) प्रजा की नीरोगता के लिए, (५) जनता के संरक्षण के लिए और शक्तिसंचय के लिए, (६) श्री-वृद्धि के लिए, (७) राज्य के यश की वृद्धि के लिए।[२६]

राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह अकाल, दुर्भिक्ष, अन्नाभाव, भुखमरी जैसे मृत्यु के कारणों से जनता की रक्षा करे।[२७] राज्य का यह भी लक्ष्य होना चाहिए कि अत्याचारी,

---

२३. यजु० ९.२२

२४. वरुणो धर्मपतीनाम् । यजु० ९.३९

२५. वरुणोऽसि सत्यौजाः । यजु० १०.२८

२६. तेजसे ब्रह्मवर्चसाय, सरस्वत्यै, वीर्याय, अन्नाद्याय, बलाय, श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि । यजु० २०.३

२७. मृत्योः पाहि विद्योत् पाहि । यजु० २०.२

अन्यायी, चोर, डाकू आदि जनता को अस्त्र-शस्त्रों का भय दिखाकर लूट न सकें।[२८] वेद के इस मंत्र में आक्रामकों के शस्त्रादि के लिए 'दिद्यु' शब्द का प्रयोग है।

इसके साथ ही धार्मिक विचारों की वृद्धि, नृत्य, गीत आदि संस्कृतिक क्रियाकलापों को प्रोत्साहन देना, कला-कौशल और शिल्प की उन्नति की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है।[२९]

शुक्राचार्य ने राज्य का लक्ष्य बताया है — पुरुषार्थचतुष्टय या चतुर्वर्गफलावाप्ति। पुरुषार्थचतुष्टय में चार बातें आती हैं — (१) धर्म अर्थात् धर्म की वृद्धि। धर्म में सदाचार, सत्यनिष्ठा, परोपकार और सहिष्णुता आदि गुण आते हैं। इनकी वृद्धि करना। (२) अर्थ अर्थात् आर्थिक उन्नति के साधनों का विकास, कृषि से संबद्ध सिंचाई आदि की सुविधा, भूगर्भ से खनिजों आदि की प्राप्ति। (३) काम अर्थात् जनता की कामनाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति। शान्ति, सुव्यवस्था, शान्ति से जीवनसुख भोगने की सुविधा देना आदि। साथ ही संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं की सुविधा प्रदान करना। (४) मोक्ष — जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत करते हुए मुक्ति या आत्मतत्त्व का दर्शन प्राप्त करना।[३०]

इस प्रकार शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करना तथा जनता का सर्वांगीण सांस्कृतिक, नैतिक और भौतिक विकास करना राज्य का उद्देश्य था।

इसी लक्ष्य की पूर्ति करने वाले राजा अश्वपति का छान्दोग्य उपनिषद् में कथन है कि मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कृपण और न कोई सुरापायी। ऐसा कोई नहीं है जो यज्ञ न करता हो, कोई अशिक्षित नहीं है, कोई व्यभिचारी नहीं है। व्यभिचारिणी का तो प्रश्न ही नहीं उठता।[३१]

५. राज्य के कार्य

यजुर्वेद के कुछ मंत्रों से राज्य के कार्यों पर प्रकाश पड़ता है। राज्य के कार्यों में कुछ विशेष उल्लेखनीय कार्य ये थे — (१) प्रजा को संरक्षण देना और उसको पुष्ट करना।[३२]

---

२८. अति दिद्यून् पाहि । यजु० १०.१७

२९. धर्माय सभाचरम्, नृत्ताय सूतम्, गीताय शैलूषम्, रूपाय मणिकारम्, हेत्यै धनुष्कारम्, महसे वीणावादम् । यजु० ३०.६, ७ और १९

३०. सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृद् नीतिशास्त्रकम् ।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ।। शुक्र० १.५

३१. न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ।। छान्दो० ५.११.५

३२. राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानः । यजु० ९.२५

(२) माता-पिता जिस प्रकार पुत्र की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार प्रजा की रक्षा करना।[३३] (३) प्रजा के हित के लिए विविध नवीन योजनाओं को कार्यान्वित करना तथा जो योजनाएँ श्रेयस्कर सिद्ध हुई हों, उन्हें बारबार चालू करना।[३४] (४) महान् जनराज्य की स्थापना करना, अर्थात् जनता को अधिक से अधिक अधिकार देना और जनता को अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति सचेत करना।[३५] (५) न्याय और सुव्यवस्था को प्राथमिकता देना।[३६]

कौटिलीय अर्थशास्त्र का कथन है कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है और प्रजा के हित में ही राजा का हित है। इसलिए राजा का अपना प्रिय या हित कुछ नहीं है, प्रजाजनों का हित ही राजा का हित और प्रिय है।[३७] कौटिल्य का यह भी कथन है कि उद्योग और विकास कार्य से ही उन्नति होती है। इसीसे धन और वैभव मिलता है।[३८]

इससे ज्ञात होता है कि राजा और राज्य के मुख्य कार्य हैं — प्रजा का हित करना, उसकी रक्षा करना, उसके उद्योग और विकास कार्यों को आगे बढ़ाना। इस प्रकार राज्य की श्रीवृद्धि होगी।

महाभारत में भी प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रथम कार्य माना गया है।[३९] राजा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे और प्रजा को सुरक्षा प्रदान करे।[४०] राजा का प्रमुख कार्य है — सभी प्राणियों की रक्षा करना।[४१] इससे ज्ञात होता है कि प्रजा को सुरक्षा प्रदान करना राज्य का प्रथम कर्तव्य है।

महाभारत ने राज्य के प्रति राजा के उत्तरदायित्व से संबद्ध कुछ अन्य उपयोगी बातें भी कही हैं। ये हैं — (१) राजा प्रजा का धर्मानुसार पालन करे और प्रजा को भयमुक्त रखे। ऐसा राजा राज्य को सुखी बनाता है।[४२] (२) जिस राज्य में बलात्कार की घटनाएँ नहीं होती

---

३३. पुत्रमिव पितरौ... अवथुः । यजु० १०.३४
३४. बहुकार श्रेयस्कर भूयस्कर । यजु० १०.२८
३५. महते जानराज्याय । यजु० १०.१८
३६. वरुणो धर्मपतीनाम् । यजु० ९.३९
३७. प्रजासुखे सुखं राज्ञः, प्रजानां च हिते हितम् ।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः, प्रजानां तु प्रियं हितम् ।। अर्थ० पृ० ७७
३८. प्राप्यते फलमुत्थानात्, लभते चार्थसंपदम् । अर्थ० पृ० ७८
३९. संरक्ष्यान् पालयेद् राजा, स राजा राजसत्तमः । शान्ति० ८९.१०
४०. शत्रून् जय प्रजा रक्ष । शान्ति० ८९.९
४१. रक्षणं सर्वभूतानामिति क्षात्रं परं मतम् । शान्ति० १२०.३
४२. दत्त्वाऽभयं स्वयं राजा, प्रमाणं कुरुते यदि ।
स सर्वसुखकृद् ज्ञेयः, प्रजा धर्मेण पालयन् ।। शान्ति० १३९.१०२

हैं और गरीबों का उत्पीडन नहीं होता है तथा राजा-प्रजा का पाल्य-पालक संबन्ध होता है, वह राजा श्रेष्ठ है।[४३] (३) राज्य में भीख माँगने वाले न हों। चोर और डाकुओं का सफाया किया जाय।[४४] (४) जो प्रजा की उन्नति में सहायक हों और जीवों पर दया करने वाले हों, ऐसे लोगों को ही राज्य में रहने दिया जाय, अन्यों को नहीं।[४५] (५) राजा राज्य के विकास कार्यों के लिए धनिकों का सहयोग ले और उनका संमान करे।[४६] (६) राजा का कर्तव्य है कि वह शान्ति से न बैठे और राज्य के विकास के लिए योजनाएँ तैयार करता रहे।[४७] (७) राजा का कर्तव्य है कि लोगों के धार्मिक क्रियाकलापों में किसी प्रकार का विघ्न न डाले और न आने दे।[४८] इसका अभिप्राय यह है कि राज्य में धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण उत्पन्न किया जाय।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह सभी धार्मिक मतों को अपने मतानुसार क्रियाकलाप करने की सुविधा दे, विकास कार्यों के लिए धनिकों और व्यापारियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करे, समाज को उन्नति की ओर ले चले, कला-कौशल की वृद्धि करे, दीन-हीनों का सहयोग करे, निर्धनों का उत्पीडन न होने दे, बलात्कार चोरी डकैती को समूल नष्ट करे, प्रजा को भयमुक्त करे, जो विकास और शान्ति-व्यवस्था में सहायक हों, उन्हें प्रश्रय दिया जाय और विकास की नवीन योजनाएँ तैयार की जायें।

●

---

४३. यत्र नास्ति बलात्कारः, स राजा तीव्रशासनः ।
भीरेव नास्ति संबन्धो, दरिद्रं यो बुभूषते ।। शान्ति० १३९.९७

४४. मा ते राष्ट्रे याचनका, भूवन् मा चापि दस्यवः । शान्ति० ८८.२४

४५. ये भूतान्यनुगृह्णन्ति, वर्धयन्ति च ये प्रजाः ।
ते ते राष्ट्रेषु वर्तन्तां, मा भूतानामभावकाः ।। शान्ति० ८८.२५

४६. धनिनः पूजयेन्नित्यं, पानाच्छादनभोजनैः ।
वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं, प्रजाः सह मयेति वै ।। शान्ति० ८८.२९

४७. पश्येदुपायान् विविधैः क्रियापथैः,
न चानुपायेन मतिं निवेशयेत् ।। शान्ति० १२०.५४

४८. धर्माणामविरोधेन सर्वेषां प्रियमाचरेत् । शान्ति० १२०.२५

अध्याय ५

राज्य के विभिन्न तत्त्व

१. तत्त्व और अंग में अन्तर

२. राज्य के तत्त्व

३. वेदों में राज्य के तत्त्व

४. ब्रह्म का स्वरूप

५. क्षत्र का स्वरूप

६. विश् का स्वरूप

७. राष्ट्र का स्वरूप

८. वेदोत्तर काल में राज्य के तत्त्व

अध्याय ५

राज्य के विभिन्न तत्त्व

१. तत्त्व और अंग में अन्तर

किसी वस्तु या पदार्थ के उपादान कारण को तत्त्व कहते है। तत्त्व संघटन के मूल कारण हैं। यदि वे मूल कारण नहीं होंगे तो उस पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहेगा। जैसे – जल दो तत्त्वों के संयोग से बनता है — आक्सीजन (Oxygen) और हाइड्रोजन (Hydrogen)। इनमें से किसी तत्त्व के अभाव में जल की स्थिति नहीं होगी। मानव शरीर पंच तत्त्वात्मक है – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इनमें से किसी एक तत्त्व के अभाव में मानव शरीर की सत्ता नहीं होगी। अंग या अवयव पदार्थ के संघटक हैं। इनका पृथक् पृथक् कार्यों में उपयोग होता है। जैसे – मानव शरीर में हाथ, पैर आदि। किसी एक अंग की क्षति होने पर शरीर विकृत होगा, परन्तु उसका अस्तित्व बना रहेगा।

इसी प्रकार राज्य एक संघटन है। इसका निर्माण किन तत्त्वों के आधार पर हुआ है? ये तत्त्व कितने हैं और इनकी क्या उपयोगिता है? इसका यहां विवेचन किया जाएगा। साथ ही राज्य के कितने अंग हैं, इनका क्या कार्य है और वे किस रूप में राज्य के संचालन में सहयोग देते हैं, इनकी चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी।

२. राज्य के तत्त्व

वैदिक साहित्य में राज्य के तत्त्वों का विशद वर्णन प्राप्त नहीं होता है। वेद मंत्रों में कुछ संकेत प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर इन तत्त्वों का स्वरूप–निर्धारण किया जा सकता है। ये तत्त्व हैं — ब्रह्मन् (ब्रह्म, ब्राह्मण), क्षत्र (क्षत्रिय), विश् (प्रजा, वैश्य), राष्ट्र (भू-भाग)।

३. वेदों में राज्य के तत्त्व

वेदों में राज्य के तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। कतिपय संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि ब्रह्म, क्षत्र, विश् और राष्ट्र, ये राज्य के तत्त्व हैं। यजुर्वेद में दो स्थलों पर ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय की चर्चा की गई है और कहा गया है कि जहाँ पर ब्रह्म और क्षत्र दोनों मिलकर कार्य करते हैं, वह देश या राष्ट्र पवित्र समझना चाहिए।[१] दूसरे मंत्र में कहा गया हैं कि जहाँ ब्रह्म और क्षत्र दोनों समन्वयभाव से कार्य करते

---

१. यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च, सम्यञ्चौ चरत: सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं, यत्र देवा: सहाग्निना।। यजु० २०.२५

हैं, वहाँ श्री और वैभव का निवास होता है।[२] अथर्ववेद में पुरोहित के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह ब्रह्म और क्षत्र दोनों को तेजस्वी और उग्र बनाता है।[३]

अथर्ववेद में व्रात्य ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहा गया है कि व्रात्य ब्रह्म से सर्वप्रथम ब्रह्म और क्षत्र प्रकट हुए। इन दोनों ब्रह्म और क्षत्र शक्तियों का कहाँ निवास हो, इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म शक्ति ने बृहस्पति में प्रवेश किया और क्षत्र शक्ति ने इन्द्र में। यह पृथ्वी बृहस्पति है और द्युलोक इन्द्र है। यह भौतिक अग्नि ब्रह्म है और सूर्य क्षत्र शक्ति है।[४]

अथर्ववेद के इस वर्णन की समीक्षा करने से ज्ञात होता हैं कि ब्रह्म और क्षत्र ये दोनों एक–दूसरे से संबद्ध हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। बृहस्पति ज्ञान, चेतना और सद्बुद्धि का देवता है। वह ब्रह्मशक्ति का प्रतीक है। दूसरी ओर इन्द्र क्षत्रशक्ति का प्रतीक है। वह नियन्ता, दृढ़ प्रशासक और शत्रुओं का नाशक है। ब्रह्म और क्षत्र शक्ति में पृथ्वी और द्युलोक जैसा संबन्ध बताया गया है। द्युलोक शक्ति देता है और पृथ्वी उसे धारण करती है। दोनों को पोष्य–पोषक संबन्ध है। इसी प्रकार ब्रह्म शक्ति अग्नि या तेजोरूप है तो क्षत्रशक्ति सूर्यरूप है। ब्रह्मशक्ति अग्निरूप में प्रकाशक और मार्गदर्शक है तो क्षत्रशक्ति सूर्यरूप में प्रशासक, नियन्ता, निग्रह और अनुग्रह का कर्ता है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

वेदों में ब्रह्म और क्षत्र शक्ति के अतिरिक्त दो अन्य तत्त्वों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ये हैं – राष्ट्र और विश्। राष्ट्र का अभिप्राय देश या भू–भाग है। विश् का अभिप्राय है – उस भू–भाग में निवास करने वाली प्रजा। अनेक मंत्रों में राष्ट्र और विश् का एक साथ उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में राजा के लिए कथन है कि सारी प्रजा (विश्) तुझे चाहे और तेरा राष्ट्र अवनति को प्राप्त न हो।[५] अथर्ववेद में राष्ट्र और विश् का एक साथ उल्लेख करते हुए कहा गया है कि राजा ब्रह्म (रोहित) के द्वारा प्रदत्त राष्ट्र और विश् (प्रजा) की रक्षा के कार्य में सदा जागरूक रहे।[६] यजुर्वेद में भी राष्ट्र और विश् का एक साथ उल्लेख है। राजा

---

२. इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं, चोभे श्रियमश्नुताम् । यजु० ३२.१६

३. संशितं म इदं ब्रह्म, संशितं वीर्यं बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु, जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः।। अ० ३.१९.१

४. अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठताम् ।
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशद्, इन्द्रं क्षत्रम् ।
इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिः, द्यौरेवेन्द्रः।
अयं वा उ अग्निर्ब्रह्म, असावादित्यः क्षत्रम् । अ० १५.१०.३ से ७

५. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु, मा त्वद् राष्ट्रमधि भ्रशत् । ऋग्० १०.१७३.१

६. विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य। अथर्व० १३.१.९

राष्ट्र के अंगों का शरीर के अवयवों रूप में वर्णन करते हुए कहता है कि – राष्ट्र मेरी पीठ है और विश् (प्रजा) चारों ओर फैले हुए मेरे अंग हैं।[७]

इससे ज्ञात होता है कि वेदों में राज्य के तत्त्वों के रूप में ब्रह्म, क्षत्र, विश् और राष्ट्र की कल्पना की गई है। इन चारों तत्त्वों का क्या स्वरूप था तथा राज्य के संगठन में इनका क्या महत्त्व था, इस विषय पर कुछ विचार आवश्यक है।

४. ब्रह्म का स्वरूप

वेदों में ब्रह्मन् (ब्रह्म) को राज्य का आधार माना गया है। ब्रह्म ब्रह्मशक्ति का प्रतीक है। राज्य के निर्माण में, राज्य के संचालन में, राज्य के योजनाबद्ध विकास में, राज्य की शान्ति और सुव्यवस्था में, राज्य के सर्वांगीण समुन्नयन में, ब्रह्मशक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। ब्रह्म नियन्ता, प्रेरक, मार्गदर्शक, उन्नायक और आचारशिक्षक है। राज्य का लक्ष्य होता है – प्रजा का संरक्षण, संवर्धन, पालन-पोषण, कष्टों का निवारण और उनकी सर्वांगीण उन्नति करना। यह कार्य प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग नहीं कर सकता है। इसके लिए अनुभवी, ज्ञानी, वृद्ध, त्यागी, तपस्वी और आचरणशील विद्वानों की आवश्यकता होती है। इसकी पूर्ति के लिए ही ब्रह्मवर्ग या ज्ञानियों की आवश्यकता पड़ती है। ब्रह्मशक्ति ही ब्रह्मबल या बुद्धिबल है। विद्वान् राष्ट्र की समस्याओं पर विचार करते हैं; उनके समाधान के लिए विविध योजनाएं प्रस्तुत करते हैं। वे सभी प्रकार के संकटों को दूर करने के लिए, विकास कार्यों को प्रगति देने के लिए और राज्य के योगक्षेम के लिए नवीन योजनाएँ प्रस्तुत करते हैं। इसलिए राज्य के संचालन के लिए ज्ञानतत्त्व, बुद्धितत्त्व, चिन्तनशक्ति या ब्रह्मशक्ति की परम आवश्यकता होती है। यह कार्य ब्रह्मतत्त्व पूरा करता है। वह राज्य में शान्ति, सुव्यवस्था, विकास और संरक्षण का समस्त उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है और राज्य का मार्गदर्शन करता है। अतएव शतपथ ब्राह्मण में बहुत सुन्दर कहा गया है कि – योजनाओं आदि का चिन्तन ब्रह्म या ब्राह्मण का कार्य है, परन्तु उसको कार्यान्वित करना क्षत्रिय का उत्तरदायित्व है।[८] इससे ज्ञात होता है कि राज्य के अस्तित्व के लिए ब्रह्मतत्त्व अनिवार्य है।

५. क्षत्र का स्वरूप

मानवमात्र में दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं – दैवी और आसुरी। दैवी वृत्तियाँ मनुष्य को सद्गुणों की ओर प्रवृत्त करती हैं और आसुरी वृत्तियाँ दुर्गुणों की ओर। इन दोनों वृत्तियों का मानवजीवन में सदा संघर्ष चलता रहता है। दैवी वृत्तियों की विजय होने पर मनुष्य उन्नति

---

७. पृष्ठीर्मे राष्ट्रम् ,विशो मेऽङ्गानि सर्वतः। यजु० २०.८

८. अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्ता क्षत्रियः। शत० ४.१.४.१

की ओर अग्रसर होता है और आसुरी वृत्तियों की प्रबलता होने पर अवनति की ओर। आसुरी वृत्तियाँ प्रबल होने पर समाज में अनाचार, अत्याचार, शोषण और असुरक्षा उत्पन्न करती हैं। इनके निग्रह के लिए और समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था के लिए क्षत्र शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति ही पथ–भ्रष्ट और कुमार्गगामी तत्त्वों को निग्रह करके एवं दंड देकर सुपथ पर लाती है। इस शक्ति के कठोर नियम से ही समाज में सुरक्षा, सुव्यवस्था और शान्ति की स्थापना होती है।

ऊपर कहा गया है कि ब्रह्मशक्ति योजनाओं आदि का निर्माता है, परन्तु उसको क्रियान्वित करने का काम क्षत्रिय या क्षत्र शक्ति करती है। अतः शान्ति एवं सुव्यवस्था का पूरा उत्तरदायित्व क्षत्र बल पर होता है। इसलिए ब्रह्मबल के तुल्य क्षत्रबल भी उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि क्षत्र बल को ही राजन्यवर्ग कहते हैं।[९] यह राष्ट्र की रक्षा करता है, अतः इसे राष्ट्र भी कहते हैं।[१०] कालिदास ने भी रघुवंश में क्षत्र की यही व्याख्या की है। क्षति, हानि, असुरक्षा से रक्षा के कारण राजा का नाम क्षत्र (क्षत+त्र अर्थात् क्षति से त्र रक्षा करने वाला) पड़ा है।[११] यही भाव यजुर्वेद में भी दिया गया है कि राजा क्षात्रधर्म का आधार है और क्षात्रधर्म का केन्द्र है।[१२] अर्थात् राष्ट्र की सुरक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व क्षत्रशक्ति या राजा पर होता है।

वेदों में ब्रह्म और क्षत्रशक्ति के समन्वय का उल्लेख अनेक स्थानों पर है।[१३] जहाँ ब्रह्म और क्षत्रशक्ति परस्पर मिलकर कार्य करते हैं, वहाँ पर श्री का निवास होता है।[१४] ब्रह्म नेत्र है। तो क्षत्र हाथ। ब्रह्म मार्गदर्शन करता है तो क्षत्र उसे क्रियान्वित करता है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। ब्रह्म योजना और विचार देता है। अतः ब्रह्म को क्षत्र का योनि या कारण कहा जाता है।[१५] पहले विचार आते हैं, फिर कार्य होता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों में क्षत्र से पूर्व ब्रह्म की सत्ता मानी गई है।[१६] पहले ब्रह्म हुआ, फिर क्षत्र। ब्रह्म से ही क्षत्र का निर्माण हुआ।[१७]

---

९. क्षत्रं राजन्यः । ऐत० ८.६

१०. क्षत्रं हि राष्ट्रम् । ऐत० ७.२२

११. क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः,
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। रघुवंश सर्ग २.५३

१२. क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि। यजु० २०.१

१३. यजु० २०.२५

१४. यजु० ३२.१६

१५. सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। शत० १४.४.२.२३

१६. ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात् । तांड्य ब्रा० ११.१.२

१७. ब्रह्मणः क्षत्रं निर्मितम् । तैत्ति० ब्रा० २.८.८.९

इसका अभिप्राय यह है कि पहले विचारशील विद्वान् हुए। उन्होंने सामाजिक चिन्तन किया और योजनाएँ बनाईं। उन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने एक विशिष्ट क्षत्र वर्ग को जन्म दिया, जो उन योजनाओं को कार्यान्वित करते हुए राष्ट्र का विकास कर सके और राज्य को सुरक्षा प्रदान करे। इस दृष्टि से ब्राह्मण पहले हुए और क्षत्रिय बाद में।

ब्रह्म और क्षत्र के संबन्ध के विषय में ब्राह्मणग्रन्थों में बहुत विचार हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि जिस राष्ट्र में क्षत्र शक्ति ब्रह्मशक्ति के अधीन होकर उसके निर्देशानुसार कार्य करती है, वह राष्ट्र सदा समृद्ध होता है और वहाँ सुयोग्य वीर उत्पन्न होते हैं।[१८] शतपथ ब्राह्मण में भी यही भाव प्रकारान्तर से दिया गया है कि क्षत्रिय को जब भी कोई विशेष कार्य करना हो तो वह पहले ब्राह्मण की राय लें।[१९] इसका अभिप्राय यह है कि विद्या, बुद्धि, ज्ञान और योजनाओं आदि का जहाँ तक संबन्ध है, यह सारा काम विद्वानों और ब्राह्मणों का है। विचार ब्राह्मणों के अनुसार होने चाहिए और कार्य क्षत्रिय के अनुसार। महाभारत का भी कथन है कि ब्राह्मणों ने दण्डधारण और रक्षा का अधिकार क्षत्रियों को दिया। तदनुसार ये लोकों की धर्मानुसार रक्षा करते हैं। इस प्रकार यह चराचर जगत् सुरक्षित होता रहा है।[२०]

शतपथ ब्राह्मण ने व्यवस्था दी है कि यद्यपि ब्राह्मण पूज्य है और उच्च स्थान का अधिकारी है, परन्तु राज्याभिषेक हो जाने पर राजा का स्थान उच्च हो जाता है और ब्राह्मण राजसूय यज्ञ में राजा के नीचे स्थान ग्रहण करता है।[२१]

ब्रह्म और क्षत्र अन्योन्याश्रित हैं। ब्रह्म नेत्र है तो क्षत्र हाथ। मार्गदर्शन के लिए नेत्र की आवश्यकता है और कार्यान्वयन के लिए हाथ की। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे के पूरक और परस्पर संबद्ध हैं, ब्रह्म ज्ञान देता है और क्षत्र सभी विघ्न–बाधाओं को दूर करके उस कार्य को सफल बनाता है।

६. विश् का स्वरूप

वेदों में ब्रह्म और क्षत्र के अतिरिक्त विश् का उल्लेख मिलता है। इसका वर्णन मुख्य रूप से राष्ट्र के साथ मिलता है।[२२] इसमें राष्ट्र की रक्षा के साथ ही विश् की रक्षा करना राजा

---

१८. तद् यत्र ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति, तद् राष्ट्रं समृद्धं तद् वीरवद्। ऐत० ८.९

१९. तस्मादु क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेनोपसर्तव्य एव ब्राह्मणः। शत० ४.१.४.६

२०. ब्राह्मणेभ्यश्च राजन्या, लोकान् रक्षन्ति धर्मतः।
स्थावरं जंगमं चैव, क्षत्रियेभ्यः सनातनम् ।। महा० शान्ति० १२२.५०

२१. तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियम् अधस्ताद् उपास्ते राजसूये। शत० १४.४.२.२३

२२. विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य। अथर्व० १३.१.९

का कर्तव्य बताया गया है। यजुर्वेद के एक मंत्र में राष्ट्र को राजा की पीठ और विश् को उसके शरीर का अंग बताया गया है।[२३] इससे ज्ञात होता है कि राष्ट्र और विश् का घनिष्ठ संबन्ध है। राष्ट्र शरीर है और विश् उसके अवयव हैं।

विश् का क्या अर्थ है ? इस विषय में वेद के अनेक मंत्रों से ज्ञात होता है कि विश् शब्द का प्रयोग राज्य में निवास करने वाली प्रजा के लिए है। राजा के लिए कहा गया है कि वह निर्भय होकर विश् (प्रजा) की रक्षा करे।[२४] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि जो राजा ब्रह्मा (ब्रह्मशक्ति) को आगे रखकर अर्थात् उसके निर्देशानुसार आचरण करता है, उसको विश् (प्रजा) स्वयं नमस्कार करती है।[२५] कुछ मंत्रों में प्रजा के उपविभाग के लिए भी विश् शब्द का प्रयोग हुआ है। दैवीः विशः (दिव्य गुणों वाली प्रजा), मानुषीः विशः (मानवीय प्रजाएं) का उल्लेख मिलता है।[२६] इसी प्रकार आस्तिक और देवभक्तों के लिए 'आर्याः विशः' और नास्तिकों के लिए 'अदेवीः विशः' का प्रयोग हुआ है।[२७] यजुर्वेद में प्रजा मात्र के लिए विश् शब्द का प्रयोग हुआ है। मंत्र का कथन है कि विश् (प्रजा) में ही राजा का अस्तित्व प्रतिष्ठित है अर्थात् राजा का वस्तुतः आधार प्रजा ही है।[२८] वेदों में कुछ स्थलों पर वैश्य वर्ण के लिए भी विश् शब्द का प्रयोग हुआ है।[२९]

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रजा मात्र के लिए विश् शब्द का प्रयोग मिलता है। राज्य या राष्ट्र में रहने वाले सभी विश् हैं।[३०] विश् का अर्थ प्रजामात्र है।[३१] सारी प्रजा को विश् कहते हैं।[३२] शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि ब्रह्म शक्ति और क्षत्रशक्ति इन दोनों का

---

२३. पृष्ठीमें राष्ट्रम्, विशो मेऽङ्गानि सर्वतः। यजु० २०.८

२४. भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः। ऋग्० ४.४.३

२५. तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ति,
यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति। ऋग्० ४.५०.

२६. दैवीश्च विशो मानुषीश्च। यजु० १७.८६

२७. यदी विशो वृणते दस्ममार्याः। ऋग्० १०.११.४
विशो अदेवीः। ऋग्० ८.९६.१५

२८. विशि राजा प्रतिष्ठितः। यजु० २०.९

२९. क्षत्राय च विशे च समदं दध्याम्। तैत्ति० सं० २.२.११.२
अन्य सन्दर्भ — मैत्रा० सं० २.१.९।३.३.१०। काठक सं० १९.९

३०. राष्ट्राणि वै विशः। ऐत ब्रा० ८.२६

३१. विशो वै पस्त्याः। शत० ५.४.४.५

३२. आद्या हीमाः प्रजा विशः। शत० ४.२.१.१७

आधार भी विश् ही हैं।[३३] अर्थात् राज्य का अस्तित्व वस्तुतः प्रजा पर निर्भर है। जब प्रजा होगी, तभी ब्रह्म और क्षत्र शक्तियां कुछ कार्य कर सकेंगी।

इससे ज्ञात होता है कि राज्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश् है। विश् (प्रजा) होगी तभी प्रशासन हो सकेगा, तभी सभी प्रकार की योजनाएँ चल सकेंगी। इस प्रकार ब्रह्म और क्षत्र दोनों का आधार विश् है। विश् (वैश्य) ही सारे राज्य-तंत्र की अर्थव्यवस्था का आधार है।

राज्य के तत्त्व के रूप में जहाँ ब्रह्मतत्त्व ज्ञान और बुद्धि का प्रतीक होकर राज्य का मार्गदर्शन करता है और क्षत्रतत्त्व राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था का उत्तरदायी है, वहाँ विश् तत्त्व राज्य की अर्थव्यवस्था का आधार है। विविध उद्योग-धन्धे, राज्य के भरण-पोषण हेतु सामग्री का उत्पादन, कृषि आदि का विकास और हस्तशिल्पों की उन्नति, पशु-धन की समृद्धि तथा व्यापार और वाणिज्य का संवर्धन, इस तत्त्व का दायित्व होता है।

७. राष्ट्र का स्वरूप

वेदों में राज्य की सीमा के अन्तर्गत आने वाले भूभाग के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग मिलता है। 'राष्ट्रं क्षत्रियस्य'[३४] 'राजा राष्ट्रनाम्'[३५] तथा 'राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य'[३६] आदि संदर्भों से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय के द्वारा शासित भूभाग को राष्ट्र कहते थे। कई राष्ट्रों या भूभागों का एक राजा होता था। जहाँ नारीहरण आदि कुकृत्य नहीं होते थे, उस राष्ट्र को सुरक्षित माना जाता था। अथर्ववेद भूमिसूक्त के कुछ मंत्रो से ज्ञात होता है कि आदर्श राज्य के लिए किस प्रकार का भूभाग होना चाहिए। भूभाग की विशेषताओं में कुछ विशेष उल्लेखनीय बातें ये हैं : १. धन-धान्य की समृद्धि हो।[३७] २. पेय जल और कृषि की सिंचाई आदि के लिए जल की सुविधा हो।[३८] ३. वृक्ष, वनस्पतियां, ओषधियाँ, काष्ठ आदि की सुविधा हो।[३९] ४. पशु-पक्षियों के लिए खाद्य और पेय जल की व्यवस्था हो।[४०] ५. जहाँ रत्न, सुवर्ण

---

३३. तस्माद् ब्रह्म च क्षत्रं च विशि प्रतिष्ठिते। शत० ११.२.७.१६

३४. राष्ट्रं क्षत्रियस्य। ऋग्० ४.४२.१

३५. राजा राष्ट्रानाम्। ऋग्० ७.३४.११

३६. तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य। ऋग्० १०.१०९.३

३७. यस्यामन्नं व्रीहियवौ। अ० १२.१.४२

३८. यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापः। अ० १२.१.३

३९. नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति। अ० १२.१.२

४०. गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा। अ० १२.१.५

आदि खनिज प्राप्त होते हों।[४१] ६. जहाँ समय पर वर्षा होती हो।[४२] ७. जहाँ यातायात की सुविधाएं उपलब्ध हों।[४३] ८. जहाँ हिमाच्छादित पर्वत और जंगल आदि का सुख प्राप्त हो सके।[४४]

ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में आदर्श राष्ट्र के लिए कुछ उपयोगी बातें दी गई हैं। सोम देवता से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि — हे सोमदेव मुझे ऐसे भूभाग (लोक) में निवास स्थान दो, जहाँ आनन्द, आमोद–प्रमोद आदि हों। जहाँ सारी कामनाएँ तृप्त हों।[४५] जहाँ आवश्यकता की सभी वस्तुएं उपलब्ध हों, जहाँ स्वर्ग तुल्य स्थान हो तथा सभी कामनाओं की तृप्ति हो सके।[४६] जहाँ स्वेच्छानुसार गमन की सुविधा हो, प्रकाश की पूर्ण व्यवस्था हो और निरन्तर बहती हुई नदियाँ हो, ऐसे स्थान में मुझे निवास दो।[४७]

यजुर्वेद के एक मंत्र में आदर्श राष्ट्र के प्रमुख गुणों का उल्लेख है। इसे राष्ट्रीय - प्रार्थना भी कहा जाता है। मंत्र का अर्थ है :- हे ब्रह्मन् , हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों। शूरवीर, धनुर्धर, महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। दूध देने वाली गायें, भारवाहक वृषभ, द्रुतगामी अश्व उत्पन्न हों। कुटुम्ब–पालक स्त्रियाँ, विजयी रथी एवं सभ्य युवक उत्पन्न हों। वांछित अवसरों पर मेघ वर्षा करे। राष्ट्र सस्य–सम्पदा से युक्त हो और राष्ट्र में सदा योगक्षेम रहे।[४८]

इस प्रकार राष्ट्र के विषय में कहा जा सकता है कि राष्ट्र ऐसा होना चाहिए, जिसमें राष्ट्र के भरण–पोषण के लिए आवश्यक सभी वस्तुएँ उपलब्ध हों और उनके उत्पादन की क्षमता हो, उसमें शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था हो तथा उसमें निरन्तर विकास की सामर्थ्य हो। इस प्रकार आदर्श राष्ट्र के लक्षणों से युक्त राष्ट्र राज्य का चतुर्थ तत्त्व ज्ञात होना है।

---

४१. निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यम्। अ० १२.१.४४

४२. वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता। अ० १२.१.५२

४३. ये ते पन्थानो बहवो जनायना
रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। अ० १२.१.४७

४४. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यम्०। अ० १२.१.११

४५. यत्रानन्दाश्च मोदाश्च, मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामाः, तत्र माममृतं कृधि।। ऋग्० ९.११३.११

४६. यत्र कामा निकामाश्च, स्वधा च यत्र तृप्तिश्च। ऋग्० ९.११३.१०

४७. यत्र ज्योतिरस्नम्। यत्रानुकामं चरणम्।
यत्रामूर्यह्वतीरापः०। ऋग्० ९.११३. ७,८ और ९

४८. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् , आ राष्ट्रे राजन्यः
शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। यजु० २२.२२

८. वेदोत्तर काल में राज्य के तत्त्व

समयानुसार राज्य के तत्त्वों में कुछ परिवर्तन होता गया। हमें उपनिषदों में इस परिवर्तन का स्वरूप देखने को मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका स्पष्ट संकेत किया गया है कि राज्य के चार तत्त्व ये हैं :– धर्म, क्षत्र, विश् और पूषन् (शूद्र, पृथ्वी)। इसमें ब्रह्म (ब्रह्मन्) का स्थान धर्म ने लिया है और राष्ट्र के स्थान पर पूषा को प्रतिष्ठित किया गया है। इसमें इस बात को भी स्पष्ट किया गया है कि संप्रभुता (Sovereignty) किसमें रहती है। संप्रभुता केवल धर्म में ही रहती है। वही क्षत्र का क्षत्र है अर्थात् राजन्यवर्ग या क्षत्रिय का भी नियन्ता है। वही सर्वोच्च सत्ता है।

धर्म :– बृहदारण्यक उपनिषद् के वर्णन से ज्ञात होता है कि राज्य के तत्त्व के रूप में ब्रह्म को रखने में कुछ सैद्धान्तिक कठिनाई प्रतीत हो रही थी, अतः ब्रह्म के स्थान पर धर्म शब्द को रखा गया। ब्रह्मन् शब्द ब्रह्म (परमात्मा, परमशक्ति) के अर्थ में भी आता है, साथ ही इसका ब्राह्मण अर्थ भी है। ब्रह्म अनन्त, सर्वव्यापक है, अतः उसे राज्य के तत्त्व तक सीमित रखना उचित नहीं था, अतः धर्म शब्द को अपनाया गया और उसमें संप्रभुता स्थापित की गई।

बृहदारण्यक का कथन है कि चारों वर्णों की सृष्टि कर देने पर भी ब्रह्म विभूतियुक्त नहीं हुआ। वह सर्वसामर्थ्ययुक्त कार्य करने में समर्थ नहीं हुआ। सबके नियन्त्रण का अधिकार क्षत्रिय को दिया, परन्तु क्षत्रिय की निरंकुशता का नियन्त्रण करने वाला कोई नहीं था, अतः सर्वमान्य रूप में उसने धर्म की सृष्टि की। धर्म को संप्रभुता प्रदान की। वह धर्म क्षत्र का भी क्षत्र हुआ अर्थात् क्षत्रिय का भी वह नियन्ता हुआ।[४९]

इसी प्रसंग में धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सत्य ही धर्म है। पृथ्वी पर जो सत्य है, वह धर्म है जो असत्य है, वह अधर्म है। इसलिए सत्य बोलने वाले को धर्म बोलने वाला कहते हैं।[५०] सत्य का व्यावहारिक रूप धर्म है। सत्यभाषण, सत्यनिष्ठा, सत्यव्यवहार और सत्य का पालन धर्म है। सत्य आचारशिक्षा का प्रथम अंग है। लोककल्याण, शान्ति और सुव्यवस्था का आधार सत्य है। अतः इन आचारनियमों के उल्लंघन का अधिकार राजा को भी नहीं है।

क्षत्र :– बृहदारण्यक उपनिषद् में इसी प्रसंग में कहा गया है कि प्रारम्भ में ब्रह्म अकेला था। वह विभूतियुक्त कार्य करने में असमर्थ था, अतः उसने क्षत्र (क्षत्रिय) की सृष्टि की।

---

४९. स नैव व्यभवत् , तत् श्रेयोरूपम् अत्यसृजत धर्मम्। तदेतत्
श्रत्रस्य क्षत्रम्, , यद् धर्मः। तस्मात् धर्मात्, परं नास्ति। बृहदा० १.४.१४

५०. यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् , तस्मात् सत्यं वदन्तम् आहुर्धर्मं वदतीति। बृहदा० १.४.१४

उसको प्रशासन का अधिकार दिया। क्षत्रिय (राजा) को सर्वोच्च स्थान दिया गया। अतः राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है।[५१]

इससे स्पष्ट होता है कि राज्य के प्रशासन का सर्वाधिकार क्षत्रिय को दिया गया है। वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी न हो सके, अतः उसके ऊपर धर्म को रखा गया।

इसी प्रसंग में उपनिषद् में शतपथ ब्राह्मणानुसार कुछ क्षत्रिय देवों का भी उल्लेख किया गया है। ये हैं :- इन्द्र देवों का स्वामी, वरुण जल का स्वामी, सोम ओषधियों का स्वामी, रुद्र पशुओं का स्वामी, पर्जन्य (मेघ) विद्युत् आदि का स्वामी, यम पितृगण का स्वामी, मृत्यु रोगों का स्वामी और ईशान प्रकाशों का स्वामी।[५२]

शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् में क्षत्र शब्द से क्षत्रिय राजा का ग्रहण किया गया है।[५३] क्षत्र को प्रशासन का सर्वाधिकार देने का अभिप्राय है कि राजा राज्य में सर्वोच्च अधिकारी है और वह कार्यपालिका का प्रधान हैं।

विश् :– बृहदारण्यक उपनिषद् के इसी प्रसंग में वर्णन किया गया है कि क्षत्र (क्षत्रिय) की उत्पत्ति करने के बाद भी ब्रह्म वैभवयुक्त कर्म करने से समर्थ करने में समर्थ नहीं हुआ। अतः उसने विश् (प्रजा, वैश्य) को उत्पन्न किया।[५४]

इससे ज्ञात होता है कि धर्म और क्षत्र के बाद राष्ट्र के लिए तृतीय आवश्यक तत्त्व विश् (प्रजा, जनता) है। क्षत्रिय शासक है। परन्तु वह शासन किस पर करे, इस समस्या के हल के लिए विश् की उत्पत्ति की आवश्यकता हुई। वह सभी प्राणियों के भरण–पोषण का उत्तरदायी हुआ।

इसी प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक में विश् (वैश्य) देवों का उल्लेख किया गया है। जो गण या समूह रूप में कार्य करते हैं, वे देवता विश् हैं। ये हैं :- वसु (८), रुद्र (११), आदित्य (१२), विश्वेदेव (देव समूह), मरुत् (७x७ = ४९)।[५५]

---

५१. ब्रह्म वा इदमग्र आसीद् एकमेव। तदेकं सन्न व्यभवत् ,श्रेयोरूपम् अत्यसृजत क्षत्रम् । तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति। बृहदा० १.४.११

५२. देवत्रा क्षत्राणि–इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युः ईशान इति। बृहदा० १.४.११, शत० १४.४.२.२३

५३. शत० १४.४.२.२३। बृहदा० १.४.११

५४. स नैव व्यभवत् । स विशम् असृजत। बृहदा० १.४.१२

५५. यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते, वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। शत० १४.४.२.२४। बृहदा. १.४.१२

इस प्रकार विश् (प्रजा,वैश्य) राज्य का तृतीय तत्त्व निर्धारित हुआ। वेद और वेदोत्तर काल विश् का स्वरूप प्रायः वही रहा।

पूषा (पूषन्) – इसी प्रसंग में बृहदारण्यक उपनिषद् में राज्य के चतुर्थ तत्त्व के रूप में पूषा (पूषन्) का वर्णन किया गया है और कहा गया है कि धर्म, क्षत्र और विश् की उत्पत्ति के बाद भी ब्रह्म विभूतियुक्त नहीं हुआ। अतः उसने शूद्रवर्ण को उत्पन्न किया और उसे पूषन् नाम दिया। यह पृथिवी ही पूषन् है, क्योंकि इसमें सबको पुष्ट करने की क्षमता है।[५६] शतपथ ब्राह्मण में पृथ्वी को पूषा कहा गया है, क्योंकि इसमें पोषण करने की क्षमता है।[५७] शंकराचार्य ने भी उक्त संदर्भ की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिसमें पोषण करने की क्षमता हो, उसे पूषा कहते हैं। इस प्रकार पृथिवी या राष्ट्र पूषा है।

इससे ज्ञात होता है कि शतपथ और बृहदारण्यक में राज्य के चतुर्थ तत्त्व के रूप में पूषा का उल्लेख है। यह पूषा तीन अर्थो का द्योतक है – पूषा तत्त्व, शूद्र वर्ण और राष्ट्र, भूभाग या पृथ्वी। सबका भरण–पोषण करने की सामर्थ्य पृथिवी में ही है। वही राष्ट्र या भूभाग है। जिस भूभाग या राज्य में आपने निवासियों के लिए भोजन–आच्छादन, भरण–पोषण और सभी सुविधाएं उपलब्ध कराने की क्षमता न हो, वह राज्य कितने समय जीवित रह सकेगा?

इस प्रकार वैदिक राज्य के ४ तत्त्व थे :- (१) ब्रह्म या धर्म। धर्म सर्वोच्च एवं संप्रभुता (Sovereign) गुण से युक्त था। (२) क्षत्र या राजन्य (क्षत्रिय)। यह प्रशासन या सरकार (Government) थी। (३) विश् (वैश्य) राज्य की जनता (People) थी। (४) पूषा या राष्ट्र (भूभाग), यह राज्य का भूभाग (Territory) था।

---

५६. स नैव व्यभवत् । स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम् । इयं (पृथिवी)
वै पूषा, इयं हीदं सर्वं पुष्यति, यदिदं किं च ।
बृहदा० १.४.१३। शत० १४.४.२.२५

५७. इयं वै पृथिवी पूषा । शत० २.५.४.७

अध्याय ६

राज्य के विविध अंग

१. राज्य के विविध अंग
२. राजा के गुण, कर्तव्य आदि
३. राजा के कुछ प्रमुख कर्तव्य
४. मन्त्रिमंडल और मंत्रिपरिषद्
५. कोष (कोश)
६. दंड, सेना (बल)
७. मित्र (सुहृद्)
८. जनपद (राष्ट्र)
९. पुर (दुर्ग)
१०. षाड्गुण्य (६ गुण)

अध्याय ६

१. राज्य के विविध अंग

राज्य के संचालन के लिए उसके विविध अंगों की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार शरीर एक होते हुए भी उसके विभिन्न अंग हैं और उनके पृथक् कार्य हैं। शरीर के अंगों में सिर ज्ञान का केन्द्र है, मुख भाषण और विचार–प्रकाशन का केन्द्र है। हाथ सभी शारीरिक क्रियाओं का कर्ता है और पैर गमनागमन का साधन है। इसी प्रकार शरीर के अन्य अंग अपना अपना कार्य करते हैं। इन अवयवों या अंगों से एक अवयवी या अंगी रूप शरीर का निर्माण होता है। इसी प्रकार राज्य एक महान् सत्ता है। इसके अनेक कार्य हैं। प्रत्येक कार्य को करने के लिए उसके विभिन्न अंग बनाये गये हैं। इन अंगों की संख्या राजनीतिशास्त्र में सात दी गई है। इन अंगों को 'प्रकृति' भी कहते हैं, अतः राज्य को सप्तांग, सप्तप्रकृति, सप्तराज्यप्रकृति आदि नाम दिए गए हैं।

वेदों में इनमें से अधिकांश के नाम मिलते हैं, परन्तु राज्य के ये सात अंग होते हैं और इनके ये कार्य हैं, इस रूप में वेदों में इनका कहीं भी स्पष्ट वर्णन नहीं है। इनमें से राजा के अधिकार और कर्तव्य विषय पर पर्याप्त सामग्री मिलती है। सेना और युद्ध का अनेक स्थानों पर वर्णन है। कोश–संबन्धी भी कुछ नियम मिलते हैं। अन्य विषयों पर सामग्री अत्यन्त अल्प है।

कौटिल्य, शुक्र आदि ने इस विषय पर बहुत विस्तृत विचार किया है, अतः उसकी संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ विषय के स्पष्टीकरण के लिए प्रस्तुत की जा रही है।

सात अंगों के नाम ये हैं :– १. स्वामी (राजा), २. अमात्य (मंत्री), ३. पुर या दुर्ग, ४. राष्ट्र या जनपद, ५. कोश, ६. दंड, सेना या बल, ७. सुहृद् या मित्र।[१]

मनु का कथन है कि इनमें से पूर्व–पूर्व का अधिक महत्त्व है, अर्थात् राजा सबसे प्रमुख है, उसके बाद मंत्री, फिर पुर आदि।[२] ये सभी अंग एक–दूसरे के सहयोगी, सहायक और पूरक हैं, अतः सभी को समान महत्त्व दिया जाना चाहिए।[३]

---

१. स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं, कोशदण्डौ सुहृत् तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः, सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ।। मनु० ९.२९४

२. सप्तानां प्रकृतीनाम् .. पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयात् । मनु० ९.२९५

३. अन्योन्यगुणवैशिष्ट्यात्, न किंचिदतिरिच्यते । मनु० ९.२९६

राज्य के इन सात अंगों का विस्तृत विवेचन महाभारत[४], मनुस्मृति[५], कौटिलीय अर्थशास्त्र[६], शुक्रनीति[७] और कामन्दकीय नीतिसार[८] में प्राप्त होता है। शुक्रनीतिसार में इस विषय का बहुत रोचक और विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इनको संप्तांग, राज्य–प्रकृति, प्रकृति–संपद् आदि नाम दिये गये हैं। कामन्दकीय का कथन है कि ये सातों अंग एक – दूसरे के पूरक हैं, अतः राजा का काम है कि वह इनमें से किसी भी एक की उपेक्षा न करे। शुक्राचार्य ने इन सात अंगों को शरीर के अंग के रूप में इस प्रकार रखा है :- १. राजा शिर है, २. अमात्य (मंत्री) नेत्र है, ३. मित्र कान है, ४. कोश मुख है, ५. सेना मन है, ६. दुर्ग दोनों हाथ है, ७. राष्ट्र दोनों पैर हैं। इन सात अंगों को विभिन्न आचार्यों ने ये नाम दिये हैं।

	महाभारत	मनु	कौटिल्य	शुक्र	कामन्दक
१.	आत्मा	स्वामी	स्वामी	स्वामी	स्वामी
२.	अमात्य	अमात्य	अमात्य	अमात्य	अमात्य
३.	कोश	कोश	कोश	कोश	कोश
४.	दंड (सेना)	दंड	दंड	बल	बल
५.	मित्र	सुहृत्	मित्र	सुहृत्	सुहृत्
६.	जनपद	राष्ट्र	जनपद	राष्ट्र	राष्ट्र
७.	पुर (दुर्ग)	पुर	दुर्ग	दुर्ग	दुर्ग

इस प्रकार ज्ञात होता है कि राजा या स्वामी के लिए महाभारत ने आत्मा शब्द दिया है। सेना के लिए दंड और बल शब्द भी हैं। मित्र के लिए सुहृत् है। जनपद के लिए राष्ट्र शब्द भी है तथा दुर्ग के लिए पुर शब्द का भी प्रयोग है।

---

४. आत्माऽमात्याश्च कोशाश्च, दण्डो मित्राणि चैव हि ।
तथा जनपदाश्चैव, पुरं च कुरुनन्दन ।
एतत् सप्तात्मकं राज्यं, परिपाल्यं प्रयत्नतः ।।६५।। महा० शान्ति० ६९.६४, ६५

५. स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं, कोशदण्डौ सुहृत् तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः, सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते । मनु० ९.२९४

६. स्वाम्यमात्य-जनपद-दुर्ग-कोश-दण्ड-मित्राणि प्रकृतयः । अर्थ० पृ० ५३५

७. स्वाम्यमात्य-सुहृत्-कोश-राष्ट्र-दुर्ग-बलानि च
सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं, तत्र मूर्धा नृपः स्मृतः ।।
दृगमात्यः सुहृच्छ्रोत्रं, मुखं कोशो बलं मनः ।
हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ, राज्याङ्गानि स्मृतानि हि ।। शुक्र० १.६१,६२

८. स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत् ।
परस्परोपकारीदं, सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ।। काम० ४.१

२. राजा के गुण, कर्तव्य आदि

वेदों में राजा के गुण, अधिकार और कर्तव्यों आदि का पर्याप्त विवेचन है। इसका वर्णन आगे किया गया है।

राजा की आवश्यकता – शुक्रनीति में राजा की आवश्यकता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यदि राजा प्रजा का सुव्यवस्थित रूप से नेता न हो तो प्रजा उसी प्रकार विपत्तिरूपी समुद्र में डूब जाएगी, जैसे बिना पतवार की नाव।[९] राजा प्रजा को अधर्म से, अन्याय और अत्याचार से बचाता है तथा धर्म अर्थ और काम से युक्त करता है।[१०] राजा के अभाव में प्रजा धर्म में स्थित नहीं रहती है, अतः राजा की आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रजा के बिना राजा भी नहीं रह सकता है, अतः प्रजा के लिए राजा और राजा के लिए प्रजा की आवश्यकता है।[११]

इस विषय में महाभारत में बहुत सुन्दर कहा गया है कि प्रजा का मुख्य शरीर राजा हैं और राजा का शरीर प्रजा। राजा के बिना देश और देश के बिना राजा नहीं होते हैं।[१२] अर्थात् राजा और प्रजा दोनों परस्पर संबद्ध हैं। राजा प्रजा की रक्षा करता है और प्रजा राजा की।

राजा के विविध रूप – राजा को राज्य–संचालन के लिए अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं। उनकी चर्चा करते हुए महाभारत में कहा गया है कि राजा ये ५ रूप धारण करता है :- कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी मृत्यु, कभी कुबेर और कभी यमराज।[१३] इसकी व्याख्या करते हुए आगे कहा गया है कि - जब राजा ठगों, पापियों आदि को जलाता है, तब वह अग्नि है। जब गुप्तचरों आदि के द्वारा सारी प्रजा की देखभाल करता है और प्रजा की रक्षा करता है, तब वह सूर्यरूप है। जब वह पापी, अत्याचारी, कुकर्मी लोगों का सैकड़ों की सख्या में संहार करता है, तब वह मृत्यु रूप है। जब दुष्टों का धन छीनकर सदाचारी और परोपकारी

---

९. यदि न स्याद् नरपतिः सम्यङ् नेता ततः प्रजाः ।
अकर्णधारा जलधौ, विप्लवेतेह नौरिव ।। शुक्र० १.६५

१०. शुक्र० १.६७

११. शुक्र० १.६६

१२. राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं, प्रजाश्च राजोऽप्रतिमं शरीरम् ।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा, देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति ।। महा० शान्ति० ६८.५९

१३. कुरुते पञ्च रूपाणि, कालयुक्तानि यः सदा ।
भवत्यग्निस्तथाऽऽदित्यो, मृत्युर्वैश्रवणो यमः ।। महा० शान्ति० ६८.४१

लोगों को दे देता है, तब वह कुबेररूप है। इसी प्रकार जब वह अधार्मिकों को तीक्ष्ण दंड देता है और धार्मिकों पर अनुग्रह करता है, तब वह यमरूप होता है।[१४]

राजा के गुण – महाभारत का कथन है कि श्रेष्ठ राजा में ये ३६ गुण होने चाहिएँ। जिसमें ये गुण होते हैं, वह राजा इस लोक में और परलोक में सुख पाता है।[१५]

ये ३६ गुण हैं :– १. धर्माचरण करना। २. दूसरों से प्रेम–पूर्वक व्यवहार करना। ३. क्रूरता छोड़कर अर्थसंग्रह करना। ४. मर्यादित जीवन व्यतीत करना। ५. प्रिय भाषण करना। ६. शूरवीर बनना और आत्मप्रशंसा न करना। ७. सुपात्र को दान देना। ८. साहसी होना, क्रूर नहीं। ९. दुर्जन से मेल न करना। १०. संबन्धियों से विवाद न करना। ११. राज्यभक्त गुप्तचरों से ही काम करवाना। १२. जानबूझकर किसी को कष्ट न देना। १३. दुष्टों से अपनी अन्तरंग बात न कहना। १४. अपने गुणों का वर्णन न करना। १५. श्रेष्ठ पुरुषों का धन न छीनना। १६. नीच पुरुषों का आश्रय न लेना। १७. अपराध की ठीक जांच करके ही किसी को दंड देना। १८. गोपनीय मंत्रणाओं को प्रकट न करना। १९. लोभियों को धन न देना। २०. अपकार करने वाले पर कभी विश्वास न करना। २१. अपनी स्त्री की सुरक्षा करना। २२. शुचि जीवन व्यतीत करना और किसी से घृणा न करना। २३. अधिक स्त्री प्रसंग न करना। २४. शुद्ध, स्वादिष्ट और हितकर भोजन करना। २५. विनीत भाव से मान्य जनों का आदर करना। २६. निश्छल भाव से गुरुजनों की सेवा करना। २७. दंभ छोड़कर देवपूजा करना। २८. शुद्ध कर्मों से धन-संचय करना। २९. सबसे प्रेमभाव रखना। ३०. कार्यकुशल होना और अवसर का ज्ञान रखना। ३१. केवल जान छुड़ाने के लिए किसी का काम करने का भरोसा न दिलाना। ३२. किसी पर कृपा करते समय उस पर कोई आक्षेप न लगाना। ३३. बिना विचारे किसी पर प्रहार न करना। ३४. शत्रुवध करते समय उस पर शोक न करना। ३५. सहसा किसी पर क्रोध न करना। ३६. कोमल होना, किन्तु अपकार करने वालों के लिए नहीं।

इसमें राजा के गुणों और कर्तव्यों की संक्षिप्त रूपरेखा दी गई है।

राजा के कर्तव्य– महाभारत और शुक्रनीति में राजा के कुछ कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि इन कर्तव्यों का पालन करने वाला राजा सफल राजा माना जाता है। शुक्राचार्य का कथन है कि राजा पिता, माता, गुरु, भाई, बन्धु, कुबेर और

---

१४. महा० शान्ति ६८. ४२ से ४७

१५. अयं गुणानां षट्त्रिंशत्, षट्त्रिंशद्गुणसंयुतः ।
यान् गुणांस्तु गुणोपेतः, कुर्वन् गुणमवाप्नुयात् । महा० शान्ति ७०. २ से ११

यम इन सात के कर्तव्यों का पालन करे।[१६] १. पिता के तुल्य प्रजा को गुणवान् बनावे। २. माता के तुल्य प्रजा के अपराधों को क्षमा करे और प्रजा के पालन–पोषण का ध्यान रखे। ३. गुरु के तुल्य कल्याणकारी उपदेश देने वाला हो और प्रजा को सुशिक्षित करे। ४. भाई जिस प्रकार पैतृक संपत्ति में अपना अंश लेता है, उसी प्रकार प्रजा से कर रूप में अपना अंश ले। ५. बन्धु या मित्र जिसप्रकार हितचिन्तक होता है और गुप्त रहस्यों की रक्षा करता है, उसीप्रकार प्रजा का हितचिन्तक एवं रक्षक हो। ६. कुबेर के तुल्य धन आदि से सदा प्रजा की सहायता करे। ७. यम के तुल्य अपराधियों और दुष्टों को दंड दे।

महाभारत में भी माता, पिता, गुरु, गोप्ता (रक्षक), अग्नि, कुबेर और यम के तुल्य कार्य करने का निर्देश है।[१७] माता, पिता, गुरु, कुबेर और यम की व्याख्या पूर्ववत् ही की गई है। राजा अग्नि के तुल्य दुष्टों को जला डालता है और गोप्ता या रक्षक के रूप में प्रजा की सदा रक्षा करता है।[१८]

राजा के ८ कर्तव्य – शुक्रनीति में राजा के ८ कर्तव्यों का निर्देश किया गया है :– १. दुष्टों को दंड देना। २. दान देना। ३. प्रजा की रक्षा करना। ४. राजसूय आदि यज्ञ करना। ५. न्यायपूर्वक कोश की वृद्धि करना। ६. अन्य राजाओं से कर प्राप्त करना। ७. शत्रुओं का नाश करना। ८. अपने राज्य की सीमाओं की निरन्तर वृद्धि करना।[१९]

राजा के गुण– शुक्रनीति में राजा के गुणों और दोषों का बहुत विस्तार वर्णन है। कुछ प्रमुख गुण ये हैं :– १. पराक्रम, बल, बुद्धि और शौर्य, ये राजा के श्रेष्ठ गुण हैं। इनसे ही राज्य में स्थायित्व आता है।[२०] २. प्राणिमात्र पर दया, सबके साथ मित्रता, दान देना और मधुर बोलना, ये चार गुण संसार में सर्वोत्तम वशीकरण मंत्र हैं।[२१] ३. सभी प्रकार

---

१६. पिता माता गुरुर्भ्राता, बन्धुर्वैश्रवणो यमः ।
नित्यं सप्तगुणैरेषां, युक्तो राजा न चान्यथा । शुक्र० १.७७

१७. माता पिता गुरुर्गोप्ता, वह्निर्वैश्रवणो यमः ।
सप्त राज्ञो गुणानेतान्, मनुराह प्रजापतिः । महा० शान्ति १३९.१०३

१८. महा० शान्ति० १३९. १०३ से १०६

१९. दुष्टनिग्रहणं दानं, प्रजायाः परिपालनम् ।
यजनं राजसूयादेः, कोशानां न्यायतोऽर्जनम् ।
करदीकरणं राज्ञां, रिपूणां परिमर्दनम् ।
भूमेरुपार्जनं भूयो, राजवृत्तं तु चाष्टधा । शुक्र० १.१२३, १२४

२०. शुक्र० १.१७६-१७८

२१. नहीदृशं संवननं, त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दया मैत्री च भूतेषु, दानं च मधुरा च वाक् ।। शुक्र० १. १७१

से अपने राज्य की रक्षा करना।[२२] ४. मधुर वचन बोलकर शत्रु और मित्र सबको प्रसन्न रखना।[२३] ५. सब पर दयाभाव रखना[२४]। ६. समयानुसार साम, दान, दंड और भेद नीति का प्रयोग करना।[२५] ७. राजा युगप्रवर्तक होता है। प्रजा मे कोई दोष है तो उसका कारण राजा है।[२६] ८. राजा प्रजा के ही नहीं, अपितु अपने भी दोषों को देखे। वही श्रेष्ठ राजा है।[२७]

राजा के दोष - राजा के लिए निर्देश है कि वह इन दोषों को छोड़े :- १. द्यूत, स्त्री-संभोग और सुरापान, ये अधिक मात्रा में सेवन करने पर अनर्थकारी होते हैं।[२८] २. ऐसे कार्य न करे, जिससे प्रजा क्षुब्ध और उद्विग्न हो।[२९] ३. नीच, पतित और क्षुद्र जाति वालों से अधिक संपर्क न रखे।[३०] ४. कठोर दंड देने से प्रजा भड़क उठती है, अतः ऐसा न करे।[३१] ५. काम, क्रोध, मोह, लोभ, मान और मद, इन ६ दुर्गुणों को छोड़े।[३२] ६. दान न देना, वेतन न देना, दूसरों का अपमान करना, छल-कपट करना, कटु बोलना, ये राजा के दोष हैं।[३३] ७. ये राजा के बड़े दोष हैं - अत्यन्त डरपोक होना, कार्य में अति सुस्त होना, अत्यन्त असावधान होना और विषयों में अधिक असक्त होना।[३४] ८. दीन-दुःखियों को सताना।[३५]

३. राजा के प्रमुख कर्तव्य

१. राजा और प्रजा

प्रजा को सुखी और प्रसन्न रखना राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य है।[३६] कामन्दकीय नीतिसार का कथन है कि राजा प्रजा को भयमुक्त करने के लिए इन पांच भयों को दूर करे। ये भय हैं :- (१) राजकर्मचारियों द्वारा शोषण का भय, (२) चोरों से चोरी का भय, (३) शत्रुओं से आक्रमण का भय, (४) राजपरिवार द्वारा सताने का भय, (५) राजा के अधिक लोभी होने कारण अधिक टैक्स आदि लगाने का भय।[३७] राजा यदि सावधान और सक्रिय रहता है तो प्रजा का शोषण नहीं हो सकेगा।

---

२२. न रक्षिता तु भूर्येन, किं तस्य धन-जीवितैः । शुक्र० १.१८०

२३. शुक्र० १. १६५-१६६ २४. शुक्र० १. १५९ २५. शुक्र० ४. ३८-३९

२६. युगप्रवर्तको राजा, धर्माधर्म-प्रशिक्षणात् । शुक्र० ४. ५९

२७. शुक्र० ४.६८ २८. शुक्र० १. १०८ २९. शुक्र० १.१२६

३०. शुक्र० १.१२७ ३१. शुक्र० १.१२९ ३२. शुक्र० १.१४३

३३. शुक्र० १.१३९ ३४. शुक्र० १.१४१ ३५. शुक्र० १.१६०

३६. लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः । महा० शान्ति० ५७.११

३७. आयुक्तेभ्यश्च चोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् ।।
पृथिवीपतिलोभाच्च, प्रजानां पञ्चधा भयम् ।। काम० ५.८१

२. वर्णाश्रम - धर्मरक्षा

राजा का कर्तव्य है कि वह वर्णों और आश्रमों के धर्मों की रक्षा करे। प्रजा को अपने धर्मपालन की सुविधा प्रदान करे। वर्णसंकर आदि से बचाना उसका धर्म है।[३८]

३. प्रजा और राज्य की सुरक्षा

प्रजा और राज्य की रक्षा करना राजा का सर्वप्रथम कार्य है। इसलिए महाभारत में बहुत बल देकर कहा गया है कि रक्षा ही संसार को धारण करने वाली है, इसलिए राज्य में प्रजा की रक्षा को छोड़कर और कोई सनातन धर्म नहीं है।[३९] राजा के लिए कहा गया है कि प्रजा की रक्षा करते हुए यदि राजा के प्राण भी चले जाएँ तो यह महान् धर्म है। राजा ऐसा ही होना चाहिए।[४०] अन्यत्र भी कहा है कि सारे प्राणियों की रक्षा करना राजा का परम धर्म है।[४१] राष्ट्र की रक्षा और उसकी शक्ति की वृद्धि के लिए दंड का आश्रय लेना पड़ता है, इसलिए राजनीति को दंडनीति भी कहते हैं।[४२] दंडनीति की व्याख्या की गई है 'दण्डेन नीयते' 'दण्डं नयति वा' अर्थात् दंड के द्वारा संसार को सन्मार्ग पर लाया जाता है, अथवा प्रजा में दंड के भय की स्थापना की जाती है।[४३] दंडनीति से रक्षा का फल यह होता है कि उसके राष्ट्र पर कोई आक्रमण करने का साहस नहीं कर सकता।[४४] दंडनीति का धर्मानुसार सावधानी से उपयोग करना चाहिए।[४५]

४. न्याय-व्यवस्था

भारतीय राज्यशास्त्र में विधि को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। धार्मिक और सामाजिक

---

३८. चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च, रक्षितव्या महीक्षिता ।
धर्मसंकररक्षा च, राज्ञां धर्मः सनातनः ।। महा० शान्ति० ५७.१५

३९. तद्राज्ये राज्यकामानां, नान्यो धर्मः सनातनः ।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां, रक्षा लोकस्य धारिणी ।। शान्ति० ५७.४२

४०. यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद् , रक्षमाणस्य वै प्रजाः ।
सोऽप्यस्य विपुलो धर्मः, एवंवृत्ता हि भूमिपाः ।। शान्ति० ५८.२३

४१. रक्षणं सर्वभूतानाम् , इति क्षात्रं परं मतम् । शान्ति० १२०.३

४२. दण्डेन सहिता ह्येषा, लोकरक्षणकारिका । शान्ति० ५९.७७

४३. दण्डेन नीयते चेदं, दण्डं नयति वा पुनः ।
दण्डनीतिरिति ख्याता, त्रीन् लोकान् अभिवर्तते ।। शान्ति० ५९.७८

४४. महा० शान्ति ५९.१२९

४५. विभज्य दण्डः कर्तव्यो, धर्मेण न यदृच्छया । शान्ति० १२२.४०

विधियों को धर्म नाम दिया गया था और इस विधि-विधान की स्थापना के लिए राजा उत्तरदायी होता था।[४६] राज्य - कार्य चलाने के लिए जिन विधियों का निर्माण किया गया, उन्हें दण्डनीति कहा गया।[४७] महाभारत के अनुसार न्याय-व्यवस्था को व्यवहार-शास्त्र या न्याय-व्यवहार कहा गया। इसका मुख्य अभिप्राय है - जिसने जैसा किया है, उस को वैसा फल मिलना चाहिए।[४८] प्रशासनिक विधियों के निर्माण का कार्य मुख्य रूप से ऋषि-मुनियों को दिया गया था।[४९] राजा का कर्तव्य केवल यह था कि वह पक्षपातरहित होकर न्याय-व्यवस्था स्थापित करे। जो भी विधियों का उल्लंघन करते हैं, उन्हें दंड अवश्य मिलना चाहिए। न्याय-व्यवस्था इतनी पक्षपातरहित होनी चाहिए कि राजा के सगे संबन्धी भी अपराध करने पर दंड से न बच सकें। महाभारत ने स्पष्ट लिखा है कि न्याय का अवसर आने पर राज अपने संबन्धियों पर भी स्नेहवश पक्षपात न करे।[५०]

न्याय-व्यवस्था में ब्राह्मणों के साथ भी कोई पक्षपात नहीं था। महाभारत का कथन है कि यदि ब्राह्मण भी अपने धर्म का पालन नहीं करता है तो उसका भी शस्त्र से वध किया जाना चाहिए।[५१] अपराधी सिद्ध होने पर राजा का पुरोहित भी दंडनीय होता था।[५२]

विधि-विधानों की व्यवस्था की आवश्यकता पड़ने पर व्याख्या का अधिकार राज्य को न होकर वेद-शास्त्रज्ञ और धर्मज्ञों को दिया गया है। इनकी संख्या अधिक से अधिक दस या कम से कम तीन होनी चाहिए।[५३] इस प्रकार महाभारत आदि में पक्षपातरहित विधि-व्यवस्था की स्थापना का आदेश दिया गया है।

---

४६. स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ।। मनु० ७. ३५

४७. दण्डेन नीयते चेदं, दण्डं नयति वा पुनः ।
दण्डनीतिरिति ख्याता, त्रीन् लोकान् अभिवर्तते । शान्ति० ५९.७८

४८. व्यवहारश्च नगरे, यस्य कर्मफलोदयः । शान्ति० ११५.२

४९. एवं लोकानुरोधेन, शास्त्रमेतन्महर्षिभिः । शान्ति० ५९.८६

५०. यथा पुत्रास्तथा पौत्रा द्रष्टव्यास्ते न संशयः ।
भक्तिस्तेषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ।। शान्ति० ६९.२७

५१. त्रैविद्यानां या गतिर्ब्राह्मणानां, ये चोक्ताश्चाश्रमा ब्राह्मणानाम् ।
एतत् कर्म ब्राह्मणस्याहुरग्र्यम्, अन्यत् कुर्वन् शूद्रवत् शस्त्रवध्यः ।। शान्ति० ६५.८

५२. माता पिता च भ्राता च, भार्या चैव पुरोहितः ।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो, यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।। शान्ति० १२१.६०

५३. दश वा वेदशास्त्रज्ञाः, त्रयो वा धर्मपाठकाः ।
यद् ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने, स धर्मो धर्मसंशये ।। शान्ति० ३६.२०

५. राजकर्मचारियों की नियुक्ति

महाभारत का कथन है कि राजकार्य महान् कार्य है। अकेला राजा इस काम को नहीं संभाल सकता, अतः उसे उत्कृष्ट गुणों वाले राजकर्मचारियों की नियुक्ति करनी चाहिए।[५४] जो जिस कार्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त हो, उसे उसी कार्य में लगावे।[५५] ऐसे ही राजकर्मचारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए, जो शुचि, कुलीन, शूर, ज्ञानी, अक्षुद्रवृत्ति और कार्यकुशल हों।[५६] ऐसे कर्मचारियों की नियुक्ति न करे जो मूर्ख, क्षुद्र, अकुशल, असंयमी और अकुलीन हों।[५७] महाभारत ने जोर देकर कहा कि लोभी व्यक्तियों को किसी भी राजकीय पद पर न रखे, क्योंकि ये सभी दोषों से युक्त होते हैं और सभी प्रकार से धन एकत्र करना चाहते हैं।[५८] प्रत्येक नियुक्ति में कुलीनता को विशेष महत्त्व दिया गया है, क्योंकि उनमें पैतृक गुण रहते हैं।

६. आर्थिक और सामाजिक कर्तव्य

महाभारत में राजा के आर्थिक कर्तव्यों में ये बातें मुख्यरूप से बताई गई हैं:- १. सार्वजनिक उत्सव, सामाजिक उद्योग आदि में सहयोग देना चाहिए।[५९] २. कूप, तालाब, धर्मशाला, विश्राम गृह आदि का निर्माण कराना चाहिए।[६०] ३. जीर्ण-शीर्ण मन्दिरों और धार्मिक स्थलों की रक्षा करनी चाहिए।[६१] ४. राज्य में जो व्यक्ति वृत्तिहीन (बिना नौकरी वाले) और व्यवसायरहित हैं, उनके भरण-पोषण की व्यवस्था करनी चाहिए तथा जो व्यवसाय में लगे हुए हैं, उनकी सुविधा का ध्यान रखना चाहिए।[६२] इससे ज्ञात होता है कि राजा का

---

५४. न च प्रशास्तुं राज्यं हि, शक्यमेकेन भारत ।
असहायवता तात, नैवार्थाः केचिदप्युत ।। शान्ति० ११५.१३

५५. अनुरूपाणि कर्माणि भृत्येभ्यो यः प्रयच्छति ।
स भृत्यगुणसम्पन्नो, राजा फलमुपाश्नुते ।। शान्ति० ११९.४

५६. साधवः कुलजाः शूरा, ज्ञानवन्तोऽनसूयकाः ।
अक्षुद्राः शुचयो दक्षाः, स्युर्नराः पारिपर्श्वकाः ।। शान्ति० ११९.९

५७. न बालिशा न च क्षुद्रा, नाप्राज्ञा नाजितेन्द्रियाः ।
नाकुलीना नराः सर्वे, स्थाप्या गुणगणैषिणा ।। शान्ति० ११९.८

५८. लुब्धे दोषाः संभवन्तीह सर्वे,
तस्माद् राजा न प्रगृह्णीत लुब्धम् ।। शान्ति० १२०.४८

५९. उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा । शान्ति० ५९.६७

६०. कूपाः प्रपाश्च शयनानि च । शान्ति० ६५.१९

६१. केतनानां च जीर्णानाम् , अवेक्षा चैव सीदताम् । शान्ति० ५८.७

६२. अभृतानां भवेद् भर्ता, भृतानामन्ववेक्षकः । शान्ति० ५७.१९

कर्तव्य है कि वह अपने राज्य के सभी निवासियों को आर्थिक दृष्टि से पुष्ट करे और जनता के हितकारी कार्यों में धन का उपयोग करे। महाभारत का कथन है कि राजा अपने राज्य के धनिकों का सदा आदर करे और सामाजिक कार्यों में उनका पूरा सहयोग ले।[६३]

महाभारत में राजा के सामाजिक कर्तव्यों में ये बातें मुख्यरूप से बताई गई हैं:- १. मद्यशाला, वेश्यागृह, कुट्टनियाँ, वेश्याओं के दलाल, जुआरी तथा ऐसे अन्य पेशों में लगे हुए लोगों पर राज्य का कड़ा नियन्त्रण होना चाहिए, क्योंकि ये राष्ट्र को हानि पहुँचाने वाले हैं।[६४] २. लोग आसक्ति के कारण मद्य और मांस का सेवन करते हैं, परधन और परस्त्री का हरण करते हैं। राजा को इन पर रोक लगानी चाहिए।[६५] ३. राज्य से चोर, डाकू और भिखमंगों को निकाले।[६६] ४.जो राजकर्मचारी उचित से अधिक कर वसूल करते हैं या कराते हैं, राजा उन्हें दण्ड दे।[६७]

राजा प्रजा का सेवक- बौधायन धर्मसूत्र, शुक्रनीति और याज्ञवल्क्य स्मृति में यह स्पष्ट किया गया है कि राजा वस्तुतः प्रजा का सेवक है। प्रजा अपनी आय का जो छठा भाग कर रूप में देती है, वह राजा का वेतन है।[६८] नारद स्मृति में भी कहा गया है कि कर प्रजा की रक्षा का पारिश्रमिक है। शुक्रनीति में कहा गया है कि राजा सबसे कर वसूल करे और सेवक की भांति प्रजा की रक्षा करे।[६९] याज्ञवल्क्य की टीका में अपरार्क ने कहा है कि प्रजा अपनी रक्षा के लिए कर देती है, अतः कर लेने के फलस्वरूप प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है।[७०]

राजा राजकोष का ट्रस्टी- शुक्रनीति में स्पष्ट किया गया है कि राजकीय कोष प्रजा की थाती है, राजा उसको निजी संपत्ति न समझे और अपने परिवार के लिए खर्च न करे, अन्यथा वह पापी होता है। राजकोष को प्रजा और राष्ट्र की रक्षा, सेना-संग्रह और धार्मिक

---

६३. धनिनः ... पूजयेन्नित्यम् वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वम्० । शान्ति० ८८.२९

६४. पानागारनिवेशाश्च वेश्याः प्रापणिकास्तथा ।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः ।।
नियम्याः सर्व एवैते, ये राष्ट्रस्योपघातकाः ।। शान्ति० ८८.१४,१५

६५. मद्यमांसपरस्वानि तथा दारा धनानि च ।
आहरेद् रागवशगस्तथा शास्त्रं प्रदर्शयेत् ।। शान्ति० ८८.२२

६६. मा ते राष्ट्रे याचनका भूवन् मा चापि दस्यवः । शान्ति० ८८.२४

६७. दण्ड्यास्ते च महाराज, धनादानप्रयोजकाः । शान्ति० ८८.२६

६८. षड्भागभृतो राजा रक्षेत् प्रजाम् । बौधा० धर्म० १.१०.६

६९. सर्वतः फलभुग् भूत्वा, दासवत् स्यात्तु रक्षणे । शुक्र० ४.२.१२९

७०. तस्मात् करम् आददानेन प्रजापालनं विधेयमिति सिद्धम् । याज्ञ० १.३६६ की टीका

कार्यों में खर्च करे।[७१] अग्निपुराण ने आदर्श राजा का कर्तव्य बताया है कि जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपना सुख छोड़कर गर्भस्थ शिशु की चिन्ता करती है। उसी प्रकार राजा को अपनी सुख-सुविधा का ध्यान न रखकर प्रजा की सुख-सुविधा का ध्यान रखना चाहिए।[७२]

राजा का वेतन- आचार्य कौटिल्य ने राजकर्मचारियों आदि के वेतन के साथ ही राजा के वेतन पर भी विचार किया है। कौटिल्य का कथन है कि मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता आदि को प्रतिवर्ष ४८ हजार पण वेतन (भृति) दिया जाय।[७३] योग्यता की दृष्टि से राजा को मंत्री, पुरोहित आदि के समकक्ष रखा गया है और कहा गया है कि समान विद्या वालों से राजा को तिगुना वेतन अर्थात् ४८×३=१४४ हजार पण वार्षिक (अर्थात् १२ हजार पण मासिक) वेतन दिया जाय।[७४] इससे स्पष्ट है कि राजपरिवार के व्यक्ति भी राजकोष का मनमाने ढंग से उपयोग नहीं कर सकते थे।

राजा की निरंकुशता पर रोक- भारतीय आचार्यों ने राजा की शक्ति पर अंकुश लगाने के वैधानिक उपाय किए थे, जिससे राजा निरंकुश या स्वेच्छाचारी न हो सके। शुक्रनीति का कथन है कि यदि राजा संविधान के अनुसार काम नहीं करता है, सेना आदि के साथ द्वेष करता है और राष्ट्र की रक्षा के लिए खतरनाक सिद्ध होता है तो उसे गद्दी से उतार दिया जाय और उसके स्थान पर मंत्रियों आदि की संमति से राजवंश के ही किसी व्यक्ति को राजगद्दी पर बैठा दिया जाय।[७५] महाभारत ने इससे आगे जाकर कहा है कि यदि राजा अन्यायी और अत्याचारी है तो उसे पकड़ कर उसका वध कर दिया जाय।[७६]

४. मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद्

मंत्रिमंडल की आवश्यकता- कौटिल्य का कथन है कि राजा और मंत्री, ये

---

७१. तेन संरक्षयेद् राष्ट्रं, बलं यज्ञादिका: क्रिया: ।
स्त्रीपुत्रार्थं कृतो यश्च ... नरकायैव स विज्ञेय: ।। शुक्र० ४.२.२ से ४

७२. नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं, गर्भिणी-सहधर्मिणा ।
यथा स्वं सुखमुत्सृज्य, गर्भस्थ-सुखमावहेत् ।। अग्नि पु० २२२.८

७३. ऋत्विगाचार्यमन्त्रिपुरोहित - सेनापति-युवराज-राजमातृ - राजमहिष्योऽष्टचत्वारिंशत्साहस्रा: ।
कौटि० पृ० ५१२

७४. समानविद्येभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा । कौटि० पृ० ५१४

७५. गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोऽप्यधार्मिक: ।
नृपो यदि भवेत् तं तु, त्यजेद् राष्ट्रविनाशकम् । शुक्र० २.२६१

७६. अरक्षितारं हर्तारं, विलोप्तारम् अनायकम् ।
तं वै राजकलिं हन्युः, प्रजा: संनह्य निर्घृणम् । महा० अनुशासन० ८६.३५

राज्यरूपी रथ के दो चक्र हैं। केवल एक से काम नहीं चलता, अतः मंत्रियों की नियुक्ति करे और उनसे परामर्श करे।[७७] मनु का कथन है कि सरल काम भी एक व्यक्ति के लिए कठिन होता है। राज्य महान् कार्य है, इसके लिए सहायक रूप में मंत्रियों की नियुक्ति करे।[७८] शुक्र का कथन है कि मंत्रियों आदि से मंत्रणा के बिना राजकार्य नहीं चल सकता है। राज्य का नाश हो जाएगा। राजा को कुमार्ग से नहीं रोका जा सकता है, अतः मंत्रियों की नियुक्ति आवश्यक है।[७९]

मंत्रियों के गुण- मनु का कथन है कि राजा इन गुणों से युक्त सात या आठ मंत्री (सचिव) नियुक्त करे। मंत्रियों के गुण है :- वे वंशपरंपरागत हों, शास्त्रज्ञ, शूरवीर, शस्त्र चलानें में निपुण, कुलीन और सुपरीक्षित हों।[८०] कौटिल्य के अनुसार मंत्री में ये गुण होने चाहिएँ। वह देशज, कुलीन, विद्वान् , ललित कलाओं का ज्ञाता, चतुर, वाक्पटु, उत्साही, प्रभावशाली, पवित्र, स्वामिभक्त, सुशील, स्वस्थ, धीर, निरभिमानी, प्रियदर्शी और द्वेष बुद्धि-रहित हो।[८१] राजा का कर्तव्य है कि वह विभिन्न उपायों से इन गुणों की परीक्षा करके ही मंत्रियों को नियुक्ति दे।[८२] शुक्राचार्य का कथन है कि राज्य की वृद्धि के लिए मंत्रियों आदि की नियुक्ति करे। मंत्रियों में ये गुण होने चाहिएं – कुल, गुण और शील में उत्कृष्ट हों, शूरवीर, राजभक्त, मधुरभाषी, हित का उपदेश देनेवाले, कष्ट सहने वाले, धर्म पर चलने वाले, राजा को कुमार्ग से बचाने वाले, सदाचारी, काम क्रोध ईर्ष्या द्वेष लोभ और आलस्य से रहित हों।[८३] महाभारत में मंत्रियों के गुणों का विस्तृत वर्णन है।[८४]

मंत्रियों के कार्य- मंत्रियों के कार्यक्षेत्र में शासन का पूरा क्षेत्र आता था। प्रत्येक कार्य

---

७७. सहायसाध्यं राजत्वं, चक्रमेकं न वर्तते ।
कुर्वीत सचिवान् तस्मात् , तेषां च शृणुयान्मतम् ।। कौटि० पृ० २४

७८. अपि यत् सुकरं कर्म, तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन, किं नु राज्यं महोदयम् । मनु० ७.५५

७९. विना प्रकृतिसन्मन्त्राद् , राज्यनाशो भवेद् ध्रुवम् ।
रोधनं न भवेत् तस्माद् , राज्ञस्ते स्युः सुमन्त्रिणः ।। शुक्र० २.८०

८०. मौलान् शास्त्रविदः शूरान् , लब्धलक्षान् कुलोद्भवान् ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा, प्रकुर्वीत परीक्षितान् ।। मनु० ७.५४

८१. जानपदोऽभिजातः ... वैराणाम् अकर्ता, इत्यमात्यसंपत् । कौटि० पृ० २८

८२. तेषाम् जनपदम् अवग्रहं चाप्यतः परीक्षेत । कौटि० पृ० २८

८३. अतः सहायान् वरयेद् , राजा राज्यविवृद्धये ।।
कुलगुणशीलवृद्धान् , शूरान् भक्तान् प्रियंवदान् ।
निर्मत्सरान् काम - क्रोध-लोभहीनान् निरालसान् । शुक्र० २. ७ से ९

८४. महा० शान्ति० ८३.१९ से २४ । ११५.१६ से १८ । ११८. ७ से १४

के लिए नई नीति का निर्धारण करना, उसे ठीक से कार्यान्वित करना, उनमें आने वाले विघ्नों का निवारण, राज्य के आय-व्यय के संबन्ध में नीति-निर्धारण और उनका निरीक्षण करना, राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करना, परराष्ट्र-नीति का निर्धारण और कार्यान्वयन।[८५] शुक्राचार्य का कथन है कि मंत्री के ये कार्य हैं :-राज्य, प्रजा, सेना और कोश की वृद्धि करना, राजा के गुणों की वृद्धि करना और शत्रुओं का क्षय करना। अन्यथा उनका मंत्रित्व व्यर्थ है।[८६]

मंत्रिमंडल/मंत्रिपरिषद् (Council of Ministers)

वेदों में मंत्रिमंडल के लिए 'समिति' शब्द का प्रयोग है।[८७] छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में समिति के लिए परिषद् शब्द का भी प्रयोग है।[८८] कौटिल्य ने मंत्रिमंडल के लिए 'मंत्रिपरिषद्' शब्द का प्रयोग किया है।[८९]

कौटिल्य का यह भी कथन है कि अत्यावश्यक कार्य आ जाने पर राजा मंत्रिपरिषद् को बुलावे। उसमें बहुमत जो निर्णय दे, तदनुसार राजा कार्य करे।[९०] इससे यह भी सिद्ध होता है कि राजा बहुमत का आदर करता था और बहुमत के अनुसार कार्य किया जाता था।

मंत्री और अमात्य में अन्तर- अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मंत्री और अमात्य में अन्तर था। अमात्य विभागों के अध्यक्ष जैसे उच्च पदस्थ अधिकारी होते थे, परन्तु उनका स्थान मंत्रियों से नीचे था। अमात्य पद के लिए योग्य व्यक्ति मंत्रिपद के लिए योग्य नहीं माना जाता था।[९१] मंत्रियों का वार्षिक वेतन ४८ हजार पण (चांदी का सिक्का) होता था और अमात्य का केवल १२ हजार पण अर्थात् चौथाई। आवश्यक बैठकों में मंत्रियों के साथ अमात्यों को भी बुलाया जाता था। साधारणतया अमात्य शब्द दोनों के लिए प्रचलित था।

---

८५. मन्त्रो मंत्रफलावाप्तिः कार्यानुष्ठानम् आयव्ययकर्म कुमार - रक्षणम् अभिषेकश्च कुमाराणाम् आयत्तममात्येषु । कौ० अर्थ० पृ० ६८०

८६. राज्यं प्रजा बलं कोशः, सुनृपत्वं न वर्धितम् । न मन्त्रतोऽरिनाशस्तैर्मन्त्रिभिः किं प्रयोजनम् ।। शुक्र० २.८२

८७. ध्रुवाय ते समितिः कल्पताम् । अथर्व० ६.८८.३

८८. पंचालानां समितिम् , पंचालानां परिषदम् । छान्दो० ५.३, बृह० ६.२

८९. मन्त्रिपरिषदं द्वादशामात्यां कुर्वीत । अर्थ० पृ० ५७

९०. आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात् । यत्र यद् भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुः, तत् कुर्यात् । अर्थ० पृ० ५८

९१. विभज्यामात्यविभवं, देशकालौ च कर्म च । अमात्याः सर्व एवैते, कार्याः स्युर्न मन्त्रिणः ।। अर्थ० पृ० २७

मंत्रियों की संख्या- मंत्रिमंडल में कितने सदस्य होने चाहिएँ, इस विषय पर पर्याप्त मतभेद है। मनु का कथन है कि मंत्रियों की संख्या सात या आठ होनी चाहिए।[९२] महाभारत के अनुसार उच्च स्तरीय ८ मंत्री होने चाहिएं।[९३] अर्थशास्त्र ने इस विषय पर विस्तृत विचार किया है और अन्य आचार्यों के मत भी उद्धृत किए हैं। तदनुसार मानव संप्रदाय वाले १२, बृहस्पति-संप्रदाय वाले १६ और उशनस् (शुक्राचार्य)-संप्रदाय वाले २० मंत्रियों के पक्षधर थे।[९४] तदनन्तर कौटिल्य ने अपना मत दिया है कि आवश्यकतानुसार मंत्रियों की संख्या निर्धारित की जाय।[९५]

शुक्राचार्य ने इस विषय में कुछ अत्यन्त उपयोगी सूचनाएँ दी हैं। उन्होंने मंत्रियों की संख्या १० मानी है और ज्येष्ठताक्रम के अनुसार उनके नाम दिए हैं। इनके वेतन के विषय में कहा कि इस ज्येष्ठताक्रम में जो बाद में आते गए हैं, उनका वेतन क्रमशः १० प्रतिशत कम होता गया है। ज्येष्ठताक्रम से इनके नाम हैं :- १. पुरोहित, २. प्रतिनिधि, ३. प्रधान, ४. सचिव, ५. मंत्री, ६. प्राड्विवाक, ७. पण्डित, ८. सुमन्त्र, ९. अमात्य १०. दूत।[९६]

शुक्राचार्य ने कुछ अन्य आचार्यो का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि वे मंत्रियों की संख्या ८ ही मानते हैं। वे इनमें से पुरोहित और दूत को छोड़ देते हैं। दूसरा अन्तर यह बताया है कि इनके वेतन में कोई अन्तर नहीं होता। इन आठों का वेतन बराबर होता है।[९७] सर्वसंमत परंपरा के अनुसार मंत्रिमंडल में मंत्रियों की संख्या ८ ही होती थी। श्री रानाडे ने उल्लेख किया है कि शिवाजी के प्रशासन में भी 'अष्टप्रधान' (Cabinet of eight heads of departments) नियुक्त थे।[९८]

महाभारत में मंत्रिपरिषद् की संख्या ३७ बताई गई है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि राज्य विधायिका शक्ति (Legislative Power) ने मंत्रिपरिषद् के गठन के लिए कुछ

---

९२. सचिवान् सप्त चाष्टौ वा, प्रकुर्वीत परीक्षितान् । मनु० ७.५४

९३. अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये, मन्त्रं राजोपधारयेत् । शान्ति० ८५.११

९४. मन्त्रिपरिषदं द्वादशामात्यां कुर्वीतेति मानवाः । षोडशेति
बार्हस्पत्याः । विंशतिम् इत्यौशनसाः । अर्थ० पृ० ५७

९५. यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः । अर्थ० पृ० ५७

९६. पुरोधाः प्रतिनिधिश्चैव, प्रधानः सचिवस्तथा ।
मन्त्री च प्राड्विवाकश्च, पण्डितश्च सुमन्त्रकः ।।
अमात्यो दूत इत्येता राज्ञः प्रकृतयो दश ।
दशमांशाधिकाः पूर्वं दूतान्ताः क्रमशः स्मृताः ।। शुक्र० २.७०-७१

९७. अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित् स्मृतः सदा ।
एता भृतिसमास्त्वाष्टौ राज्ञः प्रकृतयः सदा । शुक्र० २.७२-७३

९८. Ranade, Rise of maratha Power, PP. 125-126.

विशेष नियम बना दिए थे। तदनुसार ही राजा द्वारा मंत्रिपरिषद् का गठन किया जाता था। अपने विषय के विशेषज्ञों को ही मंत्रिपरिषद् में लिया जाता था। महाभारत के अनुसार मंत्रिपरिषद् में चारों वर्णों का प्रतिनिधित्व अनिवार्य था। तदनुसार ब्राह्मण ४, क्षत्रिय ८, वैश्य २१, शूद्र ३ और १ सूत। सूत का कार्य तत्कालीन इतिहास का लेखन था। वह राज्य के दैनिक क्रियाकलाप का भी संकलन करता था। उसे पौराणिक भी कहा गया है।[९९]

महाभारत ने यह भी स्पष्ट किया है कि विशेष मंत्रणा के लिए राजा ८ चुने हुए मंत्रियों की अन्तरंग मंत्रणापरिषद् (Inner Cabinet) बनावे। इनसे गोपनीय विषयों पर मंत्रणा करे।[१००] इससे आगे बढ़कर महाभारत का यह भी कथन है कि अत्यन्त गोपनीय विषयों पर मंत्रणा के लिए राजा इनमें से भी परम विश्वसनीय ३ मंत्रियों की अन्तरंग समिति बनावे और उसमें अतिगंभीर समस्याओं पर विवेचन करे।[१०१]

महाभारत की मंत्रिपरिषद् का विवरण देखने से ज्ञात होता है कि मंत्रिमंडल में वैश्यों को सबसे अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए डा० देवीदत्त शुक्ल ने कहा है कि राज्य में जो आर्थिक संगठन होते थे, उनका प्रतिनिधित्व मंत्रिमंडल में आवश्यक होता था।[१०२] रामायण और महाभारत में इन संगठनों का उल्लेख है। वैश्यों में श्रेणी, निगम, गण (वर्ग) आदि आर्थिक संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण थीं और श्रेणीमुख्य, नैगम एवं गणवल्लभ (गणप्रधान) आदि इनका प्रतिनिधित्व करते थे।[१०३]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि मंत्रिमंडल के सदस्यों की संख्या ८ से लेकर ३७ तक होती थी। इस विषय में कौटिल्य का मत समुचित प्रतीत होता है कि आवश्यकतानुसार मंत्रियों की संख्या रखी जाय।[१०४] छोटे राज्यों में मंत्रियों की संख्या बहुत कम और बड़े-

---

९९. चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् , प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन् ।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ, बलिनः शस्त्रपाणिनः ।। ७।।
वैश्यान् वित्तेन संपन्नान् , एकविंशतिसंख्यया ।
त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च , शुचीन् कर्मणि पूर्वके ।। ८।।
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं, सूतं पौराणिकं तथा ।। शान्ति० ८५. ७ से ९

१००. अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये, मन्त्रं राजोपधारयेत् । शान्ति० ८५. ११

१०१. तेषां त्रयाणां विविधं विमर्शं
विबुध्य चित्तं विनिवेश्य तत्र । शान्ति० ८३.५३

१०२. डा० देवीदत्त शुक्ल, प्राचीन भारत में राजतंत्र, पृ० ७२

१०३. (क) ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च । वनपर्व २४८.१६
(ख) द्विजातिमुख्यैर्धर्मात्मा श्रेणीमुख्यैः सनैगमैः । वा० रामा० युद्ध० १२७.१
(ग) ब्राह्मणान् क्षत्रियान् योधान् , अमात्यान् गणवल्लभान् । वा० रामा० अयोध्या० ८१.१२

१०४. यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः । अर्थ० पृष्ठ ५७

बड़े साम्राज्यों में मंत्रियों की संख्या अधिक रखी जाय, क्योंकि बड़े राज्यों में विभागों की संख्या बहुत अधिक होगी और कार्यभार भी अधिक होगा। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि अमात्यों का पद उच्च अधिकारी और विभागाध्यक्ष का होता था। वे मंत्रियों के समकक्ष नहीं थे। उनका वेतन मंत्रियों से चौथाई होता था।[१०५] बड़ी मंत्रिपरिषद् की बैठक में सभी अमात्य बुलाए जाते थे, परन्तु अन्तरंग मंत्रिपरिषद् (Cabinet) में केवल मंत्रियों से ही मंत्रणा की जाती थी।

उपमंत्री- कौटिल्य और शुक्रनीति के कथनों से ज्ञात होता है कि मंत्रियों के सहयोगी (Assistant) के रूप में उपमंत्रियों की भी नियुक्ति होती थी। कौटिल्य ने 'मंत्राधिकार' में वर्णन किया है कि मंत्रियों के भी सहायक मंत्री होते हैं, अतः गोपनीय मंत्रणाओं में सहायक मंत्रियों को न बुलावे।[१०६] इससे ज्ञात होता है कि सहायक मंत्री या उपमंत्री भी होते थे। शुक्राचार्य का कथन है कि राजा एक विभागीय पद पर तीन अधिकारियों की नियुक्ति करे। उन तीनों में जो सर्वोत्कृष्ट हो, उसे प्रमुख (अध्यक्ष) बनावे तथा शेष दो को उसका सहायक (Assistant)।[१०७] इससे ज्ञात होता है कि एक मंत्री के २ सहायक उपमंत्री होते थे। इसी प्रसंग में शुक्राचार्य ने सुन्दर बात कही है कि अधिकार का मद किसको नहीं होता है, अतः अधिकारियों को अधिक समय तक एक स्थान पर न रहने दे।[१०८]

मंत्रियों के विभाग - शुक्राचार्य ने मंत्रियों के विभागों का भी उल्लेख किया है।[१०९] डा० के.पी. जायसवाल ने शुक्रनीति को आधार मानकर इन मंत्रियों के ये विभाग बताए हैं :-[११०]

१.	पुरोहित	-	धर्ममंत्री (Minister of Religion)
२.	प्रतिनिधि	-	प्रतिनिधि (Representative of पौर - जानपद)
३.	प्रधान	-	अध्यक्ष (President of the Council)
४.	सचिव	-	सेनापति, रक्षामंत्री (Minister of War)
५.	मंत्री	-	गृहमंत्री (Home Minister)
६.	प्राड्विवाक	-	न्यायमंत्री (Minister of Justice and Chief Justice)

---

१०५. अमात्याः सर्व एवैते, कार्याः स्युर्न तु मन्त्रिणः । अर्थ० पृष्ठ २७ तथा ५१२

१०६. गुह्यमेको मन्त्रयेतेति भारद्वाजः । मन्त्रिणामपि मन्त्रिणो भवन्ति । अर्थ० पृष्ठ ५३

१०७. एकस्मिन्नधिकारे तु पुरुषाणां त्रयं सदा ।
नियुञ्जीत प्राज्ञतमं मुख्यमेकं तु तेषु वै ।। शुक्र० २. १०७

१०८. अधिकारमदं पीत्वा को न मुह्येत् पुनः चिरम् । शुक्र० २.११०

१०९. शुक्रनीति २. ७० से ७३

११०. Hindu Polity. P. 293

७. पण्डित - अमात्य-विधिमंत्री (Minister of Law)
८. सुमन्त्र - वित्तमंत्री (Minister of Finance)
९. अमात्य - कृषिमंत्री (Minister of Revenue and Agriculture)
१०. दूत - विदेशमंत्री (Minister of Diplomacy)

शुक्राचार्य ने मंत्रियों के जो कार्य बताए हैं, वे संक्षेप में ये हैं :-

१. **पुरोहित** : सभी प्रकार के धार्मिक क्रिया-कलापों को कराना। वेदत्रयी का ज्ञाता, धनुर्वेद का ज्ञाता, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र का ज्ञाता, नीतिशास्त्रज्ञ, शस्त्रास्त्र चलाने और व्यूहरचना में कुशल हो।[१११]

२. **प्रतिनिधि**- कौन सा कार्य अत्यावश्यक है और कौन सा कार्य त्याज्य है, इस विषय का विशेषज्ञ हो। आवश्यक कार्य राजा से तुरन्त करावे।[११२]

३. **प्रधान** - राजकीय सभी कार्यों का निरीक्षण करना।[११३]

४. **सचिव** - सैन्य - संचालन का अधिकारी। सेना से संबद्ध सभी कार्य करना।[११४]

५. **मंत्री**- नीतिशास्त्र का ज्ञाता और तदनुसार कार्यकर्ता हो। राजा को यथोचित मंत्रणा दे। साम, दान, दंड, भेद के कार्यों पर विचार कर राजा को राय देना।[११५]

६. **प्राड्विवाक**- लोक-व्यवहार और शास्त्र-व्यवहार के साथ ही नीतिशास्त्र का ज्ञाता हो। सभी प्रकार के मुकदमों पर अपना निर्णय राजा को बतावे।[११६]

७. **पण्डित-अमात्य**- धर्मशास्त्रों का ज्ञाता हो। सभी धार्मिक विषयों पर राजा को परामर्श देना।[११७]

८. **सुमन्त्र**- आय-व्यय और अर्थशास्त्र का ज्ञाता हो। राजकीय आय-व्यय का पूरा वार्षिक विवरण राजा को प्रस्तुत करना।[११८]

---

१११. मन्त्रानुष्ठानसंपन्नस्त्रैविद्यः कर्मतत्परः ।
षडङ्गवित् सांगधनुर्वेदवित् चार्थधर्मवित् ।
नीतिशास्त्रास्त्र-व्यूहादि-कुशलस्तु पुरोहितः ।। शुक्र० २. ७७ से ७९

११२. कार्याकार्यप्रविज्ञाता, स्मृतः प्रतिनिधिस्तु सः । शुक्र० २. ८३,८७

११३. सर्वदर्शी प्रधानस्तु । शुक्र० २.८३, ८८

११४. सेनावित् सचिवस्तथा । शुक्र० २.८३, ८९ से ९३

११५. मंत्री तु नीतिकुशलः । शुक्र० २.८४, ९४

११६. लोकशास्त्रनयज्ञस्तु प्राड्विवाकः स्मृतः सदा । शुक्र० २.८४, ९५ से ९७

११७. पण्डितो धर्मतत्त्ववित् । शुक्र० २.८४, ९८-९९

११८. आय-व्यय-प्रविज्ञाता सुमन्त्रश्च प्रकीर्तितः । शुक्र० २.८५, १००

९. **अमात्य**- देश, काल और लोक-व्यवहार का ज्ञाता हो। भूमि-संबन्धी समस्त विवरण, शुल्क (मालगुजारी), दण्ड (जुर्माना), कृषि-संबन्धी आय-व्यय, खानों से प्राप्त रत्न आदि का विवरण, चोरों से दंडरूप में प्राप्त धन आदि का पूरा हिसाब रखना और इनका विवरण राजा को प्रस्तुत करना।[११९]

१०. **दूत** - इंगित, आकृति और चेष्टाओं का ज्ञाता, देशकालज्ञ, मेधावी, राजनीति के षड्गुण (६ उपाय- संधि, विग्रह, यान, आसन, समाश्रय और द्वैधीभाव) को जानने वाला, चतुर वक्ता और निर्भीक हो। परराष्ट्र से संबद्ध कूटनीतिक विषयों पर विचार करना और अपना निर्णय राजा को बताना।[१२०]

प्रतिनिधि के विषय में डा० अलतेकर का मत है कि वह राजा का प्रतिनिधि होता था। यह कार्य संभवतः युवराज करता था।[१२१] परन्तु डा० जायसवाल का कथन है कि कि प्रतिनिधि ज्येष्ठताक्रम में प्रधान से भी ऊपर है, अतः वह युवराज नहीं हो सकता। प्रतिनिधि का कार्य था कि वह अत्यावश्यक कार्यों को राजा से तुरन्त करवावे, भले ही वह कार्य राजा को पसन्द हो या न हो। इतना महत्त्वपूर्ण कार्य कोई बड़ा दबंग ही करवा सकता है। उनका सुझाव है कि पौर-जानपद का प्रतिनिधि ही यह हो सकता है।[१२२] ऐसा प्रतीत होता है कि जनता की समस्याओं को हल करने के लिए जनता का एक प्रतिनिधि (जनता के द्वारा चुना हुआ या नामित) मंत्रिमंडल में स्थान पाता था और जनता की आवश्यकताओं को बलात् राजा से पूर्ण कराता था। मंत्रिमंडल में इसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था।

मंत्रियों का वेतन- वाल्मीकि रामायण और शुक्रनीति में मंत्रियों को तीन श्रेणीं में रखा गया है- मुख्य (उच्च), मध्यम और निम्न।[१२३] कौटिल्य ने इसी दृष्टि से 'भृत्यभरणीयम् ' अध्याय में सभी राजकीय अधिकारियों के वेतन का उल्लेख किया है। मंत्रिपरिषद् से संबद्ध तीन वर्ग हैं और इनके वेतन (भृति) इस प्रकार दिए गए हैं :-

(क) **४८ हजार पण (चांदी के सिक्के) प्रति वर्ष** – इस श्रेणी में आतें हैं- प्रधानमंत्री, पुरोहित, सेनापति।[१२४]

---

११९. देशकाल - प्रविज्ञाता, ह्यमात्य इति कथ्यते । शुक्र० २.८५, १०१ से १०४

१२०. इंगिताकार - चेष्टज्ञः स्मृतिमान् देशकालवित् ।
षाड्गुण्यमन्त्रविद् वाग्मी वीतभीर्दूत इष्यते । शुक्र० २.८६

१२१. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ ११८

१२२. Hindu Polity, PP. 293-294

१२३. वा० रामायण १००. २५-२६ । शुक्रनीति २. १०७-१०८

१२४. मन्त्रि-पुरोहित-सेनापति-युवराज-राजमातृराजमहिष्यो ऽष्टचत्वारिंशत्साहस्राः । अर्थ० पृष्ठ ५१२

(ख) **२४ हजार पण प्रतिवर्ष** – इस श्रेणी में आते हैं - प्रशास्ता (Inspector - General of Prisons) कारागृह का सर्वोच्च अधिकारी, समाहर्ता (Minister of Revenue) आयमंत्री, संनिधाता (Minister of Treasury) कोषाध्यक्ष।[१२५]

(ग) **१२ हजार पण प्रतिवर्ष** – इस श्रेणी में मंत्रिपरिषद् के शेष सभी मंत्री आते हैं।[१२६]

पण का मूल्य- इस विषय में यह जानना रुचिकर होगा कि पण का कौटिल्य के समय में क्या मूल्य था। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस विषय पर 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में बहुमूल्य सामग्री दी है, उनका कथन है कि प्राचीन भारतवर्ष का सबसे मशहूर सिक्का चांदी का कार्षापण था। इसे ही मुनस्मृति में धरण और राजत पुराण (चांदी का पुराण) भी कहा गया है।[१२७] अर्थशास्त्र में कार्षापण ही चालू सिक्का था। वहां इसका संक्षिप्त नाम 'पण' दिया गया है। मनुस्मृति के अनुसार चांदी के कार्षापण या पुराण का वजन ३२ रत्ती था।[१२८]

एक रत्ती की आधुनिक तोल १.८३ ग्रेन के लगभग मानी जाती है। इस हिसाब से ३२ रत्ती का वजन ५८.५६ ग्रेन होता है। सभी विद्वान् कार्षापण का यही वजन मानते हैं। कुछ घटने बढ़ने से यह वजन ५६ से ६० ग्रेन तक हो सकता है।[१२९] लगभग १५.५ ग्रेन का १ ग्राम होता है। इस प्रकार ३२ रत्ती या ५८.५ ग्रेन लगभग ४ ग्राम हुआ। इस प्रकार पण या कार्षापण यह चांदी का सिक्का लगभग ४ ग्राम का होता था।

डा० अग्रवाल ने इस विषय पर विस्तार से विचार करते हुए लिखा है कि एक चांदी के पण या कार्षापण, जिसकी तौल ३२ रत्ती थी, की क्रयशक्ति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि एक पण से १२ मन ३२ सेर अनाज खरीदा जा सकता था।[१३०] अभिप्राय यह हुआ कि उस समय के एक रुपये (पण) में १२ मन ३२ सेर गेहूँ आदि अन्न मिलता था।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय ४८ हजार वार्षिक (या ४ हजार पण मासिक) की क्रयशक्ति आज की अपेक्षा सैकड़ों नहीं, अपितु हजारों गुना अधिक थी।

---

१२५. प्रशास्तृ-समाहर्तृ - संविधातारः चतुर्विंशतिसाहस्राः । अर्थ० पृष्ठ ५१२

१२६. मंत्रिपरिषद् - राष्ट्रपालान्तपालाश्च द्वादशसाहस्राः । अर्थ० पृष्ठ ५१३

१२७. मनु० ८.१३५-१३६

१२८. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २५६

१२९. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २६०

१३०. वही, पृष्ठ २६८

५. कोश (कोष)

कोश के विषय में कौटिल्य का कथन है कि :- (क) कोश धर्मपूर्वक एकत्र किया जाना चाहिए, अन्याय से नहीं। (ख) इसमें पूर्वजों की और अपनी कमाई संचित हो। (ग) इसमें बहुमूल्य रत्न, सुवर्ण, चांदी आदि भरा हुआ हो। (घ) कोश इतना परिपूर्ण हो कि दीर्घकालीन विपत्ति और अकाल आदि के समय भी उससे पूरा निर्वाह हो सके।[१]

कौटिल्य ने यह भी कहा है कि राजा पक्की ईंटों का एक भूमिगृह (तहखाना) बनवावे। इसमें आपत्ति के समय काम आने वाला एक ध्रुवनिधि (गुप्त खजाना) बनवावे।[२] कोश में जो भी बहुमूल्य रत्न आदि रखे जाएँ, उनकी विशेषज्ञों द्वारा परीक्षा करा ली जाय।[३] कौटिल्य का यह भी कथन है कि सारी सेना का अस्तित्व कोश पर निर्भर है, अतः सेना से अधिक ध्यान कोश पर देना चाहिए। कोश सेना और दुर्ग दोनों की रक्षा करता है। कोश ही धर्म अर्थ कामरूपी त्रिवर्ग का साधन है।[४]

शुक्राचार्य का कथन है कि राजा को चाहिए की वह जैसे भी हो धन का संग्रह करे। उससे सेना और प्रजा की रक्षा करे तथा धार्मिक कार्यों को संपन्न करे।[५]

महाभारत का कथन है कि राजा को पूरा प्रयत्न करके कोष की रक्षा करनी चाहिए। कोष ही राजा का आधार है, कोष से ही सारे विकासकार्य होते हैं।[६] कोष्ठागार सदा अन्नादि से भरा रहना चाहिए। इसकी रक्षा का भार श्रेष्ठ पुरुषों पर डाले। इस प्रकार कोष और कोष्ठागार सदा धन-धान्य से पूर्ण रहें।[७]

६. दंड, सेना (बल)

राज्य के सात अंगों के वर्णन में महाभारत, मनु और कौटिल्य ने दंड को भी स्थान

---

१. धर्माधिगतः पूर्वैः स्वयं वा... दीर्घामपि आपदम् अनायतिं
सहेतेति कोशसम्पद् । अर्थ० पृष्ठ ५३७

२. भूमिगृहं कारयेत् । ध्रुवनिधिम् आपदर्थम् ... कारयेत् । अर्थ० पृ० ११५

३. कोषाध्यक्षः ... रत्नं सारं ... प्रतिगृह्णीयात् । अर्थ० पृ० १५१

४. कोशमूलो हि दण्डः । कोशो धर्महेतुः । कोशः कोशस्य दण्डस्य च भवति । अर्थ० पृष्ठ ६८५

५. येन येन प्रकारेण धनं संचिनुयाद् नृपः ।।
बलप्रजा-रक्षणार्थं, यज्ञार्थं कोशसंग्रहः ।। शुक्र० ४.२.२ और ३

६. कोशश्च सततं रक्ष्यो, यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः, कोशः वृद्धिकरो भवेत् ।। शान्ति० ११९.१६

७. शान्तिपर्व ११९.१७

दिया है। शुक्राचार्य और कामन्दक ने इसके लिए बल अर्थात् सेना शब्द का प्रयोग किया है।

कौटिल्य ने दंड शब्द से सेना का अर्थ लिया है। उन्होंने सेना के लिए ये निर्देश दिए हैः- (क) सेना में वंशपरंपरागत, स्थायी और अनुशासन - पालन करने वाले सैनिक भर्ती किए जाएँ। (ख) युद्ध के समय सैनिकों को आवश्यक सामग्री से लेस किया जाय। (ग) सैनिक अजेय हों। दुःख सहने की क्षमता वाले हों।युद्धकला में प्रवीण हों। (घ) सैनिकों में अधिकांश क्षत्रिय हों।[८]

कौटिल्य का कथन है कि जिसके पास सैन्यबल उत्तम होता है, उसके मित्र तो मित्र रहते ही हैं, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। तात्कालिक आक्रमण होने पर सेना ही काम आती है।[९] कौटिल्य ने सेना के संगठनों का विस्तृत वर्णन किया है। ये संगठन है :- मौलबल (राजधानी की रक्षक सेना), भृतक बल (वेतनभोगी सेना), श्रेणीबल (शस्त्रास्त्र में निपुण सेना), मित्र बल (मित्रराजा की सेना), अमित्रबल (शत्रु राजा की सेना),अटवीबल (वन्य जनों की सेना), औत्साहिक बल (संकट के समय काम आने वाली सेना)[१०]।

कौटिल्य ने दशम अधिकरण में छावनी का निर्माण, छावनी का प्रयाण, आक्रमण के समय सेना की रक्षा, विविध प्रकार के व्यूहों की रचना, सेना - संचालन, युद्ध का प्रकार, युद्ध के शस्त्रास्त्र, युद्ध में प्रयुक्त विविध यन्त्र, चतुरंग सेना आदि का विस्तृत वर्णन किया है।[११]

महाभारत में सेना के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं। सेनापति के गुण बताते हुए कहा गया है कि राजभक्त, युद्धविशारद, धर्मज्ञ, शूरवीर, जितेन्द्रिय और श्रेष्ठ कर्म करने वाले को सेनापति बनावे।[१२] महाभारत ने चतुरंग सेना का उल्लेख किया है कि सेना में हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेना होती है।[१३] महाभारत शान्तिपर्व के अध्याय ९९ से १०२ तक व्यूहरचना, सैन्य-संचालन, सैनिकों के गुण-कर्म आदि का विस्तृत वर्णन किया

---

८. पितृपैतामहो नित्यो वश्यः ... सर्वयुद्धप्रहरणविद्याविशारदः,
क्षत्रप्राय इति दण्डसम्पत् । अर्थ० पृष्ठ ५३७-५३८

९. दण्डवतो मित्रं मित्रभावे तिष्ठति, अमित्रो वा मित्रभावे । अर्थ० पृ० ६८६

१०. मौल-भृतक-श्रेणी-मित्रामित्राटवी-बलानां समुद्दानकालाः ।
विलोपार्थं यदुत्तिष्ठति, तदौत्साहिकम् । अर्थ० पृष्ठ ७३०, ७३४

११. अर्थशास्त्र पृष्ठ ७८१ से ८१७

१२. दृढभक्तिं कृतप्रज्ञं धर्मज्ञं संयतेन्द्रियम् ।
शूरमक्षुद्रकर्माणं निषिद्धजनमाश्रयेत् ।। शान्ति० ६८.५७

१३. हस्तिनोऽश्वा रथाः पत्ति । शान्ति० १२१.४४

गया है। शूरों की प्रशंसा में कहा गया है कि यह सारा संसार शूरवीरों पर अवलम्बित है। शूरवीरता से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है, अतः शूरवीरों का सदा संमान करना चाहिए।[१४] जो युद्ध में वीरगति पाता है, वह स्वर्ग को पाता है।[१५]

राज्यसंस्था के लिए सेना का बहुत महत्त्व है। वही बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करती है, अतः सेना को सदा सन्तुष्ट रखना चाहिए। महाभारत सभापर्व में नारद ने युधिष्ठिर से कहा है कि तुम सैनिकों को उनका वेतन, भत्ता और भोजन-सामग्री ठीक समय पर देते रहना।[१६]

शुक्रनीति से ज्ञात होता है कि राज्य की आय का लगभग ५० प्रतिशत सेना पर खर्च किया जाता था। शुक्राचार्य ने कहा है कि यदि अनुमानतः राजा की वार्षिक आय एक लाख हो तो वह प्रतिमास किन मध्यों पर कितना व्यय करे। इसके अनुसार प्रतिवर्ष घुड़सवार, घोड़े और पैदल सैनिकों के लिए ४८ हजार रु० (अर्थात् ४८ प्रतिशत), हाथी, ऊंट, बैल, बन्दूकधारियों के लिए ४ हजार ८ सौ रु० (अर्थात् ४.८ प्रतिशत) व्यय करे। इसके अतिरिक्त वर्दी के लिए प्रतिवर्ष १५ सौ रु० प्रत्येक सैनिक को दे। इस प्रकार राजकीय आय का लगभग ५३ प्रतिशत सेना पर व्यय किया जाता था।[१७]

शुक्राचार्य ने एक अन्य स्थान पर राजकीय आय का एक तिहाई अर्थात् १/३ अंश सेना पर खर्च करने का निर्देश दिया है।[१८]

शुक्राचार्य ने सेना की छोटी टुकड़ी से लेकर बड़े भाग तक के नाम और उनके अधिकारियों के नाम आदि का पूरा विवरण दिया है।[१९] सेनापति के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह नीतिशास्त्र, शस्त्र-अस्त्र-संचालन और युद्धविद्या में निपुण हो, युवा

---

१४. तस्मात् सर्वास्ववस्थासु, शूरः संमानमर्हति ।
नहि शौर्यात् परं किंचित्, त्रिषु लोकेषु विद्यते ।।
शूरः सर्वं पालयति, सर्वं शूरे प्रतिष्ठितम् ।। शान्ति० ९९.१७-१८

१५. भर्तुरर्थे यः शूरो विक्रमेद् वाहिनीमुखे ।
न भयाद् विनिवर्तेत, तस्य लोका यथा मम । शान्ति० ९८. २८-२९

१६. क्वचिद् बलस्य भक्तञ्च, वेतनं च यथोचितम् ।
संप्राप्तकाले दातव्यं, ददासि न विकर्षसि ।। सभा० ५.४८

१७. साद्यश्वपदगार्थं हि, राजा चतुःसहस्रकम् ।
गजोष्ट्रवृषनालार्थं, व्ययीकुर्यात् चतुःशतम् ।।
प्रतिवर्षं स्ववेशार्थं सैनिकेभ्यो धनं हरेत् ।। शुक्र० ४.७. २६-२७

१८. त्रिभिरंशैर्बलं धार्यम् । शुक्र० १. ३१६

१९. शुक्र० १. १३७ से १४३

एवं शूरवीर हो। सेनापति किसी भी जाति का हो सकता है। वह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ या वर्णसंकर किसी भी जाति का हो, बिना किसी भेदभाव के ऐसे वीर व्यक्तियों को सेनापति और सैनिक बनावे।[२०] इससे स्पष्ट है कि सेना के लिए वीरता प्रमुख गुण है, न कि जाति आदि। शौर्य के आधार पर ही उसका निर्वाचन होना चाहिए।

शुक्र ने सेना के शस्त्रास्त्रों में बृहत्नालिक (बड़ी तोप), क्षुद्र नालिक (बन्दूक), ग्रावचूर्ण (बारूद), अग्निचूर्ण (बारूद) आदि का भी उल्लेख किया है।[२१] शुक्र ने अनेक प्रकार के बारूद बनाने के नुस्खे भी दिए हैं।[२२] शुक्र ने यह भी वर्णन किया है कि सेना में पदाति (पैदल सेना) आदि किस अनुपात से रहें। घुड़सवार सैनिकों से चौगुनी पैदल सेना (अर्थात् ४०० पदाति, १०० घुड़सवार), हाथी और ऊंट १/४ (२५), रथ १२, तोप २५ रखें।[२३] इसी अनुपात से बड़ी और छोटी सेना की व्यवस्था करे। शुक्र ने क्रौंच, श्येन, मकर, चक्र, सूचीमुख, सर्वतोभद्र आदि व्यूहों का भी वर्णन किया है।[२४]

शुक्र ने उल्लेख किया है कि सेना की नियुक्ति युद्धकार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों में न करे।[२५] सैनिकों के उत्साह की वृद्धि के लिए शौर्यगाथाएँ आदि उन्हें सुनावे।[२६] सैनिकों का वेतन और भत्ता नियमित रूप से दिया जाय।[२७] सैनिकों के परिवार और धन की रक्षा राजा अपने धन के तुल्य करे।[२८]

७. मित्र, सुहृद्

राज्य के सात अंगों में एक अंग मित्र है। मित्र के लिए ही सुहृद् शब्द का भी प्रयोग होता है। राज्य - संस्था के लिए राजा के मित्रों का होना अत्यावश्यक है, जो उचित मंत्रणा दे सकें और विपत्ति के समय सहयोगी हों। राजा को राज्य के अन्दर भी मित्रों की आवश्यकता

---

२०. शूद्रा वा क्षत्रिया वैश्या, म्लेच्छाः संकरसंभवाः ।
सेनाधिपाः सैनिकाश्च, कार्या राज्ञा जयार्थिना ।। शुक्र० १.१३५-१३६

२१. नालिकं द्विविधं ज्ञेयं, बृहत् - क्षुद्र - विभेदतः । शुक्र० ४.७.१८४
ग्रावचूर्णधृक्, नालास्त्रार्थाग्निचूर्णे । शुक्र० ४.७.१८५, १९१

२२. शुक्र० ४.७. १८९ से १९७

२३. शुक्र० ४.७. १९ से २०

२४. शुक्र० ४.७. २६६ से २७०

२५. युद्धक्रियां विना सैन्यं, योजयेद् नान्यकर्मणि ।। शुक्र० ५.८२

२६. शुक्र० ५.८१

२७. शुक्र० ५.८४

२८. शुक्र० ५.८५

है तथा आक्रमण आदि के समय मित्रराष्ट्रों या मित्रराज्यों के सहयोग की आवश्यकता है, अतः मित्र और मित्रराष्ट्र दोनों के सहयोग की आवश्यकता है। राजा को विभिन्न राष्ट्रों से मित्रता स्थापित करनी होती है, जिससे शत्रु राजा द्वारा आक्रमण होने पर उसका ठोस प्रतीकार किया जा सके। अतएव मित्र को सात प्रकृतियों (अंगों) में रखा गया है।

कौटिल्य ने मित्र अंग को मित्रसम्पद् या मित्रसंपत्ति कहा है। उन्होंने मित्र के ये गुण बताए हैं :- १. वे वंशपरंपरागत हों अर्थात् पूर्वजों के समय से जिनके साथ मित्रता चली आ रही हो। २. वे स्थायी मित्र हों। ३. अत्यन्त विश्वसनीय हों। ४. जिनको तोड़ा न जा सके या जिनसे विरोध की आशंका न हो। ५. जो आवश्यकता पड़ने पर शीघ्रता के साथ बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारी कर सकने में समर्थ हों।[२९]

८. जनपद, राष्ट्र

राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग (प्रकृति) जनपद या राष्ट्र है। कौटिल्य ने इसको जनपद-संपद् या जनपद-संपत्ति कहा है। उन्होंने जनपद के ये गुण बताए हैं :- १. जनपद की स्थापना ऐसे स्थान पर होनी चाहिए, जिसके बीच में या सीमान्तों पर दुर्ग हों। २. वह विस्तृत भूमि पर फैला हुआ हो, जिससे विपत्ति के समय अपनी और विदेशियों की भी रक्षा की जा सके। ३. वहाँ आत्मरक्षा या सुरक्षा के सब साधन होने चाहिएँ। वह आत्मनिर्भर हो। ४. जो शत्रु - राजाओं को जीत सके। ५. जहां कंटक, दलदल और पथरीली भूमि न हो। ६. जहाँ कृषियोग्य उत्तम भूमि हो, खान हों, हाथी आदि पशु हों और वन हों। जहाँ जलवायु सुन्दर हो। ७. सिंचाई की सविधा हो। ८. सभी प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध हों। ९. किसान पुरुषार्थी हों। १०. जनता राज्य के प्रति भक्ति रखने वाली और पवित्र आचरणवाली हो।[३०]

कौटिल्य के कथन से ज्ञात होता है कि जनपद में सभी आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिएँ। भूमि उत्तम हो, जलवायु उत्तम हो, अन्न आदि की प्रचुरता हो, जनपद आत्मनिर्भर हो, जनता कर्मठ और उच्च चरित्र वाली हो।

आचार्य कौटिल्य ने अधिकरण ८ में राज्य के ७ अंगों के अपेक्षाकृत महत्त्व पर विचार किया है। इसमें आचार्य विशालाक्ष का मत दिया गया है कि अमात्य की अपेक्षा जनपद

---

२९. पितृपैतामहं नित्यं वश्यम् अद्वैध्यं महत्-लघु समुत्थमिति मित्रसंपत् । अर्थ० पृष्ठ ५३८

३०. मध्ये चान्ते च स्थानवान् , आत्मधारणः, स्वारक्षः, स्वाजीवः, ...
सीताखनिद्रव्यहस्तिवनवान्, कर्मशीलकर्षकः, ... भक्तशुचिमनुष्य
इति जनपदसम्पत् । अर्थ० पृष्ठ ५३७

पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, क्योंकि जनपद से ही कोष, सेना, वस्त्र, खनिज, श्रमिक वर्ग, पशु अन्न आदि सब कुछ मिलता है।[३१]

आचार्य कौटिल्य ने दुर्ग की अपेक्षा जनपद को महत्त्व दिया है और कहा है कि दुर्ग, कोष, सेना, कृषि आदि कार्य जनपद पर ही निर्भर हैं। शूरवीरता, स्थिरता, दक्षता, गुणों की विशेषता आदि बातें जनपद के पुरुषों में ही हो सकती हैं। अतः दुर्ग की अपेक्षा जनपद पर अधिक ध्यान देना चाहिए।[३२]

९. पुर, दुर्ग

पुर अर्थात् राजधानी और दुर्ग (किला) के निर्माण पर नीतिग्रन्थों में विस्तार से विचार किया गया है। आचार्य पराशर ने दुर्ग के महत्त्व पर बल देते हुए कहा है कि राजकोष और सेना मुख्यरूप से दुर्ग में ही रहते हैं। संकट के समय जनपदवासी भी दुर्ग में ही आश्रय लेते हैं। दुर्ग अधिक अजेय और स्थायी होते हैं।[३३]

आचार्य कौटिल्य ने भी दुर्ग का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है कि - कोष और सेना की रक्षा दुर्ग के द्वारा ही की जा सकती है। दुर्ग न हो तो शत्रु कोष पर सरलता से अधिकार कर सकता है। युद्ध के समय शत्रु को हराने के लिए दुर्ग का ही आश्रय लेना पड़ता है। दुर्ग से ही सैन्यशक्ति का प्रयोग उत्तमता से किया जा सकता है। दुर्ग यदि सुदृढ़ हो तो उसे हराना सरल नहीं है।[३४]

महाभारत ने राष्ट्र की रक्षा के लिए दुर्ग का बहुत महत्त्व बताया है और ६ प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है। ये हैं- १. **धन्वदुर्ग या मरुदुर्ग** - चारों ओर रेत या रेगिस्तान हो, बीच में दुर्ग हो। २. **महीदुर्ग** - समतल भूमि के अन्दर बना हुआ किला या तहखाना के रूप में दुर्ग। ३. **गिरिदुर्ग** - छोटे या बड़े पर्वत पर बना हुआ किला। ४. **मनुष्य दुर्ग** - फौजी किला। ५. **अब्दुर्ग** - पानी के बीच में बना हुआ किला। ६. **वनदुर्ग** - जंगल में बीच में बना हुआ किला।[३५]

---

३१. अमात्य - जनपदव्यसनयोर्जनपदव्यसनं गरीय इति विशालाक्षः ।
कोशो दण्डः कुप्यं ... जनपदाद् उत्तिष्ठन्ते । अर्थ० पृ० ६८१

३२. जनपदमूला दुर्ग-कोश-दण्ड-सेतु-वार्तारम्भाः । शौर्यं स्थैर्यं दाक्ष्यं बाहुल्यं च जानपदेषु ।
अर्थ० पृ० ६८२

३३. दुर्गे हि कोश-दण्डोत्पत्तिः,आपदि स्थानं च जनपदस्य । अर्थ० पृ० ६८२

३४. दुर्गार्पणः कोशो दण्डः । अर्थ० पृष्ठ ६८३-६८४

३५. धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च ।
मनुष्यदुर्गम् अब्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट् ।। शान्ति० ८६.५

महाभारत ने पुर (नगर) के निर्माण में इन बातों का ध्यान रखने का निर्देश दिया है। ये हैं :- १. पुर में दुर्ग आवश्यक है। २. शस्त्रास्त्र और धान्य प्रचुर मात्रा में रखा जाय। ३. चारों ओर प्राचीर (चार-दिवारी) और चौड़ी खाई हो। ४. सभी आवश्यक वस्तुओं के भंडार हों। ५. हाथी, घोड़े, रथ आदि हों। ६. चौड़ी सड़कें, चौराहे और बाजार हों। ७. न्यायालय हो। ८. विद्वान् और कारीगर प्रचुर मात्रा में हों। ९. प्रकाश की सुन्दर व्यवस्था हो। १०. न्याय और दंड की कठोर व्यवस्था हो, जिससे शान्ति और निर्भयता रहे। ११. कोष, सेना और मित्रों के लिए पूरा प्रबन्ध हो। १२. अन्न - भंडार और शस्त्र - अस्त्र भंडार हो। १३. यन्त्रों और अस्त्र - शस्त्रों के लिए कारखाने स्थापित करे। १४. जल के लिए कुएँ, तालाब और बड़े सरावरों की व्यवस्था करे। १५. वेदमंत्रों की ध्वनि , संगीत आदि के द्वारा नगर का वातावरण मनोहर बनाया जाय।[३६]

शुक्राचार्य ने दुर्ग का महत्त्व बताते हुए कहा है कि दुर्ग में स्थित एक सैनिक बाहर खड़े सौ सैनिकों से लड़ सकता है। इसी प्रकार शस्त्र-अस्त्रधारी सौ योद्धा प्राकार पर खड़े होकर दस हजार सैनिकों के लड़ सकते हैं, अतः दुर्ग का निर्माण आवश्यक है।[३७] दुर्ग में युद्ध की समस्त सामग्री एकत्र रहनी चाहिए।[३८] शस्त्र-अस्त्र, कोश, भोजन-सामग्री और वीर सैनिकों से युक्त दुर्ग सर्वोत्तम माना जाता है।[३९] जिस राजा के पास सैन्य दुर्ग है, उसके वश में सारी पृथ्वी है।[४०]

शुक्राचार्य ने दुर्ग और राजधानी के विषय में कुछ अन्य विशेष बातें ये लिखी हैं :- दुर्ग तोपों आदि (नलिकास्त्रों) से युक्त होना चाहिए। इसमें सेना की टुकड़ी रहनी चाहिए, परकोटा और गहरी खाई होनी चाहिए। पहरेदार सदा पहरा दें। इसमें युद्ध की सभी सामग्री और कुशल योद्धा रहने चाहिएं।[४१] राजधानी के विषय में शुक्र का कथन है कि इसमें वन, वृक्ष, बड़ी नदियाँ और पर्वत हों। पुरी के मध्य में राजभवन और राजसभा-भवन हो। इसमें जनता की सुविधा के लिए आवश्यक स्नानागार, शौचालय, मूत्रालय, पाकशाला, यज्ञशाला, व्यायामशाला, पशुशाला, शिल्पशाला, कचहरी, शिक्षणसंस्थाएँ आदि होने चाहिएँ।[४२]

---

३६. महा० शान्ति० ८६, श्लोक ४ से १५

३७. एकः शतं योधयति, दुर्गस्थोऽस्त्रधरो यदि ।
शतं दश सहस्राणि, तस्माद् दुर्गं समाश्रयेत् ।। शुक्र० ४.६.१०

३८. शुक्र० ४.६.११

३९. धान्यवीरास्त्रपुष्टानि, कोशपुष्टानि वै तथा ।
सहायपुष्टं यद् दुर्गं, तत्तु श्रेष्ठतमं मतम् ।। शुक्र० ४.६.१२

४०. सेनादुर्गं तु यस्य स्यात् , तस्य वश्या तु भूरियम् ।। शुक्र० ४.६.८

४१. शुक्र० १. २३९ से २४१

४२. शुक्र० १. २१३ से २२८

१०. षाड्गुण्य (६ गुण)

षाड्गुण्य - मनु, कौटिल्य, शुक्र, महाभारत आदि ने राजा के द्वारा अपनाए जाने योग्य ६ गुणों का विस्तृत वर्णन किया है। ये ६ गुण हैं :- १. संधि, २. विग्रह, ३. आसन, ४. यान ५. संश्रय, ६. द्वैधीभाव।[४३] कौटिल्य ने इन ६ गुणों की संक्षिप्त व्याख्या की है कि :- १. संधि - दो राजाओं का कुछ शर्तों पर मेल हो जाना। २. विग्रह– शत्रु राजा का कोई अपकार करना। ३. आसन – शत्रु राजा की उपेक्षा करना। ४. यान– शत्रु राजा पर आक्रमण करना। ५. संश्रय– शत्रु राजा को आत्मसमर्पण। ६. द्वैधीभाव- संधि और विग्रह दोनों का एक साथ प्रयोग।[४४]

वेदों में षाड्गुण्य का कहीं पर भी स्पष्ट विवेचन नहीं है। एक मंत्र में ६ गुणों में से ४ गुणों का उल्लेख है। यह मंत्र ऋग्वेद, अथर्ववेद और सामवेद तीनों वेदों में आया है।[४५] इस मंत्र में संधि के लिए 'संवननम्' शब्द है। विग्रह के लिए 'विद्वेषिणम्' है। यान के लिए 'अवक्रक्षिणम्' (आक्रमण करना) शब्द है। द्वैधीभाव के लिए 'उभयंकरम्' और 'उभयाविनम्' (संधि और विग्रह दोनों नीति बरतना) शब्द हैं। वेदों में आसन और संश्रय का उल्लेख नहीं है। उक्त ४ गुणों के आधार पर इस मंत्र को षाड्गुण्य का आधार मंत्र कहा जा सकता है। यान अर्थात् शत्रुराजा पर आक्रमण का अनेक मंत्रों में उल्लेख है। सेना के साथ आक्रमण करो।[४६] सेना के साथ आक्रमण करो और शत्रुओं को जीतो।[४७] शत्रुओं को पकड़ो ओर बांध लो।[४८] ऋग्वेद का कथन है कि महासेनाएँ (बड़ी फौज) शत्रु पर आक्रमण करके उन्हें तपाती हैं अर्थात् घोर कष्ट देती हैं।[४९] ऋग्वेद के एक मंत्र से संश्रय का संकेत मिलता है। मंत्र का कथन है कि राजा शत्रुओं का भय होने पर अन्य राजाओं की सहायता लेता है और उसके साथ मिलकर शत्रु को मारता है।[५०]

---

४३. संधि-विग्रहासन-यान-संश्रय-द्वैधीभावाः षाड्गुण्यम् इत्याचार्याः । अर्थ० पृष्ठ ५४९

४४. तत्र पणबन्धः संधिः, अपकारो विग्रहः, उपेक्षणम् आसनम् ,
अभ्युच्चयो यानम् , परार्पणं संश्रयः, संधिविग्रहोपादानं
द्वैधीभाव इति षड्गुणाः । अर्थ० पृष्ठ ५४९

४५. अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं, गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषिणं संवननोभयंकरं , मंहिष्ठम् उभयाविनम् ।।
ऋग्० ८.१.२ । साम० १३६१ । अथर्व० २०.८५.२

४६. उत्तिष्ठ ... सेनया सह । अ० ११.१०.५

४७. प्रेहि सेनया जयामित्रान् । अ० ११.१०.१८

४८. आ रभेथाम् आदानसंदानाभ्याम् । अ० ११.९.३

४९. तपन्ति शत्रुं ... महासेनासः । ऋग्० ७.३४.१९

५०. हन्ति राजभिर्भये चित् सुक्षितिं दधे । ऋग्०१.४०.८

(१) **संधि** - कौटिल्य का कथन है कि राजा शत्रु की तुलना में अपने को निर्बल समझे तो संधि कर ले।[५१] यदि शत्रु राजा भी समान उन्नतिशील है तो भी उससे संधि कर ले।[५२] यदि राजा यह समझे कि संधि कर लेने से मुझे तत्काल कुछ लाभ हो जाएंगें तो भी संधि कर ले।[५३] यदि राजा देखे कि संधि और विग्रह दोनों प्रकार अपनाने पर बराबर ही लाभ होगा तो संधि को ही अपनावे, क्योंकि विग्रह से अपनी प्रजा और धन-धान्य का नाश होगा।[५४]

शुक्राचार्य ने संधि के विषय में कुछ उपयोगी बातें कही हैं :- (१) बलवान् शत्रु आक्रमण कर दे और स्वयं असहाय हो तो संधि कर ले।[५५] (२) शत्रु राजा को प्रसन्न करने के लिए अपनी कन्या, भूमि का कुछ अंश या धन उपहार रूप में दे दे।[५६] (३) अपनी सुरक्षा की दृष्टि से समीपवर्ती अनार्य (म्लेच्छ आदि) राजाओं से भी संधि कर ले। ये अनार्य राजा दूसरे राजा द्वारा आक्रमण होने पर सहायक सिद्ध होंगे।[५७] (४) यदि राजा के अनेक शत्रु हों तो मौका देखकर उनमें जो सबसे अधिक शक्तिशाली शत्रु हो, उसके साथ संधि कर ले।[५८] (५) अपने से बलवान् से कभी युद्ध न करे।[५९] बलवान् शत्रु के सामने सिर झुका ले। संधि करने पर भी उन पर विश्वास न करे। समय अनुकूल हो तो उन पर आक्रमण भी कर दे।[६०]

(२) **विग्रह** - कौटिल्य का कथन है कि यदि शत्रुराजा की तुलना में अपने को बलवान् समझे तो विग्रह कर देना चाहिए।[६१] विग्रह का अभिप्राय विवाद या युद्ध है। कौटिल्य का कथन है कि यदि विजयार्थी राजा यह समझे कि मेरी सेना अधिक शक्तिशाली है, मेरे पास दुर्ग आदि अधिक हैं और शत्रु के किसी भी आक्रमण का प्रतिकार कर सकता हूँ तो वह शत्रुराजा से विग्रह कर ले। इस प्रकार वह अपनी उन्नति करे।[६२]

---

५१. परस्माद् हीयमानः संदधीत । अर्थ० पृ० ५५०
५२. अर्थ० पृ० ५५१
५३. अर्थ० पृ० ५५२-५५३
५४. अर्थ० पृ० ५५६
५५. शुक्र० ४.७.२२७
५६. शुक्र० ४.७. २३०
५७. शुक्र० ४.७.२३१-२३२
५८. शुक्र० ४.७. २३४
५९. शुक्र० ४.७. २३५
६०. शुक्र० ४.७. २३६-२३७
६१. अभ्युच्चीयमानो विगृह्णीयात् । अर्थ० पृ० ५५०
६२. अर्थ० पृ० ५५३

शुक्राचार्य का कथन है कि यदि राजा विपत्ति में पड़ा है, या उसे सताया जा रहा है तो वह देश-काल के अनुसार अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाकर शत्रु राजा के साथ युद्ध छेड़ दे, यह विग्रह है।[६३] दूसरी स्थिति यह है कि शत्रुराजा विषयी है, उसकी सेना और मित्र निर्बल हैं, सेना में फूट पड़ गई है तो ऐसे शत्रुराजा को चारों ओर से घेर कर पीड़ित करे। यह विग्रह है।[६४] विग्रह का एक कारण यह भी है कि दो व्यक्ति या राजा एक ही वस्तु (भूमि आदि) पर अधिकार करने के लिए लालायित हैं, तो अन्य उपाय न होने पर विग्रह ही होता है। जो अधिक शक्ति वाला होगा, वह विजयी होगा और उसका उस भूमि आदि पर अधिकार होगा।[६५]

अपनी स्थिति सुधारने के लिए और किसी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए विग्रह को अपनाने की आवश्यकता होती है।

(३) **आसन** - कौटिल्य ने आसन का अर्थ – शत्रु के प्रति उपेक्षा भाव, शान्त रह जाना या चुप बैठ जाना लिया है। कौटिल्य का कथन है कि – राजा जब यह समझे कि हम दोनों राजाओं की शक्ति बराबर है, न वह मुझे हानि पहुंचा सकता है और न मैं उसे, तब 'आसन' विधि को अपनाना चाहिए।[६६] दोनों की शक्ति बराबर होने पर आसन का आश्रय लेकर अपनी उन्नति करे।[६७]

शुक्राचार्य ने आसन का अभिप्राय लिया है – घेरा डालकर पड़े रहना। शत्रु राजा की नगरी को घेर ले, तोप आदि से प्रहार के लिए तैयार रहे और सेना - सहित घेरा डाल दे। शत्रुराजा के नगर को राशन सामग्री आदि न पहुँचने दे। इस प्रकार की घेराबन्दी को आसन कहते हैं।[६८] आसन का एक भेद 'संधाय-आसन' है। इसका लक्षण है– शत्रुसेना में फूट डालना, राशन रोकना, युद्ध करते-करते थक जाने पर संधि करना कि दोनों अपने अपने स्थान पर रुक जाएँ और आगे न बढ़ें।[६९]

(४) **यान** - यान का अभिप्राय है– शत्रु राजा पर आक्रमण करना। कौटिल्य का कथन है कि राजा स्वयं को अधिक शक्तिसंपन्न समझे तो यान अर्थात् शत्रु राजा पर चढ़ाई

---

६३. आपन्नो ... प्रारभेत च विग्रहम् । शुक्र० ४.७. २३८

६४. प्रहीनबलमित्रं तु ... विग्रहः स च विज्ञेयः । शुक्र० ४.७.२३९ - २४०

६५. एकार्थाभिनिवेशित्वं ... विग्रहमाचरेत् । शुक्र० ४.७.२४२

६६. न मां परो, नाहं परम् उपहन्तुं शक्त इत्यासीत । अर्थ० पृ० ५५०

६७. अर्थ० पृ० ५५४

६८. यन्त्रास्त्रैः शत्रुसेनायाः ... आसनं हि तत् । शुक्र० ४.७.२७२-२७३

६९. विच्छिन्नविविधासारं ... संधायासनमुच्यते । शुक्र० ४.७. २७४-२७५

कर दे।[७०] अन्यत्र कहा गया है कि यदि आक्रमण करने से शत्रु की शक्ति का नाश और अपनी शक्ति की वृद्धि हो रही हो तो यान का आश्रय ले।[७१]

शुक्राचार्य ने यान के ५ भेदों का उल्लेख किया है। ये हैं :-

१. विगृह्ययान – युद्ध का कोई कारण दिखाकर शत्रुओं पर बलात् आक्रमण करना। **२. संधाययान** – पड़ौसी राजा से संधि करके शत्रुराजा पर आक्रमण करना। **३. संभूय-यान** – युद्ध में निपुण सामन्तों आदि को लेकर शत्रु राजा पर आक्रमण करना। **४. प्रसंगयान**– शत्रु पर आक्रमण के लिए जाते समय मार्ग में किसी अन्य राजा पर भी आक्रमण कर देना। **५. उपेक्षायान**– शत्रु राजा पर आक्रमण के समय पराजय की स्थिति होने पर जय की आशा छोड़कर लौट आना।[७२]

शुक्र ने इसी प्रसंग में मकर–व्यूह, श्येन-व्यूह, सूची-व्यूह, वज्र–व्यूह, चक्र-व्यूह, सर्वतोभद्र व्यूह, काल व्यूह, क्रौंच व्यूह आदि का भी उल्लेख किया है।[७३]

(५) **संश्रय, आश्रय, समाश्रय**– आश्रय के लिए संश्रय, आश्रय और समाश्रय तीनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। कौटिल्य ने संश्रय की व्याख्या की है– राजा यदि अपने आपको अशक्त समझे तो संश्रय से काम ले। दूसरे किसी राजा का आश्रय ले।[७४] अथवा दूसरे राजा को आत्मसमर्पण कर दे।[७५] अथवा राजा यदि यह समझे कि मैं शत्रु के कामों में कोई हानि नहीं कर सकूंगा और शत्रु के आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा नहीं कर सकूंगा तो किसी बलवान् राजा का आश्रय लेकर अपनी सुरक्षा निश्चित करे।[७६]

शुक्राचार्य का कथन है कि यदि कोई बलवान् शत्रु राजा राज्य की जड़ खोद रहा हो और राजा को उसके प्रतिकार का कोई उपाय न दिखाई पड़े तो उस समय राजा किसी अत्यन्त बलवान् , कुलीन और आर्य (श्रेष्ठ) राजा का आश्रय ले ले अथवा किसी सुदृढ दुर्ग (किले) का आश्रय ले। यह संश्रय है।[७७]

(६) **द्वैधीभाव**– कौटिल्य ने द्वैधीभाव की व्याख्या की है कि एक समय में दो

---

७०. गुणातिशययुक्तो यायात् । अर्थ० पृ० ५५०

७१. अर्थ० पृ० ५५४

७२. शुक्र० ४.७.२४३-२४९

७३. शुक्र० ४.७. २५३ से २७१

७४. शक्तिहीनः संश्रयेत । अर्थ० पृ० ५५०

७५. परार्पणं संश्रयः । अर्थ० पृ० ५४९

७६. अर्थ० पृष्ठ ५५४

७७. शुक्र० ४.७. २७६-२७७

काम करना– संधि और विग्रह,अर्थात् यदि राजा के कई शत्रु हैं तो एक बलवान् शत्रु राजा से संधि कर ले और उसे अपनी ओर मिला ले। दूसरी ओर दूसरे शत्रु राजा से विग्रह करके उसका नाश करे। इस प्रकार एक ही समय में कहीं संधि का और कहीं विग्रह का प्रयोग करके अपना अभीष्ट सिद्ध करे।[७८]

महाभारत में द्वैधीभाव की व्याख्या की गई कि शत्रुसेना में किसी प्रकार भेद डलवा देना द्वैधीभाव है।[७९] मनु ने द्वैधीभाव का अर्थ लिया है – अपने कार्य की सिद्धि के लिए सेना को दो भागों में बांट कर कार्य करना। शत्रु से बचने के लिए सेना का एक भाग सेनापति के अधीन करके उसे अलग स्थान पर रखना और सेना का शेष भाग किले में राजा के साथ रहे। इस प्रकार सेना को दो भागों में बांटना द्वैधीभाव है।[८०]

आचार्य शुक्र ने भी सेना को दो भागों में बांटकर दो स्थानों पर रखने को द्वैधीभाव कहा है।[८१] शुक्र ने द्वैधीभाव की एक दूसरी व्याख्या भी की है – राजा असहाय होने पर दुहरी नीति अपनावे। देखने में कुछ और तथा कार्य में कुछ और। देखने में प्रतीत हो कि वह शत्रु राजा का समर्थन कर रहा है या संधि करना चाहता है, परन्तु दूसरी ओर वह शत्रु राजा की जड़ खोदने की तैयारी करता रहे। इस दुहरे व्यवहार को द्वैधीभाव कहा है।[८२] शुक्र का यह भी कथन है कि शत्रु को जीतने का सर्वोत्तम उपाय भेद या फूट डालना है। प्रजा और राजा में, सेनापति और मंत्रियों में, मंत्रियों के पुत्रादि में फूट डालकर स्वार्थ सिद्ध करना भी द्वैधीभाव है।[८३]

●

---

७८. अर्थ० पृ० ५४९, ५५०, ५५४, ५५८

७९. द्वैधीभावस्तथान्येषाम् । शान्ति० ६९.६८

८०. बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं, षाड्गुण्यगुणवेदिभिः । मनु० ७.१६७

८१. द्वैधीभावं स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्म-गुल्मयोः । शुक्र० ४.७. २२६

८२. द्वैधीभावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षितम् । शुक्र० ४.७. २७८

८३. उपायेषूत्तमो भेदः । शुक्र० ४.७. २८३-२८४

अध्याय ७

राजा का निर्वाचन और राज्याभिषेक

१. राजा का निर्वाचन

२. राजा का राज्याभिषेक

३. अभिषेक और कर्तव्य-विधान

४. राजा का पदच्युत किया जाना और पुनः प्रतिष्ठापन

अध्याय ७

राजा का निर्वाचन और राज्याभिषेक

१. राजा का निर्वाचन

ऋग्वेद और अथर्ववेद के कई सूक्तों में प्रजा के द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है।[१] अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा के निर्वाचन के लिए सभी प्रतिनिधि एकत्र होते थे और वे सर्वसंमति से राजा का निर्वाचन करते थे। राजा की नियुक्ति का कार्य समिति करती थी। वही राजा को स्थायित्व प्रदान करती थी।[२] इस मंत्र में सारी दिशाओं से आए हुए प्रतिनिधियों के लिए 'सर्वा दिशः' शब्द है। सर्वसंमति और ऐकमत्य के लिए 'संमनसः' और 'सध्रीचीः' शब्द हैं। समिति को राजा की स्थायी नियुक्ति का अधिकार है, इसके लिए 'ध्रुवाय ते समितिः' कथन है। राजा की इस नियुक्ति के साथ राजा से यह आशा की जाती थी कि वह लोकप्रिय होकर रहे, जिससे जनता उसको पसन्द करे और वह ऐसे कार्य करे, जिससे देश को कोई क्षति न पहुँचे और राष्ट्र की अवनति न हो। साथ ही ऐसा भी कोई काम न करे, जिससे वह पद-च्युत हो जाय।[३] इस मंत्र में 'विशः' के द्वारा प्रजा का निर्देश है और कहा गया है कि प्रजा की स्वीकृति से तू राजा बनाया गया है।

राजा की नियुक्ति के साथ यह कामना की जाती थी कि वह स्थायी रूप से राजा रहे और राष्ट्र की सुरक्षा करे। वह पदच्युत न हो और पर्वत के तुल्य स्थिर रहे। जिस प्रकार इन्द्र देवराज पद पर स्थायी है, उसी प्रकार राजा के पद पर वह भी स्थायी रहे।[४] अन्य तीन मंत्रों में भी राजा के स्थायित्व की कामना की गई है।[५]

इसी प्रसंग में ऋग्वेद में कहा गया है कि तू अकेला ही प्रजा से कर (Tax) लेने का अधिकारी हो गया है।[६]

---

१. ऋग्० १०. १७३. १ से ६ । अथर्व० ३.४.१ से ७ । ६.८७.१ से ३ । ६.८८.१ से ३ ।

२. सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः,
ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ।। अ० ६.८८.३

३. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु,
मा त्वद् राष्ट्रमधि भ्रशत् । अ० ६.८७.१

४. इहैवैधि मापच्योष्ठाः, पर्वत इवाविचाचलिः ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठ, इह राष्ट्रमु धारय ।। ऋग्० १०.१७३.२

५. ऋग्० १०.१७३. ४ से ६

६. अथो त इन्द्रः केवलीर्विशः बलिहृतस्करत् । ऋग्० १०.१७३.६

अथर्ववेद के एक अन्य प्रसंग से ज्ञात होता है कि राजा का निर्वाचन सर्वसंमति से किया जाता था। इसका आधार होता था – गुणों और वीरता आदि में सर्वोत्कृष्टता। अथर्ववेद का कथन है कि देवों ने सर्वसंमति से इन्द्र को राजा चुना। इन्द्र में राजत्व के ये गुण पाये गये थे :- वह शत्रुसेना को पराजित कर सकता था, वह पुरुषार्थियों में सर्वश्रेष्ठ था, अत्यन्त प्रतापी था, शक्तिशाली था, साहसी था और अतिशीघ्रता से कार्य करने की क्षमता रखता था।[७] इसी सूक्त में आगे कहा गया है कि राजा नियमों का पालन करने वाला हो, अपनी शक्ति से देश को सुरक्षा प्रदान करके समृद्धि और विकास की ओर ले जाने वाला हो।[८] समृद्धि और विकास के लिए मंत्र में 'वृधे' शब्द है। प्रो० ग्रिफिथ (R.T.H. Griffith) ने भी अपने अथर्ववेद भाष्य में स्वीकार किया है कि प्राचीन समय में राजा के निर्वाचन की भी प्रथा प्रचलित थी।[९]

अथर्ववेद के एक अन्य सूक्त में भी राजा के निर्वाचन का वर्णन है। मंत्र का कथन है कि पांचों दिशाओं से आई हुई ये प्रजाएँ तुझे राज्य के लिए निर्वाचित करती हैं। तू राज्य के उच्चशिखर पर अधिष्ठित होकर प्रजा को यथायोग्य धन की व्यवस्था कर।[१०] इस मंत्र में 'त्वां विशो वृणतां राज्याय' के द्वारा प्रजा (विश्) द्वारा राज्य के लिए राजा के वरण (निर्वाचन) का उल्लेख है। 'पञ्च प्रदिशः' से अभिप्राय है - सभी ओर से आए हुए निर्वाचक प्रतिनिधि गण। पांच प्रदिशा या ५ दिशाओं से अभिप्राय है- पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के अतिरिक्त मध्य-देश या देश के मध्य भाग से आए हुए निर्वाचक प्रतिनिधि। मंत्र के अन्तिम भाग 'वि भजा वसूनि' का अभिप्राय यह है कि राज्य की अर्थव्यवस्था का उत्तरदायित्व राजा पर है। राजा का कर्तव्य है कि वह अपने प्रताप से (उग्रः) अर्थव्यवस्था ठीक रखे। निर्धन सताये न जायें और उनका शोषण न हो। यदि राजा उग्र नहीं होगा तो निर्बलों का शोषण बन्द नहीं होगा।

राजा का निर्वाचकों से संपर्क :- अथर्ववेद में एक रोचक मंत्र आया है, जिसमें कहा गया है कि राजा राजत्व-प्राप्ति के लिए जनता के पास जावे और निर्वाचकों से संपर्क

---

७. विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं,
सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे ।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिम् उतोग्रम्
ओजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ।। अथर्व० २०.५४.१

८. यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः । अ० २०.५४.२

९. ग्रिफिथ, अथर्ववेद भाष्य, भाग १, पृ० ८४

१०. त्वां विशो वृणतां राज्याय, त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व, ततो न उग्रो विभजा वसूनि ।। अ० ३.४.२

करे। जनता के प्रतिननिधि राजा को बुलावें और राजा जनता के कल्याण का आश्वासन दे।[११] वरुण देवता एक है, परन्तु मंत्र में वरुण का बहुवचन में प्रयोग है, इससे ज्ञात होता है कि वरुण शब्द वरणकर्ता (चयनकर्ता, निर्वाचक) के अर्थ में है, अतः 'वरुणैः संविदानः' का अर्थ है - राजा निर्वाचकों से संपर्क करे। 'सम् अज्ञास्थाः' का अर्थ है– वह निर्वाचकों से वस्तुस्थिति का आकलन करे और जनप्रतिनिधियों से उनकी समस्याओं की जानकारी प्राप्त करे। जनता के द्वारा बुलाये जाने पर राजा उनके निवासस्थानों पर जावे। 'स उ कल्पयाद् विशः' वह जनता को आश्वासन दे कि उनकी उन्नति और विकास के लिए कार्य करेगा।

इस मंत्र का महत्त्व इस बात से ज्ञात होता है कि राज्य के अन्य प्रतिद्वन्द्वी भी अपने लिए प्रयत्नशील रहते थे, अतः राजा का निर्वाचकों से संपर्क करना आवश्यक होता था। साथ ही उन्हें विकास आदि के कुछ आश्वासन भी देने होते थे।

राजा की नियुक्ति जीवन भर के लिए - अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि निर्वाचित राजा की नियुक्ति आजीवन या जीवन भर के लिए होती थी। अथर्ववेद के मंत्र में इसके लिए 'दशमीम् ' (अर्थात् दसवें दशक तक के लिए) कहा गया है। १० वाँ दशक अर्थात् १०० वर्ष के लिए या जीवन भर के लिए यह नियुक्ति की जाती थी। इस मंत्र में दो शब्द और महत्त्वपूर्ण है :- (१) उग्रः– अर्थात् राजा प्रतापी बनकर रहेगा, तभी वह आजीवन राज्य कर सकेगा। (२) सुमनाः– सद्भावना वाला होकर। यदि राजा में सद्भावना है, स्नेह है, प्रजा से प्रेम है और हृदय स्वच्छ है, तभी उसे प्रजा स्वीकार करेगी और वह आजीवन राज्य कर सकेगा।[१२]

राजा का प्रतिद्वन्द्वियों से सावधान रहना – राजा के निर्वाचन की प्रक्रिया में उसके कुछ प्रतिद्वन्द्वी भी होते थे, वे सदा यह प्रयत्न करते थे कि राजा के निर्वाचन में कुछ विघ्न डाला जाय या उसे पदच्युत किया जाय। ऐसा करने में 'सजात' अर्थात् उसके संबन्धी या पारिवारिक व्यक्ति मुख्य होते थे। साथ ही कुछ अन्य व्यक्ति भी इस षड्यन्त्र में भाग लेते थे, उन्हें 'निष्ट्य' (बाहरी) कहा गया है। राजा को 'सजात' और 'निष्ट्य' दोनों प्रकार के विरोधियों से सावधान रहने का निर्देश दिया गया है। साथ ही यह भी निर्देश दिया गया है कि ऐसे लोगों को सिर न उठाने दे और आवश्यक हो तो उन्हें देश से बाहर निकाल दे।[१३]

---

११. इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि, सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
स त्वायम् अह्वत् स्वे सधस्थे, ... स उ कल्पयाद् विशः ।। अ० ३.४.६

१२. दशमीमुग्रः सुमना वशेह । अ० ३.४.७

१३. यस्ते हवं विवदत् , सजातो यश्च निष्ट्यः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाऽथेमम् इहाव गमय ।। अ० ३.३.६

राजा के निर्वाचन पर बधाई और उपहार – अथर्ववेद के एक मंत्र से ज्ञात होता है कि राजा के निर्वाचन पर प्रसन्नता मनाई जाती थी। परिवार से संबद्ध सभी लोग (सजात) राजा के पास आते थे और उसे बधाई देते थे। प्रजाजन भी राजा के पास जाते थे और उसका अभिनन्दन करते थे। स्त्रियाँ और बच्चे इस अवसर पर खुशी मनाते थे तथा राजा को अनेक प्रकार के उपहार (बलि) भेंट करते थे।[१४]

२. राजा का राज्याभिषेक

वैदिक काल में राजत्व के लिए अनिवार्य था कि उसका राज्याभिषेक हो। अनभिषिक्त राजा निन्दनीय एवं अवैध समझा जाता था।[१५] राजा का निर्वाचन होने के बाद एक बृहत् यज्ञिय समारोह होता था, उसमें राजा का विधिवत् राज्याभिषेक होता था। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि निर्वाचित राजा का ही राज्याभिषेक होता था, अन्य किसी का नहीं। अन्य जनों को अनभिषेचनीय कहा गया है।[१६] राज्याभिषेक एक संवैधानिक प्रक्रिया थी। इसके द्वारा निर्वाचित राजा को राजत्व के सभी संवैधानिक अधिकार प्राप्त होते थे, अतः राज्याभिषेक को बहुत महत्त्व दिया गया है। इसके द्वारा अभिषिक्त राजा समान राजवंशियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता था। इसी बात की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण में की गई है। सौत्रामणी याग में राजा के अभिषेक के प्रसंग में कहा गया है कि इन्द्र का अभिषेक किया गया, इसलिए वह देवों में श्रेष्ठ हो गया। राजा स्वजनों में श्रेष्ठ समझा जाय, इसलिए उसका अभिषेक किया जाता है।[१७] इस लोक में राजा का अधिकार हो, अतएव क्षत्रिय राजा का अभिषेक किया जाता है।[१८]

राजसूय, वाजपेय और सर्वमेध यज्ञ – राज्याभिषेक से संबद्ध तीन यज्ञों का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इनमें से राजसूय यज्ञ राजा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

---

१४. (क) राजन् ... उपसद्यो नमस्यो भवेह । अ० ३.४.१
(ख) अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाताः,
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु,
बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ।। अ० ३.४.३

१५. तैत्ति० ब्रा० २.२.१०. १ और २

१६. राजानो भविष्यन्ति-अभिषेचनीयाः । अराजानो भविष्यन्ति राजन्या विशोऽनभिषेचनीयाः । शत० १३.४.२.१७

१७. एनम् अभ्यषिञ्चन्, ततो वै स देवानां श्रेष्ठोऽभवत् , श्रेष्ठः स्वानां भवति, य एनयाऽभिषिच्यते । शत० १२.८.३.२

१८. अस्मा उ लोकाय क्षत्रियोऽभिषिच्यते । शत० १२.८.३.४

है। इसके द्वारा राजा का अभिषेक किया जाता है। वाजपेय यज्ञ राजसूय का प्रारम्भिक क्रिया-कलाप है। शतपथ ब्राह्मण में राजसूय के विषय में कहा गया है कि :-

राज्ञ एव राजसूयम् । राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति।[१९]

अर्थात् राजा के लिए ही राजसूय यज्ञ है। राजसूय यज्ञ करने के बाद ही राजा राजत्व प्राप्त करता है। इसी संदर्भ में राजसूय और वाजपेय यज्ञ की तुलना करते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि :-

राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। सम्राड् वाजपेयेन । अवरं हि
राज्यं परं साम्राज्यम् । कामयेत वै राजा सम्राड् भवितुम् ।[२०]

अर्थात् राजसूय यज्ञ करने से राजत्व की प्राप्ति होती है, परन्तु वाजपेय यज्ञ करने से सम्राट् का पद प्राप्त होता है। राज्य छोटा होता है, साम्राज्य बड़ा होता है। इसलिए राजा सम्राट् होने की कामना करे।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने सर्वमेध यज्ञ को सार्वभौम आधिपत्य के लिए (A sacrifice for universal rule) बताया है।[२१]

उन्होंने शतपथ ब्राह्मण का आधार लेते हुए कहा है कि जो सम्राट् सार्वभौम आधिपत्य चाहता है, वह सर्वमेध यज्ञ करे। यह विश्वजित् यज्ञ है। विश्वविजयी ही यह यज्ञ कर सकता है। सार्वभौम सत्ता की प्राप्ति के लिए इसका विधान है।[२२]

राजसूय यज्ञ एवं राज्याभिषेक - यजुर्वेद के अध्याय ९ और १० में तथा शतपथब्राह्मण के कांड ५ में वाजपेय और राजसूय यज्ञों का वर्णन है। यजुर्वेद के इन मंत्रों की व्याख्या के रूप में शतपथ ब्राह्मण में लगभग १०० पृष्ठों में इन यज्ञों के क्रियाकलाप का विस्तृत वर्णन है। इसी के अन्तर्गत राज्याभिषेक की पूरी विधि वर्णित है। इसका ही सारांश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

राजसूय यज्ञ से पहले वाजपेय यज्ञ होता है। इसमें व्यवस्था दी गई है कि वाजपेय यज्ञ साम्राज्य के लिए है और वाजपेय यज्ञकर्ता सम्राट् होता है। राजसूय यज्ञ राज्य के लिए है और इसका कर्ता राजा का पद प्राप्त करता है। राजसूय से पहले वाजपेय यज्ञ का महत्त्व

---

१९. शत० ५.१.१.१२

२०. शत० ५.१.१.१३

२१. Hindu Polity, पृ० १९९

२२. सर्वं वै विश्वजित् , सर्वं सर्वमेधः, सर्वस्याप्त्यै, सर्वस्यावरुध्यै ।।
शत० १३.७.१.१२

यह है कि प्रत्येक राजा राजत्व से ही सन्तुष्ट न रहे, अपितु उसकी कामना यह रहे कि वह भविष्य में सम्राट् बने।

राजसूय यज्ञ में सर्वप्रथम विधिपूर्वक अग्नि का आधान किया जाता है। प्रारम्भ में पवित्रेष्टि आदि से संबद्ध होम होता है। तदनन्तर राजकर्ताओं के निमित्त रत्नहवि नामक इष्टि होती है। ब्राह्मणग्रन्थों में राजकर्ताओं को रत्निन् (रत्नी) कहा गया है। ये ११ होते हैं (एकादश रत्नानि)। इनके लिए आहुति दी जाती है और साथ ही इन्हें दक्षिणा और पुरस्कार भी दिया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में इन रत्नियों का क्रम यह रखा गया है :-

१. सेनानी (सेनापति), २. पुरोहित, ३. महिषी (महारानी), ४. सूत (इतिहास-लेखक), ५. ग्रामणी (वैश्य), ६. क्षत्ता (आय-व्ययाधिकारी), ७. संग्रहीता (कोषाध्यक्ष), ८. भागदुघ (राजस्व-अधिकारी), ९. अक्षावाप (अक्षपटलाध्यक्ष, आय-व्यय-निरीक्षक), १०. गोविकर्त (अरण्यपाल), ११. पालागल (विशिष्ट सन्देश-वाहक)।

रत्नियों का सत्कार करते हुए प्रत्येक के लिए कहा जाता था कि 'हम तुम्हारे लिए ही अभिषिक्त हो रहे हैं और हम तुम्हें अपना सहयोगी (अनपक्रमी) बना रहे हैं।[२३] रत्नी प्रजा के सभी वर्गों के प्रतिनिधि हैं, उन्होंने ही राजा को चुना है, अतः उन्हें हवि देने का अभिप्राय यह है कि राज्य के सभी अंगों की अनुमति प्राप्त की जाए और उन्हें अपना सहयोगी बनाया जाए।

इसके पश्चात् कुछ देवताओं के लिए पुरोडाश (पूआ) की हवि देने का विधान है। राजा के पद पर अभिषिक्त होने वाले व्यक्ति में कुछ दैवी गुणों की सत्ता आवश्यक है, अतः मंत्र द्वारा आहुति देते हुए प्रार्थना की गई है कि ये देवगण अपनी विभिन्न विशेषताएँ राजा को दें। सविता ऊर्जा (Energy) दे, अग्नि पारिवारिक सद्गुण दे, सोम वृक्ष-वनस्पतियों के संरक्षण की क्षमता दे, बृहस्पति वाक्शक्ति (Eloquence) दे, इन्द्र राज्य-संचालन की शक्ति दे, रुद्र पशुधन के संरक्षण की शक्ति दे, मित्र देवता सत्यनिष्ठा दे और वरुण विधि-विधान के संरक्षण की योग्यता दे।[२४]

महान् जनराज्य - उक्त विधि के पश्चात् राजा के पिता, राजा की माता, राजा के वंश और देश का नाम लेते हुए घोषणा की जाती है कि 'अमुक (पिता) का पुत्र, अमुक (माता) का पुत्र, अमुक वंशज यह क्षत्रिय (राजा का नाम), अमुक देश का यह राजा महान् क्षात्रधर्म के लिए तथा महान् जनराज्य (महते जानराज्याय) के संरक्षण के लिए तुम्हारा राजा

---

२३. तस्मा एवैतेन सूयते, तं स्वम् अनपक्रमिणं कुरुते । शत० ५.३.१.१

२४. सविता त्वा सवानां सुवताम् , अग्निर्गृहपतीनाम् , सोमो वनस्पतीनाम् ,
बृहस्पतिर्वाचे, इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय, रुद्रः पशुभ्यः, मित्रः सत्यः,
वरुणो धर्मपतीनाम् । यजु० ९.३९ । शत० ५.३.३.२ से ९

चुना गया है। सभी देवता इसको असपत्न (शत्रुरहित) करें।[२५] इस घोषणा के बाद अभिषेक विधि प्रारम्भ होती है।

अभिषेक विधि - राजा के अभिषेक के लिए १७ प्रकार के जलों का संग्रह किया जाता था।[२६] पवित्रतम नदी के रूप में सरस्वती नदी के जल से सर्वप्रथम स्नान कराया जाता था।[२७] इसके पश्चात् विभिन्न पवित्र नदियों, झील, तालाब, कुआँ, समुद्र और वर्षा के जल से तथा बर्फ के जल से स्नान कराया जाता था।[२८] साथ ही घी, दूध, शहद से भी स्नान कराया जाता था।[२९] सभी प्रकार के जल और घृत-दूध आदि का अभिप्राय यह था कि स्वदेश की छोटी से छोटी इकाई कूप, तालाब से लेकर सबसे बड़ी इकाई समुद्र द्वारा राजा का अभिषेक किया जा रहा है। घी, दूध, शहद के प्रयोग का अभिप्राय यह है कि राजा के राज्य में घी दूध आदि की कभी न्यूनता न हो।

राजा के अभिषेक में सभी प्रजा का प्रतिनिधित्व हो, अतः सर्वप्रथम ब्राह्मण राजा का अभिषेक करता था। तत्पश्चात् क्षत्रिय (राजन्य) और फिर वैश्य।[३०] इस प्रकार तीनों वर्णों के प्रतिनिधियों द्वारा अभिषेक सूचित करता था कि सारी प्रजा की अनुमति से राजा अभिषिक्त हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में शूद्र के भी प्रतिनिधित्व का उल्लेख है। वहाँ पर पुरोहित, राजन्य, वैश्य और जन्य का उल्लेख है। जन्य जनजाति एवं शूद्रवर्ग का प्रतिनिधित्व करता है।[३१]

अभिषेक के पश्चात् राजा को वस्त्र दिए जाते थे। वह उष्णीष (पगड़ी) आदि पहनता था। तत्पश्चात् उसे धनुष और तीन बाण दिए जाते थे। तीन बाण इस बात के प्रतीक थे कि वह इन तीन बाणों से क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक अर्थात् तीनों लोकों की रक्षा का उत्तरदायित्व लेता है।[३२]

कुछ विद्वानों ने उष्णीष से मुकुट (Diadem) अर्थ लिया है। वाल्मीकि - रामायण

---

२५. इमं देवा असपत्नं सुवध्वं, महते क्षत्राय, महते जानराज्याय,
इन्द्रस्येन्द्रियाय । इममुष्य पुत्रम् , अमुष्यै पुत्रम्, अस्यै विशे,
एष वोऽमी राजा । यजु० ९.४० । शत० ५.३.३.१२

२६. ता वा एताः सप्तदशापः संभरति । शत० ५.३.४.२२

२७. स सारस्वतीरेव प्रथमा गृह्णाति । शत० ५.३.४.३

२८. शत० ५.३.४. ३ से २२

२९. मधु गृह्णाति । पयो गृह्णाति । घृतं गृह्णाति । शत० ५.३.४.१७ से २०

३०. ब्राह्मणोऽभिषिञ्चति । राजन्योऽभिषिञ्चति । वैश्योऽभिषिञ्चति । शत० ५.३.५. ११ से १४

३१. तैत्ति० ब्रा० १.७.८

३२. अथ धनुरधितनोति । अथास्मै तिस्र इषूः प्रयच्छति । शत० ५.३.५. २७ से २९

में किरीट (मुकुट) शब्द का प्रयोग हुआ है।[३३] इससे ज्ञात होता है कि परकाल में उष्णीष के स्थान पर किरीट (मुकुट) का ही प्रचलन हो गया था।

राज्याभिषेक की घोषणा - वस्त्रधारण आदि की विधि के बाद राज्याभिषेक की घोषणा प्रसारित की जाती थी। इस घोषणा के लिए 'आविद्' शब्द का प्रयोग हुआ है। आविद् का अर्थ है – आवेदन, निवेदन, राजकीय घोषणा। घोषणा की जाती थी कि - 'हे लोगो! तुम्हें सूचित कर दिया गया है। गृहपति अग्नि को सूचित कर दिया है। यशस्वी इन्द्र, व्रतों के रक्षक मित्र और वरुण, ऐश्वर्यशाली पूषा देव, विश्व के लिए कल्याणकारी द्यावा-पृथिवी और शरणदात्री भूमि (अदिति) को सूचित कर दिया गया है।[३४]

शतपथ ब्राह्मण में इसकी व्याख्या में कहा गया है कि उक्त मन्त्र में अग्नि ब्राह्मणवर्ग का प्रतीक है, इन्द्र क्षत्रिय वर्ग का, पूषा देवता पशुजगत् का और अदिति पृथिवी का प्रतीक है।[३५] उक्त सूचना के द्वारा सभी जनता तथा देवों की अनुमति प्राप्त कर ली गई है, अतः अब राज्याभिषेक किया जा रहा है।[३६]

शपथग्रहण समारोह - अभिषेक की घोषणा के पश्चात् राजा शपथ लेता है। इसका प्रारूप ऐतरेय ब्राह्मण में दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि – राज्य-शासन का चाहे कोई भी प्रकार हो, राज्य, साम्राज्य, स्वाराज्य या सार्वभौम आदि, सभी प्रणालियों में यह शपथग्रहण अनिवार्य है।[३७] इस पद्धति को ऐतरेय ब्राह्मण ने 'ऐन्द्र (इन्द्र-संबन्धी) महाभिषेक शपथ' नाम दिया है। इस पद्धति से निर्वाचित राजा को शपथ दिलाकर ही उसका अभिषेक करे।

इस शपथ-ग्रहण में राजा सत्यनिष्ठा के साथ कहता है कि :-

'जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिस रात्रि में मेरी मृत्यु होगी, उन दोनों के मध्य में (अर्थात् संपूर्ण जीवन-काल में) मैंने जो भी इष्टापूर्त (पुण्यकर्म) किए हों, वे सब नष्ट हो जाएँ और मैं स्वर्ग, समस्त शुभकर्म, आयु और संन्तान से वंचित हो जाऊँ, यदि मैं किसी भी प्रकार से तुम्हारे प्रति (अर्थात् देश और जनता के प्रति) द्रोह करूँ।'[३८]

---

३३. वा. रामायण, युद्धकांड १२८.६४

३४. आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्गृहपतिः० । यजु० १०.९

३५. शत० ५.३.५. ३१ से ३७

३६. तैरनुमतः सूयते । शत० ५.३.५.३५

३७. तमेतेन ऐन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापपित्वाऽभिषिञ्चेत् । ऐत. ब्रा. ८.१५

३८. स ब्रूयात् सह श्रद्धया - 'यां च रात्रिमजायेऽहं, यां च
प्रेताास्मि, तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां
वृञ्जीथाः, यदि ते द्रुह्येयम्' इति । ऐत. ब्रा. ८.१५

इस शपथ-ग्रहण से ज्ञात होता है कि राष्ट्र और जनता के प्रति द्रोह राजा के लिए महापाप है। राष्ट्र की जनता की रक्षा, जनता के हितों की रक्षा और विदेशीय आक्रमणों आदि से देश की रक्षा, उसका परम कर्तव्य है। यदि वह देशभक्ति से विमुख है तो उसे राजा रहने का अधिकार नहीं है।

महाभारत शान्तिपर्व में राजा पृथु को राज्याभिषेक के समय जो शपथ-ग्रहण कराया गया था, उसका वर्णन है। राजा पृथु भारत का सर्वप्रथम राजा था। उसने जो प्रतिज्ञा की थी, वह ऐतरेय ब्राह्मण के शपथ के ही समकक्ष है। राजा पृथु ने शपथ-ग्रहण के समय कहा था कि :-

"मैं मन, वाणी और क्रिया द्वारा संसार में ब्रह्म (वेद) की निरन्तर रक्षा करूँगा। वेद में दण्डनीति से संबद्ध जो नित्य धर्म बताए गए हैं, उनका मैं निर्भय होकर पालन करूंगा। कभी स्वच्छन्द नहीं होऊंगा। द्विज मेरे लिए अदंडनीय होंगे। मैं वर्णसंकरता और धर्मसंकरता से संपूर्ण संसार को बचाऊंगा।"[३९]

इससे ज्ञात होता है कि राज्याभिषेक के समय राजा को शपथ लेनी होती थी कि वह संविधान के अनुसार कार्य करेगा, स्वेच्छाचारी नहीं होगा और ऐसा कोई कार्य नहीं करेगा, जिससे देश की स्वाधीनता को कोई हानि पहुँचे। शतपथ ब्राह्मण में भी राजा पृथु (पृथी वैन्य) को मानवजाति का प्रथम राजा बताते हुए उसके अभिषेक का उल्लेख है।[४०] ऋग्वेद में भी पृथी वैन्य (पृथु) का नाम है।[४१]

दिग्विजयार्थ प्रस्थान- शपथग्रहण के पश्चात् प्रतीक रूप में दिग्विजय के लिए प्रस्थान कराया जाता है। राजा रथ पर चढ़कर चारों दिशाओं की ओर थोड़ी दूर तक जाता है। यजुर्वेद में इस सन्दर्भ में कहा गया है कि - हे राजन् ! तू अपराधी और पापी तत्त्वों को, जो प्रजा को क्लेश देते हैं (दन्दशूक), नष्ट करने के लिए पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान कर।[४२] तू दक्षिण दिशा की ओर विजयार्थ प्रस्थान कर।[४३] तू पश्चिम दिशा की ओर विजयार्थ प्रस्थान

---

३९. प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व, मनसा कर्मणा गिरा ।
पालयिष्याम्यहं भौमं, ब्रह्म इत्येव चासकृत् ।। १०६
यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो, दण्डनीतिव्यपाश्रयः ।
तमशङ्कः करिष्यामि, स्ववशो न कदाचन ।। १०७
अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति, प्रतिजानीहि हे विभो ।
लोके च संकरात् कृत्स्नं, त्रातास्मीति परंतप ।। १०८ महा० शान्ति० ५९. १०६ से १०८

४०. पृथी ह वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे । शत० ५.३.५.४

४१. पृथी यद् वां वैन्यः । ऋग्० ८.९.१०

४२. अवेष्टा दन्दशूकाः । प्राचीमारोह ... ब्रह्म द्रविणम् । यजु० १०.१०

४३. दक्षिणामारोह ... क्षत्रं द्रविणम् । यजु० १०.११

कर।[४४] तू उत्तर दिशा की ओर विजयार्थ प्रस्थान कर।[४५] तू अन्तरिक्ष की विजय के लिए ऊर्ध्व दिशा की ओर प्रस्थान कर।[४६] साथ ही मंत्रों में कहा गया है कि गायत्री, त्रिष्टुप् आदि वेदमंत्र तेरी रक्षा करेंगे। तुझे पूर्वदिशा से ब्राह्मणों का सहयोगरूपी धन मिलेगा। दक्षिण दिशा से क्षत्रियों का, पश्चिम दिशा से वैश्यों का, उत्तर दिशा से अन्य प्रजाजनों का सहयोगरूपी धन मिलेगा। ऊर्ध्व दिशा से तुझे तेजस्विता मिलेगी और पापियों का सर्वनाश होगा। शतपथ ब्राह्मण में भी यही व्यवस्था दी गई है।[४७]

इस दिग्विजय यात्रा का अभिप्राय यह है कि राजा अन्तरिक्ष-सहित चारों दिशाओं की सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। उसे सभी स्थानों से अपराधी तत्त्वों का समूल नाश करना है। उसकी ज्ञानशक्ति और क्षात्रबल उसके जीवन के रक्षक होंगे। उसकी इस दिग्विजय यात्रा का फल यह होगा कि चारों दिशाओं से उसे सारी प्रजा का सहयोग प्राप्त होगा। इस सहयोग को ही इन मंत्रों में द्रविण अर्थात् बहुमूल्य धन कहा गया है। अपराधी और पापी तत्त्वों के लिए दन्दशूक (डँसने वाले, प्रजा को पीडित करने वाले) शब्द दिया गया है और कहा गया है कि इन्हें नष्ट कर दिया गया है (अवेष्टाः, अव+यज् ,नष्ट करना)। अन्त में कहा गया है कि पापियों (नमुचि) का शिर काटकर फेंक दिया है अर्थात् पापियों का सर्वनाश कर दिया गया है।

इसके पश्चात् मंत्र द्वारा आशीर्वाद दिया जाता है कि सभी देवों के विशिष्ट गुण तुझे प्राप्त हों। मंत्र का कथन है कि – सोम देवता से तुझे आह्लादकता प्राप्त हो, अग्नि से ओजस्विता, सूर्य से तेजस्विता और इन्द्र देव से शारीरिक बल प्राप्त हो। तू अब सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय राजा हो गया है। तू सभी संकटों को पार करता हुआ मृत्युभय से मुक्त हो।[४८]

इसके पश्चात् पुनः आशीर्वाद देते हुए कहा जाता है कि – देवगण इसे शत्रुरहित करें। यह सोम्यगुणयुक्त राजा (राजा सोम) महान् जनराज्य के लिए हम सभी ब्राह्मणों का तथा सारी प्रजा का राजा निर्वाचित हुआ है।[४९]

---

४४. प्रतीचीमारोह ... विड् द्रविणम् । यजु० १०.१२

४५. उदीचीमारोह ... फलं द्रविणम् । यजु० १०.१३

४६. ऊर्ध्वामारोह ... वर्चो द्रविणम् , प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः । यजु० १०.१४

४७. शत० ब्रा ५.४.१.३ से १०

४८. सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चामि, अग्नेर्भ्राजसा, सूर्यस्य वर्चसा,
इन्द्रस्येन्द्रियेण । क्षत्राणां क्षत्रपतिरेधि, अति दिद्यून् पाहि । यजु० १०.१७

४९. इमं देवा असपत्नं सुवध्वम् , ... महते जानराज्याय,
एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा । यजु० १०.१८

इसी संदर्भ में शतपथ ब्राह्मण में एक रोचक प्रसंग दिया गया है कि राजा जब अपनी गद्दी (आसन्दी) पर बैठ जाता है, तब उसकी पीठ पर हलके से एक डंडे से आघात किया जाता है। इसका अभिप्राय यह बताया गया है कि राजा को यह स्मरण रहे कि वह भी दंड के अधीन है। जिस प्रकार अन्य व्यक्ति अपराध करने पर दंड के भागी होते हैं, उसी प्रकार कोई अपराध करने पर उसे भी दंड भुगतना पड़ेगा। इससे यह शिक्षा दी जाती है कि तुम अपराधी को ही दंड देना, निरपराधी को नहीं। दंड के प्रयोग में सावधानी बरतना। अन्यथा दंड की व्यवस्था तुम्हारे लिए भी है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि राजा को दंड तो दिया जा सकता है, परन्तु उसे मृत्युदंड से मुक्त किया जाता है।[५०]

३. अभिषेक और कर्तव्य-विधान

राजा के कर्तव्य - राजा को राज्याभिषेक के अवसर पर जो विशेष संमान दिया गया है, उसके साथ ही उस पर कुछ विशेष उत्तरदायित्व भी डाले गये हैं। इन उत्तरदायित्वों में विशेष उल्लेखनीय ये हैं :-

कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा।[५१]

यजुर्वेद में कहा गया है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजा का अभिषेक किया जाता है। ये कार्य हैं :- १. कृषि की उन्नति । कृषि की उन्नति के द्वारा देश को स्वावलम्बी बनाना, धन-धान्य की समृद्धि तथा बड़े से लेकर छोटे तक सभी को अन्न (रोटी) की सुविधा प्रदान करना। २. जनकल्याण के लिए। क्षेम से अभिप्राय है - सर्वविध कल्याण, कानून और व्यवस्था (Law and Order) की स्थिति को सुदृढ करना, जनता के जान-माल की सुरक्षा तथा जन-कल्याण के कार्यों का सम्पादन। जनता यह अनुभव करे कि देश में शान्ति और सुव्यवस्था है। ३. आर्थिक समृद्धि के लिए। रयि का अर्थ धन, ऐश्वर्य है। देश की उन्नति और प्रगति आर्थिक समृद्धि पर निर्भर है, अतः आर्थिक समृद्धि पर विशेष ध्यान देना। इसके लिए विविध उद्योगों को लगाना, खनिजों का उपयोग, भू-सम्पदा और वन-संपदा को लाभकारी योजनाओं में लगाना आदि। ४. पुष्टि के लिए। यहाँ पुष्टि से अभिप्राय है - राष्ट्र पुष्ट हो, सुरक्षित हो, आत्मनिर्भर हो। राष्ट्र की पुष्टि में देश की सुरक्षा को सर्वप्रथम स्थान है। इसके लिए सैन्य बल की व्यवस्था, सैन्य-प्रशिक्षण, अस्त्र-शस्त्रों के विषय में स्वावलम्बी होना आदि सभी बातें आवश्यक हैं। पुष्टि का अभिप्राय यह भी है कि जनता हृष्ट-पुष्ट और नीरोग हो।

---

५०. अथैनं पृष्ठतः तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति ।
... तस्माद् राजा दण्ड्यः, यदेनं दण्डवधम् अतिनयन्ति । शत० ५.४.४.७

५१. यजु० ९.२२

इसी प्रसंग में राजा के लिए कहा गया है कि —

बहुकार श्रेयस्कर भूयस्कर।[५२]

राजा के कर्तव्यों में वर्णित है :- १. **बहुकार**। राजा बहुत से काम करे। राजा के पास शक्ति और साधन दोनों हैं, अतः वह प्रजा के हित के लिए अनेक उपयोगी कार्य कर सकता है। राजा जनहित के लिए विविध उद्योग, आर्थिक और सामाजिक उन्नति के लिए विविध योजनाएँ तैयार करे। शिक्षा और संस्कृति की उन्नति के लिए विविध नैतिक प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था करे।

२. **श्रेयस्कर**। श्रेयस्कर का अभिप्राय है – विविध लोकोपयोगी कार्य करना। इसमें जनकल्याण से संबद्ध सभी आवश्यक कार्य आ जाते हैं। ३. **भूयस्कर** । भूयस्कर का अर्थ है – बार बार करना। अभिप्राय यह है कि जो योजनाएँ आदि सफल हो गई हैं और परीक्षण द्वारा जिन योजनाओं की उपयोगिता सिद्ध हो गई है, उन्हें बार बार करना, अनेक स्थानों पर करना और उनका अधिक से अधिक प्रचार एवं प्रसार करना।

इसी मंत्र में एक शब्द विशेष महत्त्व का है। वह है – विशौजाः (विशौजस्)[५३]। इसका अभिप्राय है - विश् अर्थात् प्रजा ही जिसका ओजस् अर्थात् बल या शक्ति है। राजा की समग्र शक्ति प्रजा या जनता में निहित है। यदि राजा इस बात को गांठ बाँध लेता है तो वह सदा प्रजा का हित करेगा। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करेगा, जिससे प्रजा असन्तुष्ट या रुष्ट हो। इस विषय में चाणक्य का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि 'जनता का क्रोध सारे क्रोधों से बढ़कर है।'

प्रकृतिकोपः सर्वकोपेभ्यो गरीयान् ।[५४]

इस मंत्र में एक अन्य बात विशेष महत्त्व की कही गई है। वह है – 'वरुणोऽसि सत्यौजाः' हे राजन् , तुम न्यायाधीश वरुण हो, सत्य ही तुम्हारा ओज है। जिस राजा में सत्य, ईमानदारी, चारित्रिक शुचिता होगी, वही निष्पक्ष भाव से न्याय कर सकता है, अन्यथा वह अपने कर्तव्य से विमुख हो जाएगा। इसके द्वारा राजा के लिए निर्देश दिया गया है कि वह चारित्रिक दृष्टि से पवित्र हो, तभी प्रजा के साथ उचित न्याय कर सकेगा।

राज्याभिषेक से संबद्ध मन्त्रों में एक अन्य मंत्र भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें राजा के कर्तव्यों का निर्देश है।

---

५२. यजु० १०.२८

५३. वरुणोऽसि सत्यौजाः, इन्द्रोऽसि विशौजाः । यजु० १०.२८

५४. चाणक्यसूत्र १३

स्वराज स्थ। जनभृत स्थ। विश्वभृत स्थ।[५५]

इसमें राज्याभिषेकीय जल को संबोधित करते हुए कहा गया है कि जल स्वयं प्रकाशमान है, जन-जन का कल्याण करता है और विश्व का पालन करता है, इसी प्रकार हे – राजन्! तू भी स्वतंत्र राजा हो, जनता का कल्याण करो और विश्व का कल्याण करते हुए अमर हो। इस मंत्र में मुख्य रूप से तीन बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है :- (१) तुम स्वतंत्र राष्ट्र हो। स्वतन्त्रता जन्मसिद्ध अधिकार है, अतः तुम अपने देश को स्वतंत्र राष्ट्र बनाकर रखना। (२) दूसरी आवश्यकता है कि तुम जनभृत् हो, जनता के कल्याण का कार्य करो। स्वतंत्रता के साथ यदि जन-कल्याण नहीं है, जनता सुखी नहीं है या अभावों से त्रस्त है तो वह स्वतंत्रता निरर्थक हो जाएगी। अतः स्वतन्त्रता के साथ जनता की सुख-समृद्धि आवश्यक है। स्वतंत्रता तभी सफल है, जब जनता सुखी और समृद्ध हो। अतः राजा का कर्तव्य है कि वह जन-कल्याण के कार्यों को प्राथमिकता दे। (३) तुम विश्वभृत् हो। तुम विश्व का कल्याण करने वाले हो। स्वतंत्रता और जनकल्याण के साथ ही विश्व का हित करना भी राजा का कर्तव्य है। राजा का दृष्टिकोण यदि एकांगी होगा तो वह केवल अपने देश की बात करेगा, विश्वहित की कामना नहीं करेगा। आवश्यकता है कि स्वदेश की उन्नति के साथ विश्व-बन्धुत्व, विश्व-कल्याण, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव भी जागृत हो। राजा और सम्राट् ही विश्वबन्धुत्व और विश्वप्रेम की योजना संसार को दे सकते हैं। इसलिए राजा के कर्तव्यों में स्वतंत्रता, राष्ट्रीय अभ्युदय के साथ ही विश्वकल्याण का आदर्श भी संमिलित किया गया है।

इसी प्रसंग में राजा और प्रजा के संबन्ध के विषय में कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। मंत्र का कथन है :-

पुत्रमिव पितरौ ... अवथुः।[५६]

जिस प्रकार माता-पिता पुत्र की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को अपनी सन्तान की तरह समझे और उसकी रक्षा करे। यदि यह भाव राजा में जागृत हो जाता है तो प्रजा भी उसे पिता के तुल्य आदर और संमान देगी। यही भाव एक अन्य मंत्र में भी दिया गया है :-

राजा वरुण जल का पुत्र है, वह माता के तुल्य समुद्री जल में निवास करता है। इसी प्रकार राजारूपी शिशु प्रजारूपी माताओं की गोद में पलता है।[५७]

---

५५. यजु० १०.४

५६. यजु० १०.३४

५७. पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थम् ,
अपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः । यजु० १०.७

राजा और प्रजा का संबन्ध माता और पुत्र के संबन्ध के तुल्य है, माता पुत्र की प्राणपण से रक्षा करती है और पुत्र माता की। प्रजा की रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व राजा पर होता है। इस मंत्र में से 'शिशुः मातृतमासु अन्तः' अंश को स्वतन्त्ररूप में लेकर इसका अर्थ किया गया है कि – जिस प्रकार शिशु को माता पालती है, इसी प्रकार राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को पुत्रवत् मानकर उसका पालन करे।

महाभारत शान्तिपर्व में यही भाव प्राप्त होता है। श्री भीष्म पितामह राजा युधिष्ठिर को उपदेश देते हैं कि – राजन् ! राजा का प्रजा के साथ गर्भिणी स्त्री का-सा व्यवहार होना चाहिए। जैसे गर्भिणी स्त्री अपने मन को अच्छे लगने वाले भोजन आदि का परित्याग करके केवल गर्भस्थ बालक के हित का ध्यान रखती है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा के साथ व्यवहार करना चाहिए। वह स्वयं को प्रिय लगने वाले विषयों का परित्याग करके, जिसमें सब प्रजाजनों का हित हो, वही कार्य करे।[५८]

इससे स्पष्ट है कि राजा प्रजा के साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसा पुत्र के साथ माता-पिता।

इसी प्रकरण में एक और मंत्र आया है, जिसका राजा के कर्तव्य से संबन्ध है। मंत्र में राजा का कथन है कि - हे पृथिवी, तू मेरी माता है। तू मुझे कोई कष्ट न दे और न मैं तुझे कोई कष्ट दूँ।[५९]

इसका अभिप्राय है कि राजा पृथिवी को अपनी माता के तुल्य समझे और पृथिवी का शोषण न करे। भूमि का दुरुपयोग न करे और वृक्ष-वनस्पतियों का संहार न करे। पर्यावरण को सुरक्षित रखे। यदि राजा ऐसा करता है तो पृथिवी भी उसे दंड नहीं देगी। प्राकृतिक दंड हैं :- दुर्भिक्ष, अकाल, समय पर वर्षा न होना या अतिवृष्टि, भूकम्प, प्राकृतिक विपदाएं महामारी आदि।

शतपथ ब्राह्मण में इस मंत्र की व्याख्या में कहा गया है कि राजा का अभिषेक होते ही राजा को महत्त्व का पद मिल जाता है, वह भूपति या भूमिपति हो जाता है। अतः पृथिवी उससे डरती है कि यह मेरा अनादर न कर दे। दूसरी ओर राजा भी पृथिवी से भयभीत होता है कि पृथिवी मुझे पदभ्रष्ट न कर दे। अतः वह पृथिवी से मैत्री-संबन्ध स्थापित करता है।

---

५८. भवितव्यं सदा राज्ञा, गर्भिणीसहधर्मिणा । ४४
यथा हि गर्भिणी हित्वा, स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते, तथा राज्ञाऽप्यसंशयम् ।। ४५
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ, सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य, यद् यद् लोकहितं भवेत् । ४६ महा० शान्ति० ५६. ४४ से ४६

५९. पृथिवि मातर्मा मा हिंसीः, मो अहं त्वाम् । यजु० १०.२३

न माता पुत्र को कष्ट देती है और न पुत्र माता को। दोनों पारस्परिक सहयोग से काम करते हैं।[६०]

इससे ज्ञात होता है कि राजा का कर्तव्य है कि वह पथिवी को माता समझते हुए उसका आदर करे। पर्यावरण की सुरक्षा पर ध्यान दे, वृक्ष-वनस्पतियों का संरक्षण करे और भूमि को बंजर होने से बचावे। ऐसा करने से भूमि भी राजा के लिए सुखद होगी और शस्य-सम्पदा की वृद्धि होगी।

निष्कर्ष - राजा के राज्याभिषेक से संबद्ध विवरण के अध्ययन से निम्नलिखित संवैधानिक तथ्य ज्ञात होते हैं :-

१. राजत्व दैवी संस्था नहीं, अपितु मानवीय संस्था थी।

२. राजा का निर्वाचन (वरण) होता था और इसमें प्रजा के सभी वर्गों के प्रतिनिधि निर्वाचक (रत्निन्) के रूप में भाग लेते थे।

३ राजा की नियुक्ति सानुबन्ध (सशर्त) होती थी। राजा यदि उन अनुबन्धों का पालन नहीं करता था तो उसे पदच्युत किया जा सकता था।

४. राजा राज्य का प्रमुख अधिकारी होता था। उसे राज्य के सभी संबद्ध अधिकारियों के सहयोग से कार्य करना होता था।

५. राजत्व एक प्रकार से न्यास (Trust) के रूप में होता था। इस न्यास का प्रयोजन होता था - राष्ट्र की समृद्धि और उसका विकास।

६. राजत्व निरंकुश नहीं था। राजा को स्वेच्छाचारी होने की स्वतन्त्रता नहीं थी।

७. राजत्व दंड-विधान से ऊपर नहीं था, अपितु दंड-संहिता उस पर भी लागू होती थी।

८. राजत्व का मूल रूप राष्ट्रीय था। राजा राष्ट्राध्यक्ष होता था। गौणरूप में प्रान्तीय या क्षेत्रीय अधिपतियों को भी राजत्व प्राप्त होता था।

४. राजा का पदच्युत किया जाना, निर्वासन और पुनः प्रतिष्ठापन

राजा की नियुक्ति और उसके स्थायीकरण का सर्वाधिकार समिति को होता था। राजा की नियुक्ति के विषय में समिति ही सबसे बड़ी संस्था थी। उसके आदेश से ही राजा स्थायी होता था।[६१] राजा के अभिषेक के साथ कुछ शर्त होती थीं और उनके पालन का उत्तरदायित्व

---

६०. नहि माता पुत्रं हिनस्ति, न पुत्रो मातरम् । शत० ५.४.३.२०

६१. ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह । अ० ६.८८.३

राजा पर होता था। यदि राजा उन कर्तव्यों का पालन नहीं करता था तो उसे पदच्युत करने का अधिकार भी समिति को था। कभी कभी उसे देश से निर्वासित भी कर दिया जाता था। अथर्ववेद के ब्रह्मगवी-सूक्तों में ऐसे कुछ कार्यों का निर्देश है, जिसके आधार पर राजा को पदच्युत किया जा सकता था।[६२] अयोग्यता, अक्षमता या कार्यकुशलता के अभाव के कारण समिति राजा को पद-च्युत कर देती थी और उसका समर्थन बन्द कर देती थी।[६३] यदि राजा अपने दोषों को स्वीकार करके प्रायश्चित्त करता था तो उसे पुनः गद्दी पर बैठाया जाता था। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में राजा को पुनः प्रतिष्ठापित करने के लिए सौत्रामणी यज्ञ का विधान है।[६४] प्रायश्चित्त के रूप में यह यज्ञ किया जाता था। अथर्ववेद के दो सूक्तों में राजा को पुनः स्थापित करने का वर्णन है।[६५] यदि प्रजा यह समझती है कि राजा को किसी षड्यंत्र के द्वारा पदच्युत किया गया है तो वह उस राजा को पुनः बुलाने के लिए आन्दोलन और संघर्ष करती थी। पदच्युत राजा जो देश-विदेश में भटकता फिरता था, उसको बुलाकर पुनः गद्दी पर बैठाते थे। अथर्ववेद में वर्णन है कि पदच्युत राजा अन्य क्षेत्र में भटकता फिरता था। उसे बुलाने के लिए श्येन या दूत भेजे गए।[६६] उसके लौटने पर उसके प्रतिद्वन्द्वी जनों ने तथा विरोधियों ने उसका स्वागत किया। उसके सगे-संबन्धियों ने भी उसका अभिनन्दन किया।[६७]

वंशपरम्परागत राजत्व - ऐतरेय ब्राह्मण में पारमेष्ठ्य शासन-प्रणाली का उल्लेख है। इसके प्रशासक को परमेष्ठी कहते थे। इसमें 'राजानं राजपितरम्' का उल्लेख है।[६८] इससे ज्ञात होता है कि यह शासन-प्रणाली वंश - परम्परागत होती थी। राजा के बाद राजकुमारों में से जो सबसे बड़ा होता था या जो सबसे योग्य होता था, वह राजा अभिषिक्त होता था। इसमें राजा का निर्वाचन नहीं होता था। राजा और मन्त्रिपरिषद् के निर्णयानुसार नए राजा की घोषणा होती थी।

शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि सृंजय एक जाति थी। उसमें वंशपरम्परा के अनुसार

---

६२. ब्रह्मगवी सूक्त, अथर्व० ५. १८ से १९

६३. नास्मै समितिः कल्पते । अ० ५.१९.१५

६४. अस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः । अ० ३.३.२
सौत्रामण्या याजयिष्यति । शत० ब्रा० १२.९.३.१

६५. अथर्व० ३. सूक्त ३ और ४

६६. श्येनो हव्यं नयत्वा परस्माद् ,
अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् । अ० ३.३.४

६७. ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत । अ० ३.३.५

६८. राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यम् । ऐत० ब्रा० ८.१२

राजा बनाने की प्रथा थी। तदनुसार ९ सृंजय राजा वंशपरंपरा के अनुसार राजा बने। १० वां सृंजय राजा 'दुष्टरीतु पौंसायन' राजा बनाया गया। उसके मंत्री का नाम था - 'रेवोत्तरस् पाटव चाक्र स्थपति'। कुरु राजा 'बल्हिक प्रातिपीय' यज्ञिय प्रक्रिया में कुछ मतभेद के कारण दुष्टरीतु से अप्रसन्न था। उसने षड्यन्त्र करके दुष्टरीतु को राज-सिंहासन से हटा दिया था और उसके मंत्री चाक्र स्थपति को भी मार भगाया था। चाक्र स्थपति ने सौत्रामणी यज्ञ किया और कुरुराजा प्रातिपीय के विरोध करने पर भी दुष्टरीतु को पुनः राजगद्दी पर बिठा दिया था।[६९]

इससे ज्ञात होता है कि राज्यों में वंशपरंपरागत राजत्व की प्रथा प्रचलित थी। पारस्परिक मतभेदों के कारण राजा को पद-च्युत भी किया जा सकता था।

●

---

६९. दुष्टरीतुर्ह पौंसायनः । दशपुरुषं राज्याद् अपरुद्ध आस ।
शत० ब्रा० १२.९ ३.१ एवं आगे ।

अध्याय ८

राजा के विविध कर्तव्य (राजा और प्रजा)

१. राजा के राष्ट्रीय कर्तव्य

२. राजा के धार्मिक कर्तव्य

३. राजा के आर्थिक कर्तव्य

४. राजा के सामाजिक कर्तव्य

५. राजा के शैक्षिक कर्तव्य

६. राजा के कर्तव्य प्रजा के प्रति

७. प्रजा के कर्तव्य राजा के प्रति

८. राजा और प्रजा के संबन्ध

अध्याय ८

राजा के विविध कर्तव्य (राजा और प्रजा)

चारों वेदों में सैकड़ों मन्त्रों में राजा के कर्तव्यों का निर्देश है। उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में वरुण का सम्राट् के रूप में वर्णन है और उसके लिए विशेषण दिया गया है – "धृतव्रतः" अर्थात् निधारित नियमों और कर्तव्यों का पालन करने वाला।[१] व्रत शब्द निर्धारित नियम, अनुशासन, प्रतिज्ञा और संकल्प के अर्थ में आता है। 'धृतव्रतः' से ज्ञात होता है कि राजा के लिए भी कुछ कर्तव्य निर्धारित हैं और उनका पालन करना राजा का कर्तव्य है। इन कर्तव्यों को हम कुछ शीर्षकों में बाँट सकते हैं। इससे विषय अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

१. राजा के राष्ट्रीय कर्तव्य

यजुर्वेद का कथन है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए राजन्य अर्थात् क्षत्रिय की सृष्टि हुई है।[२] क्षत्र शब्द का अर्थ है - क्षतात् त्रायते इति, जो क्षति या विपत्ति से बचाता है, उसे क्षत्र या क्षत्रिय कहते हैं। अतः एव राजा कहता है कि क्षात्रधर्म मेरी आत्मा और मेरा हृदय है।[३] अथर्ववेद का कथन है कि प्रजा को प्रसन्न करने के कारण राजन्य या राजा हुआ।[४] संस्कृत में राजा की व्याख्या की गई है – राजा प्रकृति – रञ्जनात्, प्रजा का रंजन करने के कारण राजा होता है।

यजुर्वेद में राज्याभिषेक के समय राजा को जो कर्तव्यों की शिक्षा दी जाती है, उसमें कहा गया है कि इन कार्यों के लिए तुझे अभिषिक्त किया जा रहा है :-

कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा ।[५]

अर्थात् कृषि की उन्नति के लिए, जन-कल्याण के लिए, राष्ट्र की श्री-वृद्धि के लिए और समग्र विकास के लिए तेरा अभिषेक किया जा रहा है।

ऐतरेय ब्राह्मण में राज्याभिषेक के समय कुछ अन्य बातों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि :-

---

१. नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः ।। ऋग्० १.२५. १० । यजु० १०.२७

२. क्षत्राय राजन्यम् । यजु० ३०.५

३. आत्मा क्षत्रम् उरो मम । यजु० २०.७

४. सोऽरज्यत, ततो राजन्योऽजायत । अ० १५.८.१

५. यजु० ९.२२

विशाम् अत्ताऽजनि, अमित्राणां हन्ताऽजनि, ब्राह्मणानां गोप्ताऽजनि, धर्मस्य गोप्ताऽजनि।[६]

अर्थात् - राज्याभिषेक के साथ तुझ पर ये उत्तरदायित्व डाले जा रहे हैं :-

१. तुझे राष्ट्ररक्षा के लिए कर (Tax) लेने का अधिकार प्राप्त हो गया है। यहां अद्धातु का अर्थ 'कर लेना' है। २. तुझे शत्रुओं को नष्ट करना है। ३. तुझे विद्वानों और वेदज्ञों की रक्षा करनी है। ४. तुझे धर्म (सत्य, शान्ति और व्यवस्था) की रक्षा करनी है।

यजुर्वेद में इसी प्रसंग में कुछ अन्य कर्तव्यों की ओर राजा का ध्यान आकृष्ट किया गया है। वे कर्तव्य हैं :-

बहुकार, श्रेयस्कर, भूयस्कर।[७]

अर्थात् - १. **बहुकार** - राष्ट्र की उन्नति के लिए बहुत से कार्य करने हैं। तुझे बहुत सी योजनाएँ बनानी होंगी और उन्हें कार्यान्वित करना होगा। २. **श्रेयस्कर** - तुझे बहुत से जन-कल्याणकारी कार्य करने होंगे। ३. **भूयस्कर** - जो योजनाएँ सफल और जनहितकारी सिद्ध होती हैं, उनको बार-बार चालू करना होगा।

१. **प्रजा को भयमुक्त करना और शान्ति की स्थापना करना** - यजुर्वेद का कथन है कि राजा प्रजा को निर्भय बनावे।[८] ऋग्वेद का कथन है कि राजा इतना प्रतापी हो कि पापी (असुर, राक्षस) छल-प्रपंच और आतंक फैलाने का साहस ही न कर सकें।[९] ऋग्वेद में अन्यत्र कहा है कि दुष्टों को घातक शस्त्रों से मरवा डाले और छल-प्रपंच करने वालों को मृत्युदंड दे।[१०] ऋग्वेद का यह भी कथन है कि हमारे देश में कोई राष्ट्रद्रोही न रहने पावे।[११] इसका अभिप्राय है कि देश में जो भी देशद्रोही छिपकर रहते हैं, उनको सर्वथा नष्ट कर देना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा की बाहरी और अन्दर के सभी शत्रुओं से रक्षा करे और उसे भयमुक्त करे। महाभारत में भी कहा गया है कि वही राजा सर्वश्रेष्ठ है, जिसके राज्य में प्रजा निर्भय होकर इसी प्रकार विचरण करती है,जैसे पिता के घर में।[१२]

---

६. ऐत. ब्रा. ८.१७

७. यजु० १०.२८

८. अभयानि कृण्वन् । यजु० ११.१५

९. निर्माया उ त्ये असुरा अभूवन् । ऋग्० १०. १२४.५

१०. रक्षोभ्यो वधम् अस्यतम् , अशनिं यातुमद्भ्यः । ऋग्० ७.१०४.२५

११. माऽन्तः स्थुर्नो अरातयः । ऋग्० १०.५७.१

१२. पुत्रा इव पितुर्गेहे, विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति, स राजा राजसत्तमः ।। महा० शान्ति० ५७. ३३

महाभारत का यह भी कथन है कि यदि राजा प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता है तो ऐसे राजा को हटा देना चाहिए।[१३] राजा का प्रमुख कर्तव्य है प्रजा की रक्षा। रक्षा ही संसार को धारण करने वाली है।[१४] अतः राजा को सर्वप्रथम प्रजा की रक्षा पर ध्यान देना चाहिए और शान्ति की सुव्यवस्था करनी चाहिए।

२. **शत्रुनाशन** - राजा जबतक अपने राज्य में शत्रुओं को नष्ट नहीं करेगा, तब तक शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती है। अतः वेदों में अनेक मन्त्रों में शत्रुनाशन का आदेश दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण ने राज्याभिषेक के समय ही राजा का कर्तव्य बताया है - 'अमित्राणां हन्ता' अर्थात् शत्रुओं को नष्ट करे।[१५] यजुर्वेद का कथन है कि राक्षसों और पापियों के नाश के लिए तुझे राजा बनाया गया है।[१६] राजा के लिए आदेश है कि वह शत्रुसेना पर विजय प्राप्त करे और उपद्रवी एवं कपटी लोगों को नष्ट करे।[१७] राज्याभिषेक के समय भी प्रार्थना की जाती है कि राजा शत्रुओं को सर्वथा समाप्त कर दे।[१८] राजा अपने शत्रुओं को पैर से रौंद दे।[१९] राजा का कर्तव्य हे कि यह सदा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे तथा कभी पराजित न हो।[२०] अथर्ववेद में भी यही बात कही गई है कि राजा शत्रुओं को नष्ट कर दे। जो वैरभाव रखते हैं, पापी हैं, या चोर - उचक्के हैं, उनको नष्ट कर दे।[२१]

३. **प्रजापालन** - राजा का प्रमुख कर्तव्य है – प्रजा का पालन, रक्षण और संवर्धन। इसलिए कहा गया है कि 'राजा प्रकृति - रञ्जनात्' अर्थात् प्रजा को प्रसन्न करने से ही राजा कहा जाता है। यजुर्वेद का कथन है कि - 'प्रजाः पाहि' अर्थात् प्रजापालन राजा का कर्तव्य है।[२२]

एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि प्रजा राजा को पूर्ण सहयोग दे और राजा प्रजा

---

१३. षडेतान् पुरुषो जह्यात् , अरक्षितारं राजानम् ।। महा० शान्ति० ५७.४४-४५

१४. तद् राज्ये राज्यकामानां, नान्यो धर्मः सनातनः ।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां, रक्षा लोकस्य धारिणी ।। शान्ति० ५७.४२

१५. ऐत० ब्रा० ८.१७

१६. हतं रक्षः, रक्षसां त्वा वधाय । यजु० ९.३८

१७. अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य । यजु० ९.३७

१८. इमं देवा असपत्नं सुवध्वम् । यजु० ९.४०

१९. अधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः । यजु० १५.५१

२०. जेतारम् अपराजितम् । यजु० २८.२

२१. वि जहि शत्रून् । अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा । अ० ४.३२.३

२२. यजु० ७.१७

को सभी प्रकार से संरक्षण दे।[२३] यह भी कहा गया है कि राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को इस प्रकार संरक्षण दे कि प्रजा को किसी प्रकार की कोई हानि न पहुँचे।[२४]

महाभारत में इस विषय का बहुत सुन्दर वर्णन है कि राजा सात रूप में प्रजा का पालक है :- वह माता, पिता, गुरु, रक्षक, अग्नि, कुबेर और यम है। प्रजा का पालक है, अतः वह पिता है। दीन-दुःखियों की सहायता करता है और सबका पालन करता है, अतः माता है। प्रजा का अहित करने वालों को जलाता (दंड देता) है, अतः अग्नि है। दुष्टों का दमन करता है और उन्हें नियन्त्रण में रखता है, अतः यम है। सज्जनों और विद्वानों को खुलकर दान देता है, अतः कुबेर है। धर्म और अनुशासन की शिक्षा देता है, अतः गुरु है। प्रजा का संरक्षण करता है, अतः रक्षक (गोप्ता) है।[२५] जो राजा धर्म का पालन करता है और सारी प्रजा को प्रसन्न रखता है, उसका राज्य कभी अस्थिर नहीं होता।[२६]

४. **स्वराज्य और राष्ट्ररक्षा** - प्रत्येक राजा का कर्तव्य है कि वह स्वतंत्र हो। उसका देश स्वतंत्र हो। स्वराज्य की स्थापना हो। अतएव ऋग्वेद के एक पूरे सूक्त के १६ मंत्रों में 'अर्चन् अनु स्वराज्यम् ' कहकर स्वराज्य की प्रशंसा की गई है।[२७] यजुर्वेद में राज्याभिषेक के समय 'स्वराज स्थ' कहकर राजा को आदेश है कि वह स्वराज्य की स्थापना करे।[२८]

ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि राजा ही नहीं, अपितु राजा के पुरोहित का भी कर्तव्य है कि वह राष्ट्र की रक्षा का सदा ध्यान रखे। अतः उसे 'राष्ट्रगोपः' नाम दिया है।[२९] यजुर्वेद में राजा कहता है कि राष्ट्र ही मेरी रीढ़ की हड्डी (पृष्ठी, Back-bone) है।[३०] अथर्ववेद में आदेश है कि राजा राष्ट्र को सौभाग्य की ओर ले जाये।[३१] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि राष्ट्र को सुदृढ बनाओ, इससे उसकी श्रीवृद्धि स्वयं होगी।[३२]

---

२३. प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु, प्रजास्त्वमनुप्राणिहि । यजु० ४.२५

२४. अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्व । यजु० १३.३०

२५. माता पिता गुरुर्गोप्ता, वह्निर्वैश्रवणो यमः ।
सप्त राज्ञो गुणानेतान् , मनुराह प्रजापतिः ।। महा० शान्ति० १३९. १०३ से १०६

२६. यस्तु रञ्जयते राजा, पौरजानपदान् गुणैः ।
न तस्य भ्रमते राज्यं, स्वयं धर्मानुपालनात् । शान्ति० १३९.१०७

२७. ऋग्० १.८०. १ से १६ ।

२८. यजु० १०.४

२९. यस्यैवं ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः । ऐत० ८ .२७

३०. पृष्ठीमें राष्ट्रम् । यजु० २०.८

३१. इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय । अ० ७.३५.१

३२. राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह । अ० १३.१.३४

५. **कठोर अनुशासन** - ऋग्वेद का कथन है कि कठोर अनुशासन और निरीक्षण से ही राजा अधिराज होता है।[३३] यदि कठोर अनुशासन नहीं होगा तो प्रजा में अव्यवस्था फैलेगी। अतएव यजुर्वेद में उत्तम शिक्षा दी गई है कि उग्रवादी को कठोर दंड से, दुष्टों को कठोर व्यवहार से और मित्रों को प्रेम से वश में करो।[३४]

२. राजा के धार्मिक कर्तव्य

राजा का कर्तव्य है कि वह स्वयं ईश्वरभक्त और आस्तिक हो। ऋग्वेद का कथन है कि राजा इन्द्र (परमात्मा) का प्रिय हो।[३५] राजा धर्मप्रेमी होगा तो प्रजा भी सत्कर्मों में प्रवृत्त होगी। यजुर्वेद में राजा का कथन है कि धर्म मेरे पैर हैं अर्थात् धर्म ही मेरी आधारशिला है।[३६] धार्मिक कर्तव्य से अभिप्राय केवल यज्ञ आदि या कर्मकांड नहीं है। अपितु दान, दया, परोपकार, सत्यनिष्ठा, सहानुभूति, सहिष्णुता आदि सभी गुणों का धार्मिक कर्तव्यों में समावेश है। अतएव ऐतरेय ब्राह्मण में राजा को 'धर्मस्य गोप्ता' अर्थात् धर्म का रक्षक कहा गया है।[३७]

ऋग्वेद में राजा का कर्तव्य बताया गया है कि वह सत्य से असत्य को पृथक् करे, अर्थात् असत्य को छोड़े और सत्य हो अपनावे।[३८] यजुर्वेद में भी राजा को सत्य अर्थात् सत्यनिष्ठा या ईमानदारी की शिक्षा दी गई है। राजा को 'सत्यौजस्' (अर्थात् सत्य ही जिसका तेज या प्रताप है) कहते हुए उसे न्यायाधीश वरुण देवता बताया गया है।[३९] साथ ही उसे सत्य का प्रेरक अर्थात् सत्य की प्रेरणा देने वाला और सत्य का प्रतिष्ठापक बताते हुए सूर्य देव कहा गया है।[४०]

धार्मिक कर्तव्यों में ही पर्यावरण की सुरक्षा की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा गया है कि हे पृथिवी माता, तुम मुझे कोई क्षति न पहुँचावो और न मैं तुम्हें कोई क्षति पहुँचाऊँ।[४१] इसका अभिप्राय है कि मैं पर्यावरण की सुरक्षा करूँ, वृक्ष-वनस्पतियों को न कटने दूँ,

---

३३. उग्रं चेत्तारम् अधिराजम् अक्रन्। ऋग्० १०.१२८.९

३४. उग्रं लोहितेन, मित्रं सौव्रत्येन, रुद्रं दौर्व्रत्येन। यजु० ३९.९

३५. अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्। ऋग्० ४.२२.४

३६. पद्भ्यां धर्मोऽस्मि। यजु० २०.९

३७. ऐत० ब्रा० ८.१७

३८. ऋतेन राजन् अनृतं विविञ्चन्। ऋग्० १०.१२४.५

३९. वरुणोऽसि सत्यौजाः। यजु० १०.२८

४०. सविताऽसि सत्यप्रसवः। यजु० १०.२८

४१. पृथिवि मातर्मा मा हिंसीः, मो अहं त्वाम्। यजु० १०.२३

वृक्षारोपण आदि की ओर ध्यान दूँ, जिससे समय पर वृष्टि हो और देश में दुर्भिक्ष आदि का कोई संकट उपस्थित न हो।

३. राजा के आर्थिक कर्तव्य

राजा के आर्थिक कर्तव्यों में कृषि-विकास, ऐश्वर्य-प्राप्ति, कोषवृद्धि आदि का उल्लेख है।

(१) **कृषि-विकास** :- राज्याभिषेक के अवसर पर राजा के कर्तव्यों के निर्देश में कहा गया है कि वह कृषि का विकास करे।[४२] राष्ट्रीय विकास के कार्यों में कृषि का बहुत महत्त्व है। कृषि से ही धन-धान्य-संपदा की उपलब्धि होती है। भारत कृषि-प्रधान देश है, अतः कृषि और किसानों के अभ्युदय की ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है। अथर्ववेद में भी कहा गया है कि ऐश्वर्यशाली राजा कृषि को विकसित करे।[४३] कृषि के विकास के लिए यत्न करना और कृषकों को सुविधा प्रदान करना, यह राजा का कर्तव्य है।

(२) **प्रजा की आर्थिक स्थिति सुधारना** :- यजुर्वेद का कथन है कि राजा धार्मिक व्यवहार करते हुए और प्रजा को पीडित न करते हुए प्रजा की आर्थिक स्थिति को उन्नत करे। उन्हें ऐश्वर्य-संपन्न करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी की स्थिति सुधारे।[४४] 'अमेनि' का अभिप्राय है कि आर्थिक सुधार के लिए ऐसे उपाय न अपनाये जायें, जिससे प्रजा का उत्पीडन हो।

(३) **कोष की वृद्धि और धन का विभाजन** :- ऋग्वेद में सुन्दर बात कही गई है कि राजा धन-संग्रह करे और अपने कोष की वृद्धि करे। साथ ही धन का यथायोग्य वितरण करे।[४५] यही भाव अथर्ववेद में भी वर्णित है कि प्रतापी राजा अपनी तेजस्विता से कर-संग्रह करके कोष की वृद्धि करे और दूसरी ओर दानी भी हो। धन का यथायोग्य वितरण करे।[४६] इसका अभिप्राय यह है कि राजा कोषवृद्धि में कोई कसर न छोड़े। सभी ओर से धनसंग्रह करे। साथ ही राष्ट्रीय उन्नति और विकास के कार्यों के लिए उस धन को लगावे। अथर्ववेद

---

४२. कृष्यै त्वा । यजु० ९.२२

४३. भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु । अ० ३.१२.४

४४. धर्मासि सुधर्मा-अमेनि अस्मे नृम्णानि धारय,
ब्रह्म धारय, क्षत्रं धारय, विशं धारय । यजु० ३८.१४

४५. रायो विभक्ता संभरश्च वस्वः । ऋग्० ४.१७.११

४६. बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः । अ० ३.४.३
ततो न उग्रो वि भजा वसूनि । अ० ३.४.४

के कुन्ताप सूक्त में वर्णन है कि राजा परिक्षित् की शासन-व्यवस्था से जनता बहुत प्रसन्न थी। उसने जन-कल्याण के बहुत कार्य किये थे। उसके राज्य में प्रजा बहुत संपन्न थी।[४७]

(४) **कर-संग्रह करना** :- ऋग्वेद का कथन है कि राजा अपनी योग्यता और शक्ति से प्रजा से कर (Tax) वसूल करता है।[४८] ऐतरेय ब्राह्मण में भी अभिषेक के समय कहा गया है कि वह 'विशाम् अत्ता अजनि' अर्थात् अभिषेक के बाद राजा प्रजा से कर लेने का अधिकारी बन जाता है।[४९] कर-संग्रह राजकोष की वृद्धि का प्रमुख साधन है। कोष में धन होनेपर ही सारी योजनाएँ सफल हो पाती हैं।

४. राजा के सामाजिक कर्तव्य

राजा के सामाजिक कर्तव्यों में कुछ विशेष कार्य ये हैं :-

(१) **जनकल्याण और विकास** - यजुर्वेद का कथन है कि राजा का अभिषेक प्रजा के कल्याण और उनके विकास के लिए होता है। क्षेम और पोष शब्दों के द्वारा प्रजा की कुशलता और उनके भौतिक सुख-साधनों में वृद्धि का निर्देश दिया गया है।[५०]

(२) **जनभृत् और विश्वभृत्** - यजुर्वेद में राजा के कर्तव्यों में दो अतिविशिष्ट कार्यों की ओर निर्देश किया गया है। वे हैं :- (क) जनभृत् अर्थात् अपने राष्ट्र की प्रजा का संरक्षण और पालन, (ख) विश्वभृत् अर्थात् विश्वहित, विश्वकल्याण, विश्वबन्धुत्व और सार्वभौम एकता एवं समन्वय की स्थापना।[५१] "वसुधैव कुटुम्बकम्' आदर्श का अनुसरण करना। राजा को केवल अपने राष्ट्र की ही चिन्ता नहीं होनी चाहिए, अपितु विश्व की भी चिन्ता होनी चाहिए। यदि विश्वशान्ति नहीं होगी तो राष्ट्र भी शान्त नहीं रह सकेगा।

(३) **कष्ट-विवारण और स्वावलम्बन** - अभिषेक के प्रसंग में ही कहा गया है कि राजा का कर्तव्य है कि वह दीन-दुःखियों एवं समाज के निम्न वर्ग के कष्टों के दूर करे। 'अव्यथायै' का भाव है कि जो भी विपत्ति या कष्ट में हैं, उनके कष्ट दूर किये जायें। 'स्वधायै' का भाव है कि प्रजा में स्वावलम्बन है, उसके कष्ट दूर किये जाये। 'स्वधायै'

---

४७. परिक्षित् नः क्षेमम् अकरोत् । अ० २०.१२७.८
जनः स भद्रमेधति, राष्ट्रे राज्ञः परीक्षितः । अ० २०.१२७.१०

४८. विशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः । ऋग्० ७.६.५

४९. ऐत० ब्रा० ८.१७

५०. क्षेमाय त्वा, पोषाय त्वा । यजु० ९.२२

५१. जनभृत स्थ, विश्वभृत स्थ ।। यजु० १०.४

का भाव है कि प्रजा में स्वावलम्बन हो। प्रजा प्रत्येक कार्य के लिए अपने पैरों पर खड़ी हो, परमुखापेक्षी न हो।[५२]

(४) **व्यापार और शिक्षा को सरंक्षण देना** - ऋग्वेद में दो महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर राजा का ध्यान आकृष्ट किया गया है। वे हैं :- (क) 'मघवन् ' की रक्षा, (२) विद्वानों की रक्षा।[५३] मघवन् का अर्थ है - धनवान् , संपन्न, व्यापारी वर्ग। व्यापार और व्यापारियों की रक्षा नहीं होगी तो देश का विकास संभव नहीं है। अतः इन्हें संरक्षण देने का निर्देश है। 'सूरि' का अर्थ विद्वान् है। यदि विद्वानों और शिक्षा-संस्थाओं को संरक्षण नहीं दिया जायगा तो शिक्षा का प्रसार नहीं हो सकेगा।

(५) **धन-धान्य की वृद्धि** - अथर्ववेद का कथन है कि प्रजा को प्रसन्न रखने वाला ही राजा आदरणीय होता है। वही उत्तम राजा है जो अपनी प्रजा और अपने संबन्धियों को उन्नत करता है तथा धन-धान्य की वृद्धि से प्रजा को उन्नति की ओर अग्रसर करता है।[५४] मंत्र में अन्न और अन्नाद्य शब्द केवल अनाज ही नहीं, अपितु भौतिक सुख-साधनों की वृद्धि का द्योतक है।

(६) **मित्र एवं मित्रराष्ट्रों की वृद्धि** - अथर्ववेद में राज्याभिषेक के प्रसंग में राजा के लिए कहा गया है कि वह अपने मित्रों की वृद्धि करे। 'मित्रवर्धन' शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है।[५५] राजा के जितने अधिक मित्र होंगे, उतना ही उसे अधिक जन-सहयोग प्राप्त होगा। मित्रों को प्रसन्न रखना, मित्रों का हितचिन्तन और मित्रों पर विश्वास करना, ये गुण ही मित्रों की वृद्धि में सहायक होते हैं। राजा न केवल अपने मित्रों की ही संख्या बढ़ावे, अपितु अन्य राजाओं से मित्रता करके मित्रराष्ट्रों की वृद्धि करे। 'मित्रवर्धन' शब्द मित्र एवं मित्रराष्ट्रों की वृद्धि का संकेत करता है।

(७) **स्त्री-शील-रक्षा एवं नारी-संरक्षण** - अथर्ववेद में 'ब्रह्मजाया' नाम से १८ मंत्रों का एक सूक्त है।[५६] इसमें वर्णन किया गया है कि जिस राष्ट्र में 'ब्रह्मजाया' अर्थात् विदुषी, सुशिक्षित और कुलीन स्त्री का अपहरण होता है या उसपर अत्याचार होता है, वह राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह सकता है।, इस प्रकार का अपहरण, अनाचार या अत्याचार पूरे राष्ट्र को संकट

---

५२. अव्यथायै त्वा, स्वधायै त्वा । यजु० १०.२१

५३. रक्षा च नो मघोनः, पाहि सूरीन् । ऋग्० १.५४.११

५४. स विशः सबन्धून् अन्नम् अन्नाद्यम् अभ्युदतिष्ठत् । अ० १५.८.२

५५. आ तिष्ठ मित्रवर्धन । यथासो मित्रवर्धनः । अ० ४.८.२ और ६

५६. अथर्व० ५.१७. १ से १८

में डाल देता है।[५७] जिस देश में ब्रह्मजाया या स्त्री पर कोई भी अनुचित प्रतिबन्ध लगाया जाता है या उसका शील-भंग किया जाता है, उस देश की श्रीवृद्धि रुक जाती है।[५८] वही राष्ट्र सुरक्षित रह सकता है, जहाँ स्त्री-शील की रक्षा होती है और उनपर कोई अत्याचार नहीं होता।[५९]

राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र में स्त्रियों को पूर्ण संरक्षण दे, उनके शील की रक्षा करे और उनपर किसी प्रकार का कोई अत्याचार न होने दे।

५. राजा के शैक्षिक कर्तव्य

वेदों में राजा के कुछ शैक्षिक कर्तव्यों का भी निर्देश प्राप्त होता है। संक्षेप में ये हैं :-

(१) **ज्ञान और विज्ञान** :- यजुर्वेद में राजा का कथन है कि मैं ज्ञान और विज्ञान को अपनी नाभि अर्थात् केन्द्र के रूप में मानता हूँ।[६०] शरीर का केन्द्र नाभि है, इसी प्रकार ज्ञान (शिक्षा) और विज्ञान राष्ट्र की उन्नति के आधार हैं। ज्ञान और विज्ञान के प्रसार से ही प्रजा को शिक्षित और विवेकशील बनाया जा सकता है।

(२) **ज्ञान-प्रसार करना** :- अभिषेक के समय राजा के कर्तव्यों में निर्देश है कि वह ज्ञान का प्रसार करे। अतः कई मंत्रों में कहा गया है कि 'सरस्वत्यै त्वा अभिषिञ्चामि' अर्थात् ज्ञान के प्रसार के लिए अभिषेक किया जा रहा है।[६१] राष्ट्र की उन्नति ज्ञान के प्रसार से ही हो सकती है, अतः राजा का प्रमुख कर्तव्य है कि वह शिक्षा के प्रचार-प्रसार में पूरा ध्यान दे।

(३) **अशिक्षा दूर करना** :- ऋग्वेद का कथन है कि अज्ञानियों को ज्ञान दो और अशक्तों को सशक्त और सजीव बनावो।[६२] ऋग्वेद में ही अन्यत्र कहा गया है कि राजा अशिक्षा को दूर करे और भूखों को अन्नादि दे।[६३]

---

५७. सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रम् । अ० ५.१७.४
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता । अ० ५.१७.६

५८. यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाऽचित्त्या । अ० ५. १७.१२ से १७

५९. तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य । अ० ५.१७.३

६०. नाभिर्मे चित्तं विज्ञानम् । यजु० २०.९

६१. यजु० १०.३२ । २०.३, २०.३३

६२. केतुं कृण्वन् अकेतवे, पेशो मर्या अपेशसे । ऋग्० १.६.२

६३. विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः । ऋग्० १०.४३.३

(४) **विद्वानों को संरक्षण** :- ऋग्वेद का कथन है कि राजा विद्वानों को संरक्षण दे।[६४] जब राजा विद्वानों को संरक्षण देगा, उनका सत्कार करेगा और उन्हें प्रोत्साहन देगा, तभी शिक्षा का प्रसार होगा और जनता में कर्तव्य-बोध जागृत होगा।

(५) **विश्व को ज्ञान की ज्योति देना** :- यजुर्वेद का कथन है कि संसार को ज्ञान की ज्योति दो।[६५] ज्ञान ही वह प्रकाश है, जो संसार को अपने कर्तव्य की दीक्षा दे सकता है और उन्हें अंधकार से प्रकाश में ला सकेगा।

(६) **गायत्री का महत्त्व** :- गायत्री मंत्र को गुरुमंत्र और वेदमाता इसीलिए कहा जाता है कि इसमें बुद्धि की प्रार्थना की गई है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' परमात्मा ही बुद्धि को सन्मार्ग पर लाता है और प्रेरणा देता है, अतः उससे केवल शुद्ध बुद्धि और विवेक की प्रार्थना की गई है। बुद्धि है तो संसार का सारा वैभव हस्तगत है।

६. राजा और प्रजा

राजा के कर्तव्य प्रजा के प्रति

वेदों में राजा का प्रजा के प्रति क्या कर्तव्य है, इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। राजा और प्रजा का अंग-अंगी के तुल्य अभिन्न संबन्ध है। यदि शरीर के अंग हृष्ट-पुष्ट हैं तो शरीर भी हृष्ट-पुष्ट होगा, यदि अंग निर्बल हैं तो शरीर निर्बल होगा। इसीप्रकार यदि प्रजा सबल और प्रसन्न है तो राजा भी सबल होगा। यही भाव वेदों में दिया गया है।

राजा और प्रजा का अंग-अंगी संबन्ध :- यजुर्वेद में वर्णन किया गया है कि राजा और प्रजा का अंग-अंगी-संबन्ध है। प्रजा अंग है और राजा शरीर। अतः राजा कहता है कि प्रजा मेरे अंग हैं।[६६] यजुर्वेद में अन्यत्र कहा गया है कि राजा का अस्तित्व ही प्रजा पर निर्भर है।[६७] ऋग्वेद में इसको दूसरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। वहाँ इसका अवयव-अवयवी संबन्ध के रूप में वर्णन किया गया है। मंत्र का कथन है कि राजा धुरी (नेमि) है और प्रजा उसके अरे (डंडे) हैं।[६८] अर्थात् राजा केन्द्रस्थ अवयवी है और प्रजा उसके अवयव हैं।

---

६४. पाहि सूरीन् । ऋग्० १.५४.११

६५. विश्वं ज्योतिर्यच्छ । यजु० १३.२४

६६. विशो मे ऽङ्गानि सर्वतः । यजु० २०.८

६७. विशि राजा प्रतिष्ठितः । यजु० २०.९

६८. सेदु राजा .. अरान् न नेमिः परि ता बभूव । ऋग्० १.३२.१५

प्रजापालन और अभयदान :- राजा का प्रमुख कर्तव्य है - प्रजा की रक्षा करना।[६९] इसी भाव को अनेक मंत्रों में विभिन्न रूपों में कहा गया है। यजुर्वेद में कहा है कि प्रजा के किसी अंग को क्षति न पहुँचाते हुए उसकी पूरी देखभाल करो।[७०] हे राजन्! तू अपनी प्रजा की रक्षा कर।[७१] रक्षा के साथ ही प्रजा को निर्भय बनाना, उपद्रवियों से संरक्षण देना भी राजा का कर्तव्य है। अतः कहा है कि प्रजा को निर्भय करो।[७२] प्रजा को कोई कष्ट न रहे।[७३] प्रजा कुशलता का अनुभव करे।[७४]

प्रजा की उन्नति और विकास के कार्यों को करना :- वेदों में अनेक मंत्रों में राजा का ध्यान प्रजा की उन्नति और विकास के कार्यों की ओर आकृष्ट किया गया है। अतएव यजुर्वेद में कई मंत्रों में कहा गया है कि प्रजा को दृढ और पुष्ट करो, अर्थात् उनकी आर्थिक स्थिति उन्नत करो।[७५] प्रजा के विकास के कार्यों को करो।[७६] प्रजा को सब प्रकार से सन्तुष्ट करो।[७७] प्रजा में नवीन स्फूर्ति भर दो।[७८] अर्थात् प्रजा में जागृति उत्पन्न करो। उन्हें नए उद्योगों को लगाने के लिए प्रेरणा दो और उनका कर्तव्य-निर्देश करो। ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी इसीप्रकार के भाव के कई मंत्र हैं। ऋग्वेद का कथन है कि प्रजा को शक्ति दो, स्फूर्ति दो।[७९] अथर्ववेद का कथन है कि अपने उन्नत राष्ट्र को और उन्नति की ओर ले चलो।[८०] इसका अभिप्राय यह है कि यदि राष्ट्र समृद्ध और संपन्न है, तो भी उतने से संतुष्ट न रहे, अपितु उन्नत और विकास के कार्यों को और उन्नत करे। अथर्ववेद में बहुत सुन्दर बात कही गई है कि राष्ट्र की उन्नति के लिए आवश्यक है कि उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ और उन्नत

---

६९. प्रजाः पाहि । यजु० ७.१७

७०. अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्व । यजु० १३.३०

७१. भवा पायुर्विशः । यजु० १३.११

७२. अभयानि कृण्वन् । यजु० ११.१५

७३. अव्यथायै त्वा । यजु० १०.२१

७४. शिवं प्रजाभ्यः । यजु० ११.२८

७५. प्रजां दृंह । यजु० ५.२७

७६. प्रजां पुष्टिं वर्धयमानः । यजु० ९.२५

७७. प्रजां मे तर्पयत । यजु० ६.३१

७८. प्रजास्त्वम् अनुप्राणिहि । यजु० ४.२५

७९. जिन्वतं विशः । ऋग्० ८.३५.१८

८०. उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावत् । अ० १२.३.१०

हो। साथ ही यदि प्रजा की उन्नति होती है तो वह राजा को अमर बना देती है।[८१] इसका अभिप्राय यह है कि राजा को इतिहास में अमर और सुविख्यात होने के लिए प्रजा की उन्नति करना अत्यावश्यक है, अन्यथा यश नहीं मिल सकता है।

प्रजा में कोई भूखा, प्यासा न रहे :- अथर्ववेद का यह भी कहना है कि राज्य में कोई भी भूखा और प्यासा न रहे।[८२] इसका अभिप्राय यह है कि राज्य में धन-धान्य की कमी न हो, सबको अन्न-जल सुलभ हो। साथ ही दुर्भिक्ष के लिए भी अन्न-संग्रह की व्यवस्था हो।

७. प्रजा के कर्तव्य राजा के प्रति

वेदों में जहाँ राजा के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का वर्णन है, वहाँ प्रजा के भी कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का उल्लेख है। राजा यदि प्रजा के लिए कष्ट उठाता है और अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग करता है तो प्रजा का भी कर्तव्य होता है कि वह उसके ऋण को समझे और उसका प्रत्येक कार्य में सहयोग करे। अतएव यजुर्वेद का कथन है कि यदि राजा विकास कार्यों के लिए प्रजा को प्रेरित करता है तो प्रजा भी राजा को अपने सहयोग से अनुप्राणित करे।[८३] इसका अभिप्राय यह है कि राजा और प्रजा दोनों एक दूसरे को अपने सहयोग से प्रोत्साहित करते रहें और विकास के प्रति उत्साह में कमी न आने दें। यजुर्वेद का यह भी कथन है कि राजा के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशनार्थ प्रजा उसका सदा आदर और संमान करे।[८४]

ऋग्वेद का कथन है कि उत्तम प्रजा वह है, जो राजा के मन को मोह ले।[८५] अर्थात् जो प्रजा राजा के आदेशों का पालन करती है और उसकी योजनाओं में सहयोग करती है, वह उत्तम प्रजा है। यही बात दूसरे मंत्र में भी कही गई है कि प्रजा राजा के नियमों के अनुसार कार्य करे।[८६]

अथर्ववेद का कथन है कि जो प्रजा कठोर अनुशासन का पालन करती है, उसमें

---

८१. राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह ।
प्रजां च रोह, अमृतं च रोह । अ० १३.१.३४

८२. एष वां ... उपस्थे, मा क्षुधत् , मा तृषत् । अ० २.२९.४

८३. प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु, प्रजास्त्वम् अनुप्राणिहि । यजु० ४.२५

८४. तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीः । यजु० ८.४५

८५. तमाहुः सुप्रजा इति, यस्ते सोमाविधन्मनः । ऋग्० ९.११४.१

८६. तस्य व्रतान्यनु वश्चरामसि । ऋग्० ८.२५.१६

धार्मिकता और प्रगति की भावना रहती है।[८७] मंत्र में 'तपसः संबभूवुः' कहा गया है, उसका अभिप्राय है कि जो प्रजा तपस्वी जीवन बिताती है, उसको ही मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। अथर्ववेद में इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है कि राजा और प्रजा में शासक और शासित का ही संबन्ध न हो, अपितु दोनों में हार्दिक एकता भी हो। अतएव कहा है कि प्रजा राजा को अपने यहाँ विविध आयोजनों में बुलावे।[८८] इसी प्रकार राजा का भी कर्तव्य है कि वह प्रजाजनों की उपेक्षा न करे, अपि तु उन्हें यथासमय बुलावे।

८. राजा और प्रजा के संबन्ध

राजा और प्रजा के संबन्धों के विषय में भी कुछ उपयोगी निर्देश दिए गए हैं :-

राजा और प्रजा में माता-पुत्र का संबन्ध :- राजा के अभिषेक के समय जो मंत्र पढ़े जाते है, उनमें यजुर्वेद का एक मंत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें अभिषेक के जल को संबोधित करते हुए उसे 'मातृतमा' कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि राजा क़ा प्रजा के साथ संबन्ध माता और पुत्र के तुल्य है। जिस प्रकार माता अपने पुत्र की रक्षा करती है, पालती है और उसे बड़ा करती है, उसी प्रकार राजा का भी कर्तव्य है कि वह प्रजा को पुत्रवत् पाले, उसके हित की चिन्ता करे और उसे उन्नत करे। मंत्र में कहा गया है कि प्रजा शिशु के तुल्य है और राजा माता के तुल्य है। राजा वरुण के तुल्य प्रजा में निवास करता है।[८९] मंत्र में 'पस्त्यासु' में 'पस्त्या' शब्द प्रजा के लिए है।[९०] मंत्र में राजा को माता ही नहीं, अपितु 'मातृतमा' अर्थात् आदर्श माता कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि आदर्श माता के जो गुण होते हैं, वह सारे गुण राजा में होने चाहिएं। मंत्र में अन्य उल्लेखनीय दो शब्द हैं 'अनाधृष्टाः' और 'अपस्यः।'[९१] ये दोनों शब्द प्रजा के लिए हैं। प्रजा 'अनाधृष्ट' अर्थात् अथक परिश्रमी और अजेय (Invincible) हो। उसके उत्साह में कोई कमी न हो। 'अपस्यः' अपस् के स्त्रीलिंग अपसी शब्द से बना है। इसका अर्थ है कर्मठ (Industrious)। इसका अभिप्राय यह है कि प्रजा को जो भी कार्य दिया जाता है, उसे वह अपनी पूरी सामर्थ्य से पूरा करे। इस प्रकार राजा और प्रजा का समन्वय हो पाता है।

वेद के इस संकेत को आधार मानकर महाभारत शान्तिपर्व में बहुत सुन्दर कहा गया

---

८७. यास्ते विशस्तपसः संबभूवुः,
तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन। अ० १३.१.१०

८८. स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे। अ० ३.४.६

८९. पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थम्, अपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः। यजु० १०.७

९०. विशो वै पस्त्याः। शत० ब्रा० ५.४.४.५

९१. अनाधृष्टा अपस्यो वसाना०। यजु० १०.७

है कि राजा को गर्भिणी स्त्री के तुल्य व्यवहार करना चाहिए। जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने मन को अच्छे लगने वाले भोजन आदि का परित्याग करके केवल गर्भस्थ बालक के हित का ध्यान रखती है, उसी प्रकार राजा अपने प्रिय लगने वाले विषयों को छोड़कर, जिसमें सारी प्रजा का हित हो, वही कार्य करे।[९२]

व्यवहार में माधुर्य :- राजा के व्यवहार में स्नेह, माधुर्य और समवेदना की भावना होनी चाहिए। इसलिए राजा का प्रयत्न रहता था कि वह लोक-प्रिय हो सके। अथर्ववेद में राजा कहता है कि मैं प्रजा का प्रिय बनूँ।[९३] यजुर्वेद में भी कहा गया है कि राजा प्रजा के साथ सामंजस्य रखे। उनसे सहृदयता और सहानुभूति का भाव रखे।[९४]

जनता की आकांक्षाओं को पूरा करना :- अथर्ववेद का कथन है कि राजा प्रजा के पीछे चला।[९५] अर्थात् राजा प्रजा की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहा।

प्रजा के साथ ममत्व :- राजा प्रजा के साथ ममत्व स्थापित करे, जिससे एकत्व की अनुभूति हो। जब ऐसी स्थिति बनती है, तभी प्रजा राजा को अपना प्राण समझती है और उसके लिए सब कुछ बलिदान करने के लिए तैयार होती है। यजुर्वेद में इसी आधार पर कहा गया है कि - राजा मेरे प्राण हैं।[९६] ऋग्वेद का भी कथन है कि राजा हमारा प्रिय हो।[९७]

प्रजा को कार्यों से आकृष्ट करना :- जब राजा प्रजा का कल्याण करता है, तो प्रजा उसकी ओर आकृष्ट होती है। अथर्ववेद का कथन है कि उन्होंने प्रजा का कल्याण किया, अतः शत्रु तक उनके प्रेम से आकृष्ट हुए।[९८] प्रजा राजा के अच्छे कार्यों से प्रसन्न होती है तो राष्ट्र की उन्नति होती है और राजा लोकप्रिय होता है। अतः यजुर्वेद का कथन है कि सारी

---

९२. भवितव्यं सदा राज्ञा, गर्भिणी-सहधर्मिणा । ४४
यथा हि गर्भिणी हित्वा, स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते, तथा राज्ञाऽप्यसंशयम् ।।४५
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ, सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य, यद् यद् लोकहितं भवेत् ।। ४६ महा० शान्ति० ५६. ४४ से ४६

९३. प्रियः प्रजानां भूयासम् । अ० १७.१.३

९४. विशः ... समनसस्करत् । यजु० ७.२५

९५. स विशोऽनु व्यचलत् । अ० १५.९.१

९६. राजा मे प्राणः । यजु० २०.५

९७. प्रियो नो अस्तु विश्पतिः । ऋग्० १.२६.७

९८. ते विशि क्षेमम् अदीधरन् । अ० ३.३.५

प्रजा तुझको चाहे। तेरा राष्ट्र कभी अवनति को न प्राप्त हो।[९९] राजा अपनी लोकप्रियता से जब प्रजा को आकृष्ट कर लेता है तो प्रजा उसकी इच्छा के अनुकूल चलती है। यही बात अथर्ववेद में कही गई है। राजा कहता है कि मैं तुम्हारे हृदयों को आकृष्ट करता हूँ ,तुम मेरे विचारों के अनुसार चलो।[१००]

राजा क्रूर, कपटी और स्वार्थी न हो :- यजुर्वेद में राजा के लिए कहा गया है कि तुम साँप की तरह हिंसक और क्रूर न हो। अजगर की तरह सारी संपदा न खा कर बैठ जाओ। सत्य के मार्ग का अनुसरण करो और धन-धान्य की वृद्धि करो।[१०१]

●

---

९९. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु,
मा त्वद्राष्ट्रम् अधिभ्रशत् । यजु० १२.११

१००. अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि,
मम चित्तमनु चित्तेभिरेत । अ० ३.८.६

१०१. माऽहिर्भूः, मा पृदाकुः ।
घृतस्य कुल्या उप, ऋतस्य पथ्या अनु । यजु० ६.१२

अध्याय ९

संविधान और विधिनिर्माण

१. वैदिक संविधान
२. संविधान का उद्देश्य
३. संविधान की रचना
४. संविधान के मौलिकतत्त्व
५. विविध संविधान
६. वैदिक संविधानों की प्रमुख विशेषताएँ
७. विधि और विधि-निर्माण
८. विधि-निर्माण के केन्द्र
९. विधिपालिका के कार्य
१०. विधिनिर्माण में आचार्यों का महत्त्व
११. विधिनिर्माण में जनमत का महत्त्व

अध्याय ९

संविधान और विधि-निर्माण

१. वैदिक संविधान

संविधान (Constitution) का अर्थ है – वे मौलिक सिद्धान्त जिनके अनुसार किसी देश या राज्य का प्रशासन चलाया जाता है। वैदिक संविधान की केवल रूपरेखा वेदों में प्राप्त होती है। वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में कतिपय विभिन्न शासन-प्रणालियों का उल्लेख मिलता है। ये शासन-प्रणालियाँ अपने संविधान के अनुसार संचालित होती थीं। इनका विवेचन आगे प्रस्तुत किया गया है। वैदिक संविधान प्रायः अलिखित है। इसके विभिन्न सिद्धान्त वैदिक साहित्य में इधर-उधर बिखरे हुए हैं।

२. संविधान का उद्देश्य

वेदों में संविधान शब्दका प्रयोग नहीं है। ऋग्वेद के एक मंत्र में 'विधान' शब्द का उल्लेख है।[१] इसमें कहा गया है कि इन्द्र ने महीनों का विधान करने वाले सूर्य को द्युलोक में स्थापित किया और उसने तेरे सहयोग से टूटे हुए चक्र (वर्षचक्र) को ठीक किया। इस मंत्र से दो संकेत मिलते हैं :- १. राजा या संविधान के बिना राज्य-प्रशासन अव्यवस्थित रहता है, अतः राजा या संविधान की स्थापना आवश्यक है। २. संविधान का कार्य है – अव्यवस्था का निवारण और व्यवस्था की स्थापना। इस प्रकार इस मंत्र से संविधान के उद्देश्यों पर प्रकाश पड़ता है।

३. संविधान की रचना

अथर्ववेद के एक मंत्र से संविधान की रचना पर प्रकाश पड़ता है। मंत्र का अर्थ है - तत्त्वज्ञानी ऋषियों ने लोककल्याण की भावना से कुछ नियम बनाए। उन्होंने तप (अनुशासन, Discipline) और दीक्षा (समर्पण, Dedication) को सर्वप्रथम रखा। इससे राष्ट्र और शक्ति की उत्पत्ति हुई। अतः देवता इनको प्रणाम करते हैं।[२] इस मंत्र से संविधान - संबन्धी

---

१. मासां विधानम् अदधा अधि द्यवि,
त्वया विभिन्नं भरति प्रधिं पिता । ऋग्० १०.१३८.६

२. भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः,
तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं,
तदस्मै देवा उपसंनमन्तु । अ० १९.४१.१

ये संकेत प्राप्त होते हैं :- १. राष्ट्र के कल्याण के लिए संविधान की आवश्यकता है। २. संविधान के मौलिक सिद्धान्तों के द्रष्टा ऋषिगण (विद्वान्) होते हैं। ३. ऋषिगण ही संविधान के मूल रचयिता हैं। ४. संविधान में दो तत्त्वों का समावेश अनिवार्य है – तप और दीक्षा (अनुशासन और समर्पण)। ५. संविधान का आदर करना आवश्यक है।

४. संविधान के मौलिक तत्त्व

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त के प्रथम मंत्र में कुछ मौलिक तत्त्वों का निर्देश है, जिनका समावेश प्रत्येक संविधान में आवश्यक है।[३] ये तत्त्व हैं :- (१) सत्यं बृहत् - महान् सत्य (सत्य का पालन, सत्य व्यवहार, चारित्रिक शुद्धि) । (२) ऋतम् उग्रम् - शाश्वत प्राकृतिक नियमों को ऋत (Eternal Laws) कहते हैं। प्राकृतिक नियमों का पालन, प्रकृति का संरक्षण, प्रकृति से तादात्म्यभाव। ऋत का अर्थ सत्य और मन भी है।[४] सत्य संकल्प, दृढ संकल्प और विचार-शुद्धि ऋत है। (३) दीक्षा – समर्पण, किसी उद्देश्य के लिए जीवन को समर्पित करना, कर्तव्य-निष्ठा। (४) तपः – अनुशासन का पालन, जीवन को संयमित करना। (५) ब्रह्म – आस्तिकता और ज्ञानार्जन। विद्या और ज्ञान की प्राप्ति। (६) यज्ञ – यज्ञ करना, पर्यावरण की सुरक्षा और शुद्धि। अथर्ववेद का कथन है कि ये गुण हैं, जो पृथिवी को धारण किए हुए हैं। इनके कारण ही पृथिवी रुकी हुई है। अतः संविधान में इनका समावेश आवश्यक है।

५. विविध संविधान

वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में विविध शासन-पद्धतिओं का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में इनका विस्तृत रूप से उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में १० शासन-पद्धतियों को उल्लेख है। इनके नाम हैं:- १. साम्राज्य, २. भौज्य, ३. स्वाराज्य, ४. वैराज्य, ५. पारमेष्ठ्य, ६. राज्य, ७. माहाराज्य, ८. आधिपत्य, ९. स्वावश्य, १०. आतिष्ठ।[५] इनके संविधानों में अन्तर है। प्रत्येक संविधान की अपनी कुछ मौलिक मान्यताएँ हैं। इनका विस्तृत विवरण

---

३. सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । अ० १२.१.१

४. सत्यं वा ऋतम् । शत० ७.३.१. २३
मनो वा ऋतम् । जैमि० उप० ३.३६.५
ऋतम् – मनसा यथार्थ-संकल्पनम् ।।

५. साम्राज्याय, भौज्याय, स्वाराज्याय, वैराज्याय, पारमेष्ठ्याय
राज्याय, माहाराज्याय, आधिपत्याय, स्वावश्याय,
आतिष्ठाय ... अभिषिञ्चति । ऐत० ब्रा० ८.४.१८

आगे दिया गया है। प्रत्येक संविधान के अनुसार उसके प्रशासक या राजा को पृथक् उपाधियाँ और नाम दिए गए हैं। इन संविधानों के अनुसार ही उस राज्य की प्रशासन - व्यवस्था तैयार की जाती थी और उसका कार्यान्वयन होता था। प्रत्येक संविधान के मौलिक भेदों का विशद विवेचन किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता है।

६. वैदिक संविधानों की प्रमुख विशेषताएँ

वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में राजा के अभिषेक से संबद्ध अनेक संदर्भ हैं।[६] शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि :-

राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। सम्राड् वाजपेयेन।[७]

राजा जब तक राजसूय यज्ञ नहीं कर लेता, तबतक उसका अभिषेक नहीं हो सकता है। सम्राट् होने के लिए वाजपेय यज्ञ करना आवश्यक है। जबतक अभिषेक नहीं हो जाता, तब तक वह अधिकृत राजा नहीं होता। अतः संविधान के नियमानुसार राजसूय, वाजपेय आदि यज्ञों का करना आवश्यक होता था। उसके पश्चात् उसे उपस्थित जनसमूह के समक्ष राजकीय शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। इन सारी विधियों का संक्षिप्त वर्णन यजुर्वेद आदि संहिताओं में है और विस्तृत वर्णन शतपथ ब्राह्मण आदि में प्राप्त होता है।[८] नष्ट राज्य की पुनः प्राप्ति के लिए सौत्रामणी यज्ञ किया जाता था।[९] सार्वभौम राजा होने के लिए अश्वमेध यज्ञ किया जाता था।[१०] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार असमर्थ राजा अश्वमेध यज्ञ नहीं कर सकता था, अन्यथा उसे हटा दिया जाता था।[११] शतपथ ब्राह्मण में राजसूय यज्ञ की विधि और अभिषेक का विस्तृत वर्णन दिया गया है।[१२] इसी कांड में सौत्रायणी याग की भी विधि दी गई है।[१३]

---

६. यजु० अध्याय ९ और १०, तैत्ति० सं० १.८.११, काठक सं० १५.६, मैत्रायणी सं० २.६ । ब्राह्मणग्रन्थ–तैत्ति० ब्रा०१.७.५, पंचविंश ब्रा०१८.८, शत०ब्रा० ५.३.३,ऐत० ब्रा० ८.५ ।

७. शत० ब्रा० ५.१.१.१३

८. यजुर्वेद अध्याय ९ और १० में वाजपेय और राजसूय यज्ञ तथा अभिषेक का वर्णन ।

९. सौत्रामणी यज्ञ, यजु० अ० १९ और २०

१०. अश्वमेध यज्ञ, यजु० अध्याय २२ से २९ । शतपथ ब्रा० कांड १३ ।

११. तैत्ति० ब्रा० ३.८.९.४

१२. शत० ब्रा० कांड ५

१३. शत० ब्रा० कांड ५, अध्याय ५, ब्रा० ४

इन यज्ञों को पूरे विधि-विधान के साथ करना अनिवार्य था। राज्याभिषेक की पूरी प्रक्रिया प्रारम्भ से अन्त तक निर्दिष्ट विधान के अनुसार ही करनी होती थी। इसमें किसी प्रकार का अन्तर करना अशास्त्रीय माना जाता था।

इस प्रकार विविध नियमों के समुच्चय ने संविधान का रूप ग्रहण किया था। कोई भी राजा या अधीनस्थ कर्मचारी इन नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता था। यदि वह ऐसा करता था तो उसे अपने पद से च्युत या मुक्त कर दिया जाता था।

वैदिक संविधान की प्रमुख विशेषताओं को संक्षेप में इस रूप में रखा जा सकता है :-

१. वैदिक संविधान को परम पुनीत समझा जाता था। इसकी विभिन्न धाराओं का श्रद्धा-भक्ति से पालन किया जाता था। संविधान की किसी भी धारा का उल्लंघन पाप समझा जाता था। छोटे-बड़े सभी के लिए यह संविधान मान्य और अलंघनीय होता था।

२. वैदिक संविधान को कठोर (Rigid) कहा जा सकता है। इस संविधान की धाराओं अथवा इसके नियमों और उपनियमों में सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। विदथ नामक विशेष परिषद् ही इसके नियमों और उपनियमों आदि में आवश्यकतानुसार कुछ सामान्य परिवर्तन या परिवर्धन कर सकती थी।

३. वैदिक संविधान कुछ अंश में लिखित और कुछ अलिखित था। इसका लिखित अंश वेदों और ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जैसा का तैसा लिखित उपलब्ध है। इसका अलिखित अंश जन-साधारण में प्रचलित प्रथाओं आदि के रूप में विद्यमान था। इस अलिखित अंश को भी लिखित अंश के तुल्य मान्यता प्राप्त थी।

४. वैदिक संविधान देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार विविध रूप में प्रचलित था। इसीलिए इसके राज्य, माहाराज्य, साम्राज्य, स्वाराज्य आदि अनेक रूप प्रचलित थे। संविधानों की विभिन्नताओं के कारण ही शासन-पद्धतियों में भी भेद होता था। तदनुसार विभिन्न राज्यों की स्थापना होती थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कतिपय विभिन्नताओं के होते हुए भी संविधान के मूल तत्त्व एक ही होते थे। अतः संविधान की आत्मा एक ही रहती थी।

संविधान की विभिन्नता के कारण होने वाली विभिन्न शासन-पद्धतियों का वर्णन अगले अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

७. विधि और विधि-निर्माण

विधि और धर्म :- वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में विधि (Law) के लिए पारिभाषिक शब्द धर्म है। वेदों में धर्म शब्द दो रूपों में प्राप्त होता है - धर्म और धर्मन् अर्थात् अकारान्त और अन्नन्त। एक के रूप राम के तुल्य चलते हैं और दूसरे के कर्मन् के तुल्य। दोनों शब्द

Law, statute of ordinance के अर्थ में प्रयुक्त हैं। वरुण को धर्मपति (Protector of Law) नाम दिया गया है।[१४] शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि वरुण धर्मपति अर्थात् विधि-विधान का संरक्षक है। राज्याभिषेक के साथ राजा को भी धर्मपति (विधिरक्षक) की उपाधि से अलंकृत किया जाता है, अतः वह भी धर्म का रक्षक और वरुण देवता का प्रतिरूप हो जाता है।[१५] यजुर्वेद में अतएव राजा को वरुण कहा गया है।[१६] यजुर्वेद में धर्मपति के स्थान पर 'धर्मणस्पति' शब्द का भी प्रयोग है।[१७]

तैत्तिरीय संहिता में राजा के लिए संकेत है कि वह धर्म की रक्षा के लिए नियुक्त हुआ है। राजा यदि प्रगतिशील और उन्नतिशील होना चाहता है तो उसे धर्म (Law) को पुष्ट करना चाहिए। मंत्र में प्रगतिशीलता के लिए 'प्रेति' शब्द का प्रयोग हुआ है।[१८] ऋग्वेद में धर्म (विधि) को धारक माना गया है और कहा गया है कि इन्द्र धर्म के द्वारा पृथिवी को धारण किए हुए है।[१९]

वरुण आदि-विधान-निर्माता :- अथर्ववेद के एक मंत्र से संकेत मिलता है कि मानवीय विधि-विधान का आदि निर्माता वरुण देवता है। इस सूक्त का देवता वरुण है। मंत्र इस प्रकार है -

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद, ततो वपूंषि कृणुते पुरूणि।।[२०]

इसका अर्थ है – उस वरुण देवता को सर्वप्रथम विधि-विधान प्राप्त हुआ। उसने इसके शरीर (स्वरूप) को नाना रूप दिये। इस मंत्र में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं:- (१) प्रथमः, (२) पुरूणि वपूंषि। प्रथमः का अभिप्राय यह है कि वरुण ही प्रथम देवता था, जिसने न्याय के सिद्धान्तों, विधियों और विधानों का ठीक ज्ञान प्राप्त किया। अतः वह प्रथम या आदि विधि-द्रष्टा हुआ। उसने दूसरा जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह था – विधि - विधान का विशद विवेचन, उसको व्यवस्थित करना और अंग-प्रत्यंगों का विविध विभागों में विभाजन करके उसको समग्र रूप में प्रस्तुत करना। 'पुरूणि वपूंषि कृणुते' के द्वारा न्याय के विविधरूपों

---

१४. वरुणो धर्मपतीनाम् । यजु० ९.३९

१५. वरुण एव धर्मपतिः, धर्मस्य पतिं करोति, यो हि परमतां गच्छति
तं हि धर्म उपयन्ति, तस्माद् वरुणाय धर्मपतये । शत० ब्रा० ५.३.३.९

१६. वरुणोऽसि । यजु० १०.१६

१७. अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिः । यजु० १०.२९

१८. प्रेतिरसि, धर्माय त्वा, धर्मं जिन्व । तैत्ति० सं० ३.५.२.२

१९. धर्मणा ... अवनीरधारयः । ऋग्० २.१३.७

२०. अ० ५.१.२

का संकलन अभिप्रेत है। इस प्रकार हम वरुण देव को आदि धर्म-द्रष्टा, विधि-द्रष्टा और विधि-विधान का निर्माता कह सकते हैं।

वरुण देवता प्रथम न्यायाधीश था। उसने ही न्यायपालिका का प्रथम संविधान प्रस्तुत किया, अतः उसे 'धर्मपति' नाम से संबोधित किया गया है। वेदों में वरुण का बहुत गुणगान है। वह सम्राट् है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता है - धृतव्रतः, नियमों का कठोरता से पालन करना।[२१] वह स्वयं नियमों का पालन करता है और संसार में कहीं भी नियम-विरुद्ध काम हो रहा है, उसकी सूचना उसको तुरन्त प्राप्त हो जाती है। उसके गुप्तचर (स्पशः) सर्वत्र फैले हुए हैं।[२२] कोई भी उसकी दण्डव्यवस्था से बच नहीं सकता है।[२३] इसी बात को तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि कोई भी न्याय-व्यवस्था के प्रतिकूल कार्य (अनृत) किया जाता है, तो वह वरुण की दंड-व्यवस्था की पकड़ में आ जाता है।[२४] कहीं भी कोई छिपकर या चोरी से काम किया जाता है तो उसकी सूचना तुरन्त वरुण को मिल जाती है।[२५] अपराधी कहीं भी चला जाय, वह वरुण की दंड-व्यवस्था से नहीं बच सकता है।[२६] सारी पृथिवी, सारा द्युलोक और सारे समुद्र उसकी दंड-व्यवस्था के अन्तर्गत हैं।[२७]

ऋग्वेद का कथन है कि वरुण सारे भुवनों का राजा है।[२८] वह सम्राट् है।[२९] देव और मनुष्य सभी का वह राजा है।[३०] द्यावापृथिवी उसके ही धर्म (न्याय-व्यवस्था) से नियन्त्रित हैं।[३१]

इससे ज्ञात होता है कि वरुण देवता सम्राट् , न्यायाधीश, विधि-प्रवर्तक और विधि का संचालक है।

---

२१. नि षसाद धृतव्रतो वरुणः ... साम्राज्याय । यजु० १०.२७

२२. दिवः स्पशः प्र चरन्तीदमस्य,
सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् । अ० ४.१६.४

२३. मा ते मोचि - अनृतवाक् । अ० ४.१६.७

२४. अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति । तैत्ति० ब्रा० १.७.२.६

२५. राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः । अ० ४.१६.२

२६. न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः । अ० ४.१६.४

२७. अ० ४.१६.३

२८. विश्वस्य भुवनस्य राजा । ऋग्० ५.८५.३

२९. विश्वा भुवनानि सम्राट् । ऋग्० ८.४२.१

३०. ऋग्० २.२७.१०

३१. द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते । ऋग्०६.७०.१

विधि-निर्माता ऋषिगण :- वेदों में विधि-निर्माता (Law maker) के लिए धर्मकृत् शब्द है। विधि-व्यवस्था और आचार-संहिता के निर्माण का कार्य मुख्य रूप से ऋषियों पर था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में विधि-निर्माताओं की कुछ योग्यताओं का भी उल्लेख है। मंत्र में कहा गया है :-

विप्राय ..., धर्मकृते, विपश्चिते, पनस्यवे।[३२]

धर्मकृत् (विधिनिर्माता) इन गुणों से युक्त होना चाहिए :- १. विप्र – प्रतिभाशाली ज्ञानी हो। २. विपश्चित् - विद्वान् , सूझबूझ वाला और व्यवहारविद् हो। ३. पनस्यु - Glorious, अपने विषय का विशेषज्ञ और सुप्रतिष्ठित हो। ऐसे विद्वानों और ऋषियों को विधि-निर्माण का कार्य दिया जाता था।

तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि ऋषिगण अपने विशिष्ट ज्ञान से विभिन्न समस्याओं का हल निकालते थे। वे लंबी शास्त्र-चर्चाओं में भाग लेते थे और अपना समाधान प्रस्तुत करते थे।[३३] इन ऋषियों द्वारा प्रदत्त समाधान ही विधि का रूप लेते थे।

८. विधि-निर्माण के केन्द्र

वैदिक युग में विधि-निर्माण का कार्य ऐसी किसी सभा या समिति के द्वारा नहीं होता था, जिसमें जनता के प्रतिनिधि भाग लेते हों। विधि-निर्माण का मुख्य लक्ष्य होता है – सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि समस्याओं का निराकरण। प्राचीन काल में इन समस्याओं के निराकरण के लिए मुख्य रूप से दो केन्द्र थे। इन्हें हम विधि-निर्माण-केन्द्र कह सकते हैं। ये हैं :- १. ऋषियों के आश्रम, २. स्थानीय संस्थाएँ। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है :-

(क) **विधि-निर्माण-केन्द्र, आश्रम** :- प्राचीन ऋषियों और महर्षियों के आश्रम प्राणिमात्र के लिए विधि-निर्माण के केन्द्र थे। नगरों आदि के दूषित वातावरण से दूर रम्य एवं नैसर्गिक सुषमा से परिपूर्ण अरण्यों में या पर्वतों पर ये आश्रम स्थापित हाते थे। यजुर्वेद में उल्लेख है कि पर्वतों की कन्दराओं में और नदियों के संगमों पर ऋषि-मुनि ध्यानस्थ होकर मनन-चिन्तन करते थे। इसी चिन्तन से वे ज्ञानी और विद्वान् हुए।[३४] पर्वत-कन्दरा आदि ऐसे स्थान थे, जहाँ शान्तचित्त से मानवमात्र के कल्याण हेतु विधि-विधानों का चिन्तन किया जाता

---

३२. ऋग्० ८.९८.१ । अथर्व० २०.६२.५

३३. ऋषयः पुरा विज्ञानेन दीर्घसत्रम् उपयन्ति । तैत्ति० सं० ३.५.८.५

३४. उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत । यजु० २६.१५

था। भौतिक समस्याओं के समाधान हेतु जो उपाय ऋषियों को प्रतिभासित होते थे, उनका प्रयोग सर्वप्रथम आश्रमस्थ व्यक्तियों पर किया जाता था। जिस समस्या के लिए जो प्रयोग सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होता था, उस प्रयोग को सार्वजनिक किया जाता था। इस प्रकार के प्रयोग प्रत्येक ऋषि-मुनि अपने आश्रमों में करते थे। उनकी प्रयोगशाला शिष्य और शिक्षक थे। इन अनुभूत प्रयोगों का संकलन करके उन्हें आचारशिक्षा और नैतिक शिक्षा का स्वरूप दिया जाता था। ये नियम ही काल-क्रमानुसार विधि (Law) का रूप धारण कर लेते थे। प्रत्येक राजा अपनी आवश्यकता के अनुरूप इन विधियों (Laws) को अपने राज्य में लागू करता था और प्रयत्न करता था कि ये विधियाँ जनता द्वारा आदृत और स्वीकृत हों। राजा विधिरक्षक या धर्मपति के रूप में इन विधियों की सफलता के लिए प्रयत्नशील रहता था। इस प्रकार ये ऋषियों के आश्रम विधि-निर्माण-केन्द्र का कार्य करते थे।

इन वैदिक विधि-निर्माण-केन्द्रों की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। ये विशेषताएँ सामान्य विधि-निर्माण-केन्द्रों में संभव नहीं हैं। ये विशेषताएं मुख्य रूप से ये हैं: १. दलगत राजनीति से प्रेरित न होना। २. प्राणिमात्र के अभ्युदय की भावना से प्रेरित । ३. किसी प्रकार की स्वार्थ-भावना का अभाव। ४. सर्वथा निष्पक्ष होना। ५. आदर्श विधि-स्वरूप।

इस विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि ऋषि-प्रणीत ये विधियाँ आदर्श भले ही हों, कुछ अंशों में अव्यावहारिक भी सिद्ध हो सकती हैं। सामान्य जन-जीवन आश्रम-जीवन के तुल्य पूर्ण संयमी और निष्कपट नहीं हो सकता है। अतः विधियों के कुछ अव्यावहारिक अंशों को छोड़कर ही ये राज्यों में अपनाए जात थे। राज्य अपनी आवश्यकता और उपयोग की दृष्टि से उनका चयन करके अपने राज्यों में उन्हें विधि का रूप देते थे।

वैदिक काल में अनेक ऐसे ऋषि हुए थे, जिनके आश्रम अत्यन्त विख्यात हुए थे। इनमें कुछ विशेष उल्लेखनीय ऋषि ये थे :- विश्वामित्र, वामदेव, गोतम, कण्व, अंगिरस्, अगस्त्य, शौनक, अत्रि, वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि, कश्यप आदि। ये मानव-जीवन की जटिल समस्याओं पर मनन-चिन्तन करते थे और उनके निराकरण हेतु जो उपयागी नियम बनाते थे, उनको विभिन्न राज्य मान्यता प्रदान करके विधि का स्वरूप देते थे।

वैदिक विधि के कुछ उदाहरण :-

(क) संपत्ति का उत्तराधिकारी - ऋग्वेद के एक मंत्र से संकेत उपलब्ध होता है कि पुत्रहीन पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी उसका नाती (पुत्री का पुत्र) होता था, पुत्री नहीं। पुत्रहीन पिता अपने नाती को गोद लेता था और वही संपत्ति का उत्तराधिकारी होता था।[३५] इस मंत्र के ऋषि विश्वामित्र हैं, अतः यह विधि विश्वामित्र के आश्रम की देन है।

---

३५. शासद् वहनिर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् , विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् ।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्, सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ।। ऋग्० ३.३१.१

(ख) पुत्र ही संपत्ति का उत्तराधिकारी - ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में प्रश्न उठाया गया है कि यदि एक पिता के पुत्र और पुत्री दोनों संतान हैं तो पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी कौन होगा? उत्तर दिया गया है कि – यदि पुत्र है तो वही संपत्ति का उत्तराधिकारी होगा, पुत्री नहीं। पुत्र अपनी बहिन के विवाह की व्यवस्था करेगा और विवाह में जो व्यय होगा, वह करेगा। पैतृक संपत्ति में पुत्री का अधिकार नहीं होगा।[३६] पुत्र और पुत्री में भेद का कारण स्पष्ट किया गया है कि पुत्र वंश-परम्परा को चलाता है, वही कुल-परम्परा का पालक होता है। पुत्री विवाह के पश्चात् दूसरे कुल की स्वामिनी होती है। उसे विवाह, अलंकरण आदि के लिए ही पैतृक संपत्ति लेने का अधिकार है।

इस मंत्र के ऋषि भी विश्वामित्र हैं। अतः यह विधि (Law) विश्वामित्र ऋषि के आश्रम की देन है।

(ग) अविवाहित पुत्री को दायभाग - ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में व्यवस्था दी गई है कि यदि पुत्री विवाह नहीं करती है और आजीवन माता-पिता के साथ रहती है तो उसे पुत्र-पुत्रियों की गणना के अनुसार जितनी संपत्ति का अधिकार बनता है, उतनी संपत्ति की वह अधिकारिणी होती है। माता-पिता का कर्तव्य है कि वह हिसाब लगाकर जितना उसका अंश बनता है, उतना उसे दें, जिससे वह अपना जीवन-निर्वाह आराम से कर सके।[३७]

इस मंत्र का यह भी अभिप्राय है कि जिन पुत्रियों का विवाह हो गया है, उनको पैतृक धन में दायभाग नहीं मिलेगा। इस मंत्र के ऋषि भार्गव शौनक हैं। अतः यह विधि शौनक के आश्रम की देन है।

(घ) ब्राह्मणों को कर (Tax) से मुक्त रखना - अथर्ववेद में व्यवस्था दी गई है कि ब्राह्मणों को कर से मुक्त रखे। जो राजा ब्राह्मणों पर कर लगाता है, वह पापी होता है।[३८] इस विधि के द्रष्टा मयोभू ऋषि हैं।

(ङ) ब्राह्मण के घातक को कठोरदंड - अथर्ववेद में ब्राह्मण के हत्यारे को कठोरदंड की व्यवस्था दी गई है।[३९] इस विधि के द्रष्टा भी मयोभू ऋषि हैं। इसीप्रकार ब्रह्मगवी-

---

३६. न जामये तान्वो रिक्थमारैक्, चकार गर्भं सनितुर्निधानम् ।
यदी मातरो जनयन्त वह्निम्, अन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन् ।। ऋग्० ३.३१.२

३७. अमाजूरिव पित्रोः सचा सती, समानादा सदसस्त्वामिये भगम् ।
कृधि प्रकेंतमुप मास्या भर, ददधि भागं तन्वो येन मामहः ।। ऋग्० २.१७.७

३८. ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्, ये वाऽस्मिन् शुल्कमीषिरे ।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः, केशान् खादन्त आसते ।। अ० ५.१९.३

३९. (क) येन मृतं स्नपयन्ति, ... ।
तं वै ब्रह्मज्यस्य ते देवा, अपां भागमधारयन् । अ० ५.१९.१४
(ख) यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति० । अ० ५.१८.१३

हरण अर्थात् ब्राह्मण की संपत्ति या ब्राह्मण की गाय के हरण तथा ब्रह्मजाया-हरण अर्थात् ब्राह्मणी के हरण को महापाप गिनाया गया है।[४०] इन तीनों सूक्तो के द्रष्टा मयोभू ऋषि हैं। अतः यह मयोभू ऋषि के आश्रम द्वारा निर्धारित व्यवस्था है।

ये व्यवस्थाएँ तभी वैध रूप धारण कर सकती थीं, जब राज्यों द्वारा इन्हें वैधता प्रदान की जाती थी। अतः इन व्यवस्थाओं का राज्यों के विधि-संग्रह में स्थान प्राप्त करना आवश्यक होता था।

(ख) विधि-निर्माण-केन्द्र, स्थानीय संस्थाएँ

विधि - निर्माणमें स्थानीय संस्थाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। देश, जाति, जल-वायु, आचार-विचार, रहन-सहन, सामाजिक जीवन-स्तर आदि के भेद से प्रत्येक स्थान की कुछ विशिष्ट समस्याएँ होती हैं और उनका सामाधान भी स्थानीय दृष्टि से करना होता है। अतः विधि-निर्माण में स्थानीय संस्थाओं की भी विशेष उपयोगिता होती है। स्थानीय संस्थाएँ स्थानीय गुण-दोषों के आधार पर विशेष विधियाँ बनाती हैं और उनका कार्यक्षेत्र विशिष्ट स्थान ही होता है। स्थानीय संस्थाओं में कुल को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

(ग) विधि- निर्माणकेन्द्र, कुल (कुलाचार, कुलधर्म)

समस्त समाज कुलों में विभक्त है। प्रत्येक कुल की कुछ विशिष्ट जीवन-शैली होती है। वह कुल या जाति उन विशिष्ट गुणों के लिए विख्यात होती है। इन विशिष्ट गुणों को कुलाचार या कुलधर्म कहा जाता है। भगवद्गीता में भी कुलधर्मों का बहुत महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। कहा गया कि युद्ध में कुलों के नष्ट होने से कुलधर्म भी नष्ट हो जाते हैं। कुलधर्मों और जातिधर्मों का नष्ट होना समाज के लिए बहुत अभिशाप है।[४१] इससे ज्ञात होता है कि कुलधर्मों और जातिधर्मों का अस्तित्व समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है। कुलधर्म और जातिधर्म उस कुल और जाति के वैशिष्ट्य के सूचक होते थे, अतः इन्हें वैधता प्राप्त थी। इन कुलधर्मों में आचार-विचार, शिक्षा, विवाह आदि की विधियों में वैविध्य होता था। राज्य इन कुल-प्रथाओं, कुल-परम्पराओं आदि को मान्यता प्रदान करता था, अतः ये कुलाचार विधि का रूप धारण कर लेते थे।

---

४०. अथर्ववेद कांड ५, सूक्त १७, १८ और १९

४१. (क) कुलक्षये प्रणश्यन्ति, कुलधर्माः सनातनाः । गीता १.४०
(ख) उत्साद्यन्ते जातिधर्माः, कुलधर्माश्च शाश्वताः । गीता १.४३
(ग) उत्सन्नकुलधर्माणां, मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो, भवतीत्यनुशुश्रुम ।। गीता १.४४

(घ) विधि-निर्माणकेन्द्र, वर्णाश्रम धर्म

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में समाज के निर्माण की प्रक्रिया में चार वर्णों का उल्लेख है।[४२] सामाजिक व्यवस्था के लिए ४ वर्णों की आवश्यकता होती है। ये चार वर्ण चार विशिष्ट कार्यों का संपादन करते हैं। ब्राह्मण – शिक्षण और धार्मिक-कार्य, क्षत्रिय– राष्ट्र की रक्षा, वैश्य–व्यापार, वाणिज्य, अर्थव्यवस्था, शूद्र–विविध शिल्प एवं श्रमकार्य। यजुर्वेद में चारों वर्णों के लिए यह व्यवस्था दी गई है।

ब्रह्मणे ब्राह्मणम् , क्षत्राय राजन्यम् , मरुद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्रम् । यजु० ३०.५

समाज को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए कार्यों का विभाजन आवश्यक था। इस आधार पर ही वर्णों का संघटन किया गया था। यह वर्ण-व्यवस्था मूल रूप से सर्वथा वृत्तिपरक थी। समाज को चार प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है :- १. शिक्षण कार्य और धार्मिक कार्य करने वाले, २. देश की बाह्य और आन्तरिक रक्षा करने वाले, ३. व्यापार, वाणिज्य और राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को संभालने वाले, ४. शिल्प और विविध उद्योग-धन्धों को करने वाले। इसी दृष्टि से वेद में चारों वर्णों के कार्य निर्धारित किए गए हैं।

मनुस्मृति और गीता आदि में भी इसी प्रकार वर्णों के कर्मों का विभाजन किया गया है।[४३] यदि कोई इन नियमों का उल्लंघन करता है तो वह दंडनीय अपराध माना जाता है। मनु ने नियमों के उल्लंघन पर इस प्रकार दंड की व्यवस्था दी है। यदि कोई ब्राह्मण प्रातः और सायं संध्या नहीं करता है तो वह शूद्रवत् ब्राह्मणवर्ग से निष्कासित किया जाना चाहिए।[४४] मनु ने एक अन्य व्यवस्था में लिखा है कि जो ब्राह्मण वेदों का अध्ययन न करके, अन्य विषयों में परिश्रम करता है, वह जीता हुआ ही अपने पुत्र-पौत्रादि के साथ शूद्रत्व को प्राप्त करता है।[४५] इससे ज्ञात होता है कि विधियों का कठोरता से पालन करना अनिवार्य है।

जिस प्रकार वृत्ति (पेशा) की दृष्टि से वर्णों की व्यवस्था की गई है, उसी प्रकार मानव

---

४२. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् , बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।
ऋग्० १०.९०.१२, यजु० ३१.११, अथर्व० १९.६.६

४३. (क) मनु० १.८८ से ९१
(ख) गीता १८. ४१ से ४४

४४. न तिष्ठति तु यः पूर्वां, नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः, सर्वस्माद् द्विजकर्मणः । मनु० २.१०३

४५. योऽनधीत्य द्विजो वेदम् , अन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन् एव शूद्रत्वम् , आशु गच्छति सान्वयः । मनु० २. १६८

जीवन को चार भागों में बांटा गया है। इन्हें आश्रम नाम दिया गया है। ये चार आश्रम हैं :- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य आश्रम विद्योपार्जन का काल है। गृहस्थ विवाह, संतानोत्पत्ति और अर्थार्जन का काल है। वानप्रस्थ मुनित्व का काल है तथा संन्यास वैराग्य का काल है। मनुस्मृति में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के विविध नियमों का विस्तार से वर्णन किया गया हैं।[४६]

वर्णों और आश्रमों के विविध नियमों के निर्माण-केन्द्र ऋषि-आश्रम ही होते थे। सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ करने के लिए इन नियमों का पालन अनिवार्य होता था। राज्य द्वारा इन नियमों की स्वीकृति होने पर ये नियम विधि का रूप लेते थे। राजा को इन नियमों में परिवर्तन का अधिकार नहीं था। राजा का कर्तव्य था कि वह इन नियमों का सामान्य जनता के द्वारा पालन करावे।

९. विधिपालिका के कार्य

पूर्वोक्त विधि-निर्माण-केन्द्र ही वैदिक काल में विधिपालिका का कार्य करते थे। इन विधि-निर्माण-केन्द्रों का कार्य था– देश, काल और परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए समाज की प्रगति और सुख-समृद्धि-हेतु विविध विधियों का निर्माण करना, अनुपयोगी और कालबाधित विधियों को निरस्त करना तथा विधियों के कार्यान्वयन की प्रक्रिया को सुदृढ करना।

प्राचीन वैदिक विधिपालिका और आधुनिक विधिपालिका में पर्याप्त अन्तर है। आधुनिक विधिपालिका का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमें राजनीतिक विषयों पर वाद-विवाद, आन्तरिक और बाह्य नीतियों का निर्धारण, विभिन्न राज्यों से संधि और आर्थिक संबन्धों पर विचार, अर्थनीति का निर्धारण, राष्ट्रीय आय-व्यय की समीक्षा, बजट पास करना, अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों पर विचार आदि कार्यों का समावेश है। साथ ही मंत्रि-मंडल का निर्माण करना, उसका कार्यविभाजन और नियन्त्रण भी विधिपालिका का ही कार्य होता है। विधायकों के कार्यों पर नियन्त्रण, उनके विरुद्ध किये गये आक्षेपों को सुनना और निर्णय देना, राज्य की शान्ति और सुरक्षा-व्यवस्था को सुदृढ बनाना आदि सभी कार्य विधिपालिका के कार्यक्षेत्र में आते हैं।

इस प्रकार वैदिक और आधुनिक विधिपालिका के क्रियाकलाप में पर्याप्त अन्तर है। वैदिक विधिपालिका का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित था। उसका कार्य था - लोकोपयोगी विधियों

---

४६. ब्रह्मचर्य-मनु० २. ४१ से ५६ । गृहस्थ - मनु० ३.४ से ७८ । वानप्रस्थ – मनु० ६.२ से २३ । संन्यास - मनु० ६. २४ से ८६ ।

का निर्माण, सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप विधियों का निर्माण, उनमें संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन आदि करना।

१०. विधिनिर्माण में आचार्यों का महत्त्व

महाभारत से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में विधिनिर्माण में आचार्यों, ऋषि-मुनियों और विद्वानों का पूर्ण सहयोग लिया जाता था। आश्रमस्थ ऋषि-मुनि केवल मनन-चिन्तन ही नहीं करते थे, अपितु वे तात्कालिक राजनीति और सामाजिक व्यवस्था से भी संबद्ध रहते थे। वे राजाओं को दिशा-निर्देश भी देते थे। महाभारत में राजा के लिए भी निर्देश है कि वह ऋषि-मुनियों से संपर्क बनाये रखे, उनका आदर करे और राजकीय समस्याओं पर उनसे विचार-विनिमय करके उनका समाधान निकाले।[४७] ऐसे ही आचार्यों में आचार्य चाणक्य का भी उल्लेख है। उन्हें वेदज्ञ, राजनीतिशास्त्र आदि का वेत्ता कहा गया है। वे कौटिल्य ही अर्थशास्त्र के रचयिता के रूप में राजनीतिशास्त्र के मूर्धन्य विद्वानों में हैं।[४८]

११. विधिनिर्माण में जनमत का महत्त्व

महाभारत में बहुत सुन्दर निर्देश दिया गया है कि विधिनिर्माण में जनमत का पूरा आदर होना चाहिए। जनहित की जो बातें हैं या जनता की जो आकांक्षाएँ हैं, उनको ध्यान में रखकर ही विधियों (Laws) का निर्माण होना चाहिए। जिन नियमों या कार्यों के लिए जनता का समर्थन नहीं है, उन कार्यों को न करे।

महाभारत का कथन है कि राजा अपने विश्वासपात्र गुप्तचरों को नियुक्त करके पता लगावे कि उसने जो कानून बनाये हैं या उसने जो व्यवहार किया है, उसकी जनता प्रशंसा करती है या नहीं? वह यह भी पता लगावे कि उसके कार्य और उसके बनाए नियमों की जनता प्रशंसा करेगी या नहीं? पूरे राष्ट्र में उसका यश फैल रहा है या नहीं?[४९]

---

४७. (क) आत्मानं सर्वकार्याणि, तापसे राष्ट्रमेव च ।
निवेदयेत् प्रयत्नेन, तिष्ठेत् प्रह्वश्च सर्वदा ।। महा० शान्ति० ८६.२६
(ख) सर्वार्थत्यागिनं राजा, कुले जातं बहुश्रुतम् ।
पूजयेत् तादृशं दृष्ट्वा० । महा० शान्ति० ८६.२७
(ग) तस्मिन् निधीन् आदधीत, प्रज्ञां पर्याददीत च । महा० शान्ति० ८६.२९

४८. चाणक्य इति विख्यातः श्रोत्रियः सर्वधर्मवित् । मुद्राराक्षस, तेलंग संस्करण, उपोद्घात पृ० ४४

४९. अतीतदिवसे वृत्तं, प्रशंसन्ति न वा पुनः ।
गुप्तैश्चारैरनुमतैः, पृथिवीमनुसारयेत् ।।
जानीयुर्यदि मे वृत्तं, प्रशंसन्ति न वा पुनः ।
कच्चिद् रोचेज्जनपदे, कच्चिद् राष्ट्रे च मे यशः ।। महा० शान्ति ८९. १५, १६

इससे स्पष्ट है कि जनमत का आदर करते हुए ही नियम बनाने चाहिएं। तभी राजा जनता का आदर प्राप्त कर सकेगा।

चाणक्य का भी कथन है कि जनता का क्रोध सबसे बड़ा क्रोध है।[५०] जनता यदि किसी कानून के विरुद्ध है तो वह कानून कभी भी नहीं चल सकता। बृहस्पति सूत्रों में भी कहा गया है कि यदि जनमत विरुद्ध है तो छोटे से छोटा नियम भी लागू न करे।[५१] यदि कोई नियम उचित है, परन्तु जनता उसके विरुद्ध है तो उसे लागू न करे।[५२] इससे ज्ञात होता है कि विधिनिर्माण में जनमत का पूरा ध्यान रखना आवश्यक है।

●

---

५०. प्रकृतिकोपः सर्वकोपेभ्यो गरीयान्। चाणक्यसूत्र १३

५१. जनघोषे सति क्षुद्रकर्म न कुर्यात्। बृहस्पतिसूत्र १.९५

५२. धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात्। बृह० सूत्र १.४

अध्याय १०

विविध शासन-प्रणालियाँ

१. शासन-प्रणालियों के नाम
२. राज्य और राजा
३. साम्राज्य और सम्राट्
४. माहाराज्य और महाराज
५. स्वाराज्य और स्वराट्
६. भौज्य और भोज
७. वैराज्य और विराट्
८. आधिपत्य और अधिपति
९. सार्वभौम और एकराट्
१०. पारमेष्ठ्य और परमेष्ठी
११. स्वावश्य
१२. आतिष्ठ
१३. जनराज्य या जानराज्य
१४. अधिराज्य
१५. विप्रराज्य
१६. समर्यराज्य

अध्याय १०

विविध शासन-प्रणालियाँ

१. शासन-प्रणालियों के नाम

वैदिक साहित्य में विविध शासन-प्रणालियों का उल्लेख मिलता है। चारों वेदों में संकेत रूप में इनके नाम प्राप्त होते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में राजसूय यज्ञ के प्रसंग में विभिन्न शासन-प्रणालियों का उल्लेख मिलता है, परन्तु इनका विस्तृत विवरण कहीं नहीं दिया गया है। अतः इनका विवरण उपलब्ध संकेतों के आधार पर दिया जा रहा है। ऐतरेय ब्राह्मण में यह भी उल्लेख है कि इनमें से कुछ शासन-प्रणालियाँ भारत के कुछ विभिन्न भागों में प्रचलित थीं।

ऋग्वेद में इन शासन-प्रणालियों या शासकों का उल्लेख मिलता है :- १. विराट् (वैराज्य)[१], २. राज्य (राजा)[२], ३. साम्राज्य (सम्राट् , सम्राज्ञी)[३], ४. स्वराज्य (स्वराट्)[४], ५. अधिराज्य (अधिराज्)[५], ६. आधिपत्य, अधिपत्य (अधिपति)[६], ७. जनराज्य (जनराजा)[७]।

यजुर्वेद में इन शासन-प्रणालियों या शासकों का उल्लेख है :- १. राज्य (राजा, राज्ञी)[८], २. वैराज्य (विराट् , विराज्)[९], ३. साम्राज्य (सम्राट्)[१०], ४. स्वराज्य (स्वराट्)[११] ५. आधिपत्य (अधिपति, अधिपत्नी)[१२], ६. जानराज्य (जनराजा)[१३]।

---

१. विराट् , ऋग्० १.१८८.५ । १०.९०.५
२. राजान इव, ऋग्० १.८५.८ । राजानः, ऋग्० १.४१.३
३. सम्राट् , ऋग्० १.१८८.५ । २.२८.६ । सम्राज्ञी, ऋग्० १०.८५.४६
४. स्वराज्यम् , ऋग्० १.८०. १ से १६ ।
५. अधिराजम् , ऋग्० १०.१२८.९
६. आधिपत्यम् , ऋग्०१०.१२४.५
७. जनराज्ञः, ऋग्०१.५३.९
८. सोमस्त्वा राजा । यजु० १७.४९ । राज्ञी, यजु० १५.१०
९. विराट् , यजु० १५.११ । वैराजम् , यजु० १५.१३
१०. साम्राज्याय, यजु० १०.२७ । सम्राट्, यजु० १५.१२
११. स्वराट् , यजु० १५.१३ । स्वराजः, यजु०१०.४
१२. अधिपतयः, यजु० १५.१० से १४ । अधिपत्नी, यजु० १५.१४
१३. महते जानराज्याय, यजु० ९.४०

अथर्ववेद में इन शासन - प्रणालियों या शासकों का उल्लेख है :-

१. राज्य (राजा)[१४], २. साम्राज्य (सम्राट् , सम्राज्ञी)[१५], ३. वैराज्य (वैराज, विराट्)[१६], ४. स्वराज्य (स्वराट्)[१७], ५. जनराज्य (जनराजा)[१८], ६. आधिपत्य (अधिपति)[१९]।

ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंचिका में विविध शासन-प्रणालियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, साथ ही इनके शासकों के भी नाम दिए गए हैं। ये प्रणालियाँ है :- १. साम्राज्य (सम्राट्), २. भौज्य (भोज), ३. स्वाराज्य (स्वराट्), ४. वैराज्य (विराट्), ५. पारमेष्ठ्य (परमेष्ठी), ६. राज्य (राजन्, राजा), ७. माहाराज्य (महाराज), ८. आधिपत्य (अधिपति), ९. स्वावश्य, १०. आतिष्ठ।[२०]

इसी प्रसंग में ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन है कि ये शासन-प्रणालियाँ भारत के कुछ विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित थीं। इनका विवरण इस प्रकार है[२१] :- प्राची (पूर्व) दिशा के राज्यों (मगध, कलिंग, बंग आदि) के जो राजा हैं, उनका 'साम्राज्य' के लिए अभिषेक होता है और वे 'सम्राट्' कहलाते हैं। दक्षिण दिशा के जो सत्वत् (यादव) राज्य हैं, उनका 'भौज्य' शासन है और वे 'भोज' कहे जाते हैं। पश्चिम दिशा (सुराष्ट्र, कच्छ, सौवीर आदि) के जो राज्य हैं, उनमें 'स्वाराज्य' शासन है और वहां के शासक 'स्वराट्' कहलाते हैं। उत्तर दिशा में हिमालय के क्षेत्र में उत्तरकुरु, उत्तरमद्र आदि जो राज्य है; उनमें 'वैराज्य' शासन है और

---

१४. वरुणस्य राज्ञः, अ० १५.२.२०

१५. साम्राज्यम् , अ० १४.१.४३ । सम्राज्ञी, अ० १४.१.४३
सम्राट् अ० ४.१.५ । सम्राजे नमः, अ० १७.१.२२

१६. विराजे, अ० १७.१.२२ । वैराजम्, अ० १५.२.१८

१७. स्वराजे नमः, अ० १७.१.२२

१८. जनराज्ञः, अ० २०.२१.१९

१९. अधिपतयः, अ० ५.२४.६

२०. साम्राज्याय, भौज्याय, स्वाराज्याय, वैराज्याय, पारमेष्ठ्याय, राज्याय, माहाराज्याय, आधिपत्याय, स्वावश्याय, आतिष्ठाय, ... अभिषिञ्चति । ऐत० ८.४.१८

२१. प्राच्यां दिशि ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते ।
दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भौज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते ।
प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो स्वाराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते ।
उदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा
इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते। मध्यमायां दिशि ये के च कुरुपंचालानां
राजानः राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते । ऐत० ब्रा० ८.३.१४

वहाँ के शासक को 'विराट्' कहते है। मध्यदेश में कुरु, पंचाल, उशीनर आदि जो राज्य हैं, उनमें 'राज्य' शासन-प्रणाली प्रचलित है और उनके शासकों को 'राजा' कहा जाता है।

अन्य शासन-पद्धतियों पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य आदि के लिए ऐतरेय ब्राह्मण ने यह कहकर बात समाप्त की है कि ये पद्धतियाँ मरुत् , अंगिरस् आदि देवों में प्रचलित हैं।

यजुर्वेद में भी इन शासन-प्रणालियों में से कुछ का उल्लेख है और उनका विभिन्न दिशाओं से संबन्ध दिखाया गया है।[२२] ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित दिशाओं से इनमें पर्याप्त भेद है। यजुर्वेद के अनुसार शासन-पद्धतियाँ और दिशाएँ ये हैं :-

१. प्राची (पूर्व) दिशा - शासक राजा या राज्ञी
२. दक्षिण दिशा - शासक विराट्
३. प्रतीची (पश्चिम) दिशा - शासक सम्राट्
४. उदीची (उत्तर) दिशा - शासक स्वराट्
५. बृहती (ऊर्ध्व) दिशा - शासक अधिपति या अधिपत्नी

इससे ज्ञात होता है कि ये शासन - प्रणालियाँ विभिन्न दिशाओं और विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित थीं।

इन सभी शासन-प्रणालियों में मौलिक अन्तर क्या था, इसका विवरण उपलब्ध नहीं है। वैदिक साहित्य में जो संकेत प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर इनमें से कुछ प्रणालियों पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है :-

२. राज्य और राजा

राज्य शासन-प्रणाली का सभी वेदों में उल्लेख है। राज्य का उच्चतम शासक राजा होता था। ऋग्वेद,[२३] अथर्ववेद,[२४] तैत्तिरीय संहिता,[२५] ऐतरेय ब्राह्मण[२६] आदि में राज्य का

---

२२. राज्ञी असि, प्राची दिग् । विराडसि दक्षिणा दिग् । सम्राडसि प्रतीची दिग् । स्वराड् असि उदीची दिग् । अधिपत्नी असि बृहती दिग् । यजु० १५.१० से १४

२३. शं राज्यं रोदस्योः । ऋग्० ७.६.२

२४. त्वां विशो वृणतां राज्याय । अ० ३.४.२

२५. सोम्यं वै राज्यम् । स एवास्मै राज्यं प्रयच्छति । तैत्ति० सं० २.१.३.४

२६. देवाः .. अभ्यषिञ्चन् ... राज्याय । ऐत० ब्रा० ८.१४

स्पष्ट उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि राजा के लिए ही राजसूय यज्ञ है। राजसूय यज्ञ करने के बाद ही राजा राजत्व प्राप्त करता है।

राज्ञ एव राजसूयम् । राजा वै राजसूयेन इष्ट्वा भवति।[२७]

यदि राजा राजसूय यज्ञ नहीं करता है तो वह राजा पद का अधिकारी नहीं होता। राजसूय के पश्चात् ही राजा का राज्याभिषेक होता है।

पाणिनि ने राज्य की परिभाषा दी है कि जिस शासन-पद्धति में राजा सर्वोच्च अधिकारी हो, उसे राज्य कहते हैं।[२८] एक जनपद की भूमि के स्वामी को राजा या पार्थिव कहते हैं।[२९] पाणिनि ने राजा के लिए ईश्वर, भूपति, अधिपति शब्द दिए हैं। पतंजलिके अनुसार ऐश्वर्य-संपन्न स्वामी (सर्वोच्च अधिकारी) के लिए राजा शब्द है।[३०] एकराज शासन में सर्वोच्च व्यक्ति राजा होता था। उसकी सहायता के लिए मंत्रियों की परिषद् होती थी। शासन-तन्त्र के संचालन के लिए विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति होती थी।[३१]

३. साम्राज्य और सम्राट्

ऋग्वेद[३२], यजुर्वेद[३३], अथर्ववेद[३४], ऐतरेय ब्राह्मण[३५], शतपथ ब्राह्मण आदि में साम्राज्य का उल्लेख है। साथ ही साम्राज्य के लिए सम्राट् के अभिषेक का भी उल्लेख है। सम्राट् की पत्नी के लिए सम्राज्ञी शब्द है।[३६]

शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि :-

राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। सम्राड् वाजपेयेन।

---

२७. शत० ब्रा० ५.१.१.१२

२८. अकर्मधारये राज्यम् । अष्टा० ६.२. १३०

२९. तस्येश्वरः । अष्टा० ५.१. ४१ और ४२

३०. स्वामिन्नैश्वर्ये । अष्टा० ५.२.१२६

३१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, देखो पृ० ३८९ से ४००

३२. वरुणः ... साम्राज्याय सुक्रतुः । ऋग्० १.२५.१०

३३. साम्राज्याय सुक्रतुः । यजु० १०.२७

३४. साम्राज्यं सुषुवे वृषा । अ० १४.१.४३

३५. इन्द्रम् ... अभ्यषिञ्चन् ... साम्राज्याय । ऐत० ८.१

३६. सम्राज्ञी-एधि । अथर्व० १४.१. ४३ से ४४

अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम् ।[३७]

अर्थात् राजसूय यज्ञ करने से राजा के पद की प्राप्ति होती है, परन्तु वाजपेय यज्ञ करने से सम्राट् के पद की प्राप्ति होती है। राज्य छोटा होता है, साम्राज्य बड़ा होता है। अतः राजा से सम्राट् होना उच्च पद है।

ऋग्वेद में सम्राट् के गुणों के उग्रता, तेजस्विता और अजेयता का उल्लेख है। मित्र-वरुण को सम्राट् बताते हुए कहा गया है कि वे उग्र एवं तेजस्वी हैं तथा बलवान् हैं।[३८]

शतपथ ब्राह्मण के कथन से स्पष्ट है कि जो राजा विधिवत् वाजपेय यज्ञ संपन्न कर लेता था, वही सम्राट् होने का अधिकारी था। इससे पूर्व नहीं। शतपथ ब्राह्मण ने व्यवस्था दी है कि पहले राज्य, फिर साम्राज्य।[३९] अर्थात् पहले राजा बने, फिर सम्राट्। अतः आवश्यक था कि राजत्व का इच्छुक क्षत्रिय पहले राजसूय यज्ञ करके राजा बने और तदनतर वाजपेय यज्ञ करके सम्राट् बने।

शतपथ ब्राह्मण में यह भी स्पष्ट किया गया है कि सम्राट् सारे संसार का एकछत्र अधिपति होता था। वह सबको अपने अधिकार में कर लेता था। उसे कोई न हरा सकता था और न मार सकता था।[४०]

इससे ज्ञात होता है कि सम्राट् एक निर्भय एवं ओजस्वी शासक होता था। सम्राट् का एकछत्र साम्राज्य होता था। कोई उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता था। सम्राट् के अन्तर्गत अनेक राजा होते थे, जो अपने क्षेत्र का प्रशासन करते थे तथा सम्राट् के आदेशानुसार कार्य करते थे। इसी संप्रभुता के प्रदर्शनार्थ वाजपेय यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता था।

पाणिनि के अनुसार सम्राट् शब्द विशिष्ट राजपदवी का सूचक था।[४१] महाभारत में सम्राट् को 'कृत्स्नभाक्' कहा गया है। इसका अभिप्राय है कि साम्राज्य वह शासनप्रणाली

---

३७. शत० ब्रा० ५.१.१.१३

३८. सम्राजा उग्रा वृषभा० । ऋग्० ५.६३.३

३९. राज्यम् उ वा अग्रे, अथ साम्राज्यम् । तस्माद् वाजपेयेन इष्ट्वा न राजसूयेन यजेत, प्रत्यवरोहः सः, यथा सम्राट् सन् राजा स्यात् । शत० ९.३.४.८

४०. आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् इति । तदेनेनेदं सर्वम् आस्पृणोति, तस्य न हन्ताऽस्ति, न वधः, येनेदं सर्वम् आस्पृतम् । शत० ३.३.४.४

४१. मो राजि समः क्वौ । अष्टा० ८.३.२५

है जो अनेक राजाओं के स्वत्व या अधिकारों को छीनकर आत्मसात् कर लेती है और उनका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त कर देती है।[४२]

४. माहाराज्य और महाराज

ऐतरेय ब्राह्मण में माहाराज्य शासन प्रणाली का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में महाराज शब्द का भी उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि वृत्र के वध से पूर्व इन्द्र को इन्द्र कहा जाता था, परन्तु जब उसने वृत्र का वध कर दिया तो उसे महा+इन्द्र अर्थात् महेन्द्र कहा जाने लगा।[४३] इसी प्रसंग में 'महाराज' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि एक राजा जबतक अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वी का वध नहीं कर लेता, तब तक वह राजा ही है और जब वह उस शत्रु राजा का वध कर लेता है तो वह 'महाराज' पद का अधिकारी हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि राजा का ही उच्चतर रूप 'महाराज' है। यदि राजा कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर लेता था और अपनी तेजस्विता के आधार पर किसी प्रबल शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेता था तो उसे 'महाराज' की उपाधि से विभूषित किया जाता था। ऐसे राजा की शासन प्रणाली को 'माहाराज्य' नाम दिया गया है। सत्याषाढश्रौतसूत्र में भी 'महान् राजा' के अर्थ में 'महाराज' शब्द का प्रयोग मिलता है।[४४]

५. स्वाराज्य और स्वराट्

ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि पश्चिम दिशा के (सौराष्ट्र, सौवीर आदि) राज्यों में स्वाराज्य शासन-प्रणाली चलती थी और वहाँ के प्रशासक को 'स्वराट्' कहते थे।[४५] स्वराट् शब्द स्व+राज् शब्द से बना है और इसका अर्थ है जो स्वयं या स्वतन्त्ररूप से शासन करता है (Self-ruler)। प्रो० रैप्सन (Rapson) ने भी स्वराट् (स्वराज्) का अर्थ 'Self-ruling' स्वशासित किया है।[४६]

---

४२. सम्राज्शब्दो हि कृत्स्नभाक् । महा० सभा० १४.२
देखो, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३९०

४३. इन्द्रो वा एष पुरा वृत्रस्य वधाद्, अथ वृत्रं हत्वा यथा
महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत् । शत० १.६.४.२१

४४. सत्या. श्रौत० २७.५

४५. प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो .. स्वाराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते, स्वराड् इत्येनान् अभिषिक्तान् आचक्षते । ऐत० ८.१४

४६. Ancient India, 1914, Page 55

स्वाराज्य शब्द स्वराज्य+भावार्थक अण् (अ) प्रत्यय करके बनता है। अतः इसका अर्थ होता है – स्वराज्य वाला प्रशासन।

तैत्तिरीय ब्राह्मण ने स्वाराज्य की व्याख्या की है कि जो विद्वान् वाजपेय यज्ञ करता है, वह 'स्वाराज्य' प्राप्त करता है। स्वाराज्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह 'समानों में अग्रगण्य हो जाता है' 'उसे समानों में ज्येष्ठता' प्राप्त हो जाती है।'[४७] डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इस विषय में अपना मत प्रकट किया है कि समान अधिकार वाले व्यक्तियों में से गुणों (Merit) के आधार पर जिसका चुनाव (Election or Selection) किया जाता था, उसे राष्ट्राध्यक्ष (President) बनाया जाता था। देवों में इन्द्र ने अपने गुणों के आधार पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की थी, अतः सर्वप्रथम वह 'स्वराट्' बना तथा उसका स्वाराज्य के लिए अभिषेक हुआ।[४८]

यजुर्वेद का कथन है कि उत्तर दिशा अर्थात् उत्तर भारत में स्वाराज्य शासन-प्रणाली का प्रचालन था और प्रशासक को 'स्वराट्' कहते थे।[४९]

ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु (सूर्य) के तुल्य तेजस्वी एवं स्वतंत्र राजा को स्वराट् कहा गया है और उसकी शासन-प्रणाली को स्वाराज्य कहा गया है।[५०] ऐतरेय ब्राह्मण के इस कथन में दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं :- १. स्वराट् अत्यन्त तेजस्वी और निर्भीक हो। २. 'द्वारं विवृणोति' अर्थात् द्वार या नया मार्ग खोलने वाला हो। इसका अभिप्राय यह है कि जो नई पद्धति या नई प्रणाली चालू करने की क्षमता रखता हो, वही स्वराट् पद का अधिकारी है। विष्णु ने देवों के लिए नया द्वार खोला। उनके लिए नई स्वतंत्र शासन-प्रणाली प्रवर्तित की, अतः उसे स्वाराज्य का अधिकारी बनाया गया। इसी स्वतंत्र एवं आत्मनिर्भर या स्वायत्त शासन-प्रणाली को स्वाराज्य कहते हैं और इसके प्रशासक को 'स्वराट्' कहते हैं।

स्वाराज्य यह स्वराज्य-प्रणाली है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल में १६ मंत्रों का एक पूरा सूक्त 'स्वराज्य-सूक्त' है।[५१] इसमें सभी १६ मंत्रों के अन्त में 'अर्चन् अनु स्वराज्यम्' कहकर स्वराज्य की महिमा का वर्णन है। इस सूक्त में स्वराज्य के लिए कुछ बातों की ओर विशेष

---

४७. य एवं विद्वान् वाजपेयेन यजति, गच्छति स्वाराज्यम् ।
अग्रं समानानां पर्येति । तिष्ठन्तेऽस्मै ज्येष्ठ्याय । तै० ब्रा० १.३.२.२

४८. Hindu Polity. PP. 80-81

४९. स्वराड् असि, उदीची दिक्, मरुतस्ते देवा अधिपतयः । यजु० १५.१३

५०. विष्णुर्वै देवानां द्वारपः । स एवास्मा एतद् द्वारं विवृणोति ।
तद् आधिपत्यम् । तत् स्वाराज्यम् । ऐत० १.३०

५१. ऋग्० १.८०. १ से १६

ध्यान आकृष्ट किया गया है :- १. पृथिवी से सारे पापियों और शत्रुओं (वृत्र) को नष्ट करे।[५२] २. छली, कपटी और मायावी लोगों को छल-कपट से मारने में भी संकोच न करे।[५३] ३. राजा इतना प्रतापी हो कि उसके क्रोध से सारी द्यावापृथिवी भयभीत हो उठे।[५४]

ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में स्वराज्य की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है कि 'यतेमहि स्वराज्ये' अर्थात् हम स्वराज्य - प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहें।[५५] अर्थात् जब तक स्वतन्त्रता प्राप्त न हो जाए, तबतक शान्ति से न बैठें। इस मंत्र में स्वराज्य के लिए दो महत्त्वपूर्ण विशेषण दिए गए हैं :- १. 'व्यचिष्ठे' अर्थात् व्यापक। स्वराज्य का जितना अधिक विस्तार किया जा सकता हो, उतना विस्तार किया जाय। २. 'बहुपाय्ये' बहुतों के द्वारा रक्षणीय। इसका अभिप्राय यह है कि स्वराज्य की रक्षा का उत्तरदायित्व किसी व्यक्तिविशेष पर न होकर सारी प्रजा पर होता है। सभी के प्रयत्न से स्वराज्य स्थिर होता है। यजुर्वेद में भी राज्याभिषेक के समय राजा से कहा गया है कि वह 'स्वराज स्थ' अर्थात् स्वराट् या स्वतंत्र राजा होकर रहे।[५६]

६. भौज्य और भोज

ऐतरेय ब्राह्मण में भौज्य शासन-प्रणाली का उल्लेख है। इसके प्रशासक को 'भोज' कहते थे। इस प्रसंग में ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि भौज्य शासन-प्रणाली दक्षिण दिशा में सत्वत् अर्थात् यादव राजाओं में प्रचलित थी।[५७]

महाभारत शान्तिपर्व में भी भोज राजाओं का उल्लेख है और उन्हें राजा, विराट् और सम्राट् से पृथक् माना है।[५८]

ऋग्वेद में इन्द्र को भोज उपाधि से अलंकृत किया गया है। मंत्र का कथन है कि हे इन्द्र, तुम दानी हो, अतः तुम्हें 'भोज' कहते हैं।[५९] ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त में दानी के रूप में 'भोज' की अनेक मंत्रों में प्रशंसा की गई है। भोज न मरते हैं और न कभी असफल

---

५२. निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ । ऋग्० १. ८०.४

५३. यद् ह त्यं मायिनं मृगं, तमु त्वं माययाऽवधीः । ऋग्० १.८०.७

५४. इमे चित् तव मन्यवे, वेपेते भियसा मही । ऋग्० १.८०.११

५५. व्यचिष्ठे बहुपाय्ये, यतेमहि स्वराज्ये । ऋग्० ५.६६.६

५६. स्वराज स्थ । यजु० १०.४

५७. दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भौज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते ।
'भोज' इत्येनान् अभिषिक्तान् आचक्षते । ऐत० ८.१४

५८. राजा भोजो विराट् सम्राट् , क्षत्रियो भूपतिर्नृपः । महा० शान्ति० ६८.५४

५९. किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः । ऋग्० १०.४२.३

रहते हैं।[६०] भोज युद्धों में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं।[६१] इस सूक्त में दानी के लिए 'भोज' शब्द है। इससे संकेत मिलता है कि जो राजा बहुत दानी और उदार होते थे, उन्हें 'भोज' उपाधि दी जाती थी और उनकी शासन-प्रणाली को भौज्य कहा जाता था। संस्कृत विद्वानों के प्रसिद्ध आश्रयदाता राजा भोज और राजा हर्षवर्धन इसी कोटि के राजाओं में आते हैं।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने भौज्य राज्यशासन-प्रणाली के विषय में विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने बौद्ध धर्मग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय[६२] और अशोक के शिलालेख[६३] का संदर्भ देते हुए बताया है कि भोज राजा वंशक्रमानुगत नहीं होते थे। खारवेल के अभिलेख में भोज और राष्ट्रीक गणराज्यों का उल्लेख है और इनकी संप्रभुता का उल्लेख है। बाद के कुछ अभिलेखों में भोज और महाभोज का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि भोज राजाओं में भी कुछ उच्च और कुछ निम्नश्रेणी के होते थे। अन्धक और वृष्णि गणराज्य इसी श्रेणी में आते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सत्वत् अर्थात् यादवों में यह शासन-प्रणाली प्रचलित थी। काठियावाड़ (कच्छ की खाड़ी, गुजरात) में अन्धक-वृष्णि नामक यादव-गणराज्यों का अस्तित्व था और उनमें भौज्य शासन-प्रणाली का प्रचलन था।[६४]

ऐसा प्रतीत होता है कि इस शासन-प्रणाली में जन-हित और लोक-कल्याण की भावना अधिक रहती थी, अतः यह पद्धति अधिक लोक-प्रिय हुई।

७. वैराज्य और विराट्

ऐतरेय ब्राह्मण में वैराज्य शासन-प्रणाली का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि उत्तरदिशा में हिमालय के क्षेत्र में जो उत्तरकुरु और उत्तर मद्र आदि राज्य हैं, उनमें वैराज्य शासन प्रचलित है और वहाँ के राजा को विराट् कहते हैं।[६५]

विराट् (विराज्) शब्द के दो अर्थ हैं :- १. वि+राज् , विशेष ऐश्वर्य से संपन्न, सार्वभौमशक्तिसंपन्न, परमपुरुष या परम ब्रह्म। २. वि+राज् , राजा से रहित, बिना राजा वाला

---

६०. न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुः । ऋग्० १०.१०७.८

६१. भोजः शत्रून् समनीकेषु जेता । ऋग्० १०.१०७.११

६२. अंगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृष्ठ ७६

६३. अशोक शिलालेख नं० ५ और १३

६४. Hindu Polity, 1943, PP. 80-81

६५. उदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते । विराड् इत्येनान् अभिषिक्तान् आचक्षते । ऐत० ब्रा० ८.१४

राज्य (Kingless)। ऋग्वेद में इन दोनों अर्थों में विराट् शब्द का प्रयोग है। परमपुरुष या ब्रह्म के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है।[६६] अथर्ववेद में भी परमपुरुष के लिए विराट् का प्रयोग हुआ है।[६७] शासन-प्रणाली के रूप में ऋग्वेद और अथर्ववेद में विराट् का प्रयोग हुआ है। विराट् और सम्राट् दोनों दोनों शासन-पद्धतियों का ऋग्वेद में उल्लेख है।[६८] अथर्ववेद में वैराज और विराट् दोनों का उल्लेख है।[६९] इसमें विराज् , स्वराज् और सम्राज् तीनों प्रकार की शासन-प्रणालियों को नमस्कार किया गया है।[७०] यजुर्वेद में विराट् शासन-प्रणाली का प्रचलन दक्षिण में बताया गया है।[७१] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इस पद्धति का प्रचलन उत्तर भारत के हिमालय वाले क्षेत्रों में बताया गया है। इससे ज्ञात होता है कि यह प्रणाली भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित थी।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इसको गणतंत्र-शासन-प्रणाली (A democratic Constitution) और बिना राजा की शासन-प्रणाली (The King-less Constitution) नाम दिया है। पाणिनि ने भी मद्र गणराज्य का उल्लेख किया है। चतुर्थ शताब्दी ईसवीय तक मद्र गणराज्य की सत्ता थी। बौद्ध धर्मग्रन्थ 'मिलिन्द पन्हो' में उत्तर कुरु और मद्र राज्य के महान् वैभव का अति रोचक ढंग से वर्णन किया गया है।[७२]

विराट् - शासन प्रणाली जनतंत्रात्मक या संघशासन - प्रणाली है। इसमें राजा नहीं होता, अतः प्रशासन का उत्तरदायित्व किसी एक पर न होकर समूह पर होता है। सामूहिक उत्तरदायित्व में प्रत्येक व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व नहीं समझता, अतः अनुशासन और प्रशासन ढीला होता है। इसीलिए अथर्ववेद में विराट् (राजा-विहीन) प्रशासन की निन्दा करते हुए कहा गया है कि इसमें जनता भयभीत रहती है। अतः सभा-समिति आदि संगठनों की आवश्यकता पड़ी।[७३]

कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में वैराज्य-शासनप्रणाली (Democracy) की आलोचना

---

६६. तस्माद् विराडजायत, विराजो अधि पूरुषः । ऋग्० १०.९०.५

६७. प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् । अ० ८.५.१०

६८. विराट् सम्राड् । ऋग्० १.१८८.५
सोमो विराजमनु राजति । ऋग्० ९.९६.१८

६९ वैरूपाय च वै वैराजाय च । अ० १५.२.१९
तं वैरूपं च वैराजं च । अ० १५.२.१८

७०. विराजे नमः, स्वराजे नमः, सम्राजे नमः । अ० १७.१.२२ और २३

७१. विराडसि दक्षिणा दिक् । यजु० १५.११

७२. विस्तृत विवरण के लिए देखो । Hindu Polity, PP. 81-84

७३. विराड् वा इदमग्र आसीत् , तस्या जातायाः सर्वम् अबिभेत् । अ० ८.१०.१

करते हुए कहा है कि वैराज्य शासन-प्रणाली में कोई भी राज्यसंपत्ति को अपना नहीं समझता। अतः राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से यह प्रणाली हेय है। कोई भी राज्य की संपत्ति को बेच सकता है और कोई अपना उत्तरदायित्व नहीं समझता। अपने आपको असुरक्षित समझकर लोग देश छोड़कर चले जाते हैं।[७४]

जीवनोपयोगिता की दृष्टि से राजा-हीन शासन-प्रणाली देश के लिए उपयुक्त नहीं मानी गई है।

८. आधिपत्य और अधिपति

ऐतरेय ब्राह्मण में माहाराज्य आदि शासन-प्रणालियों के साथ आधिपत्य शासन- प्रणाली का भी उल्लेख है। इसके प्रशासक को अधिपति कहते थे।[७५] ऐतरेय ब्राह्मण में इसकी विशेषता बताई गई है कि इसमें अधिपति का पड़ौसी जनपदों पर भी इस प्रकार का अधिकार होता था कि वे अधिपति को कर देना स्वीकार करते थे। आधिपत्य-प्रणाली को 'समन्तपर्यायी' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि वह समन्त अर्थात् पड़ौसी जनपदों पर भी अपना स्वामित्व रखता था। 'विशाम् अत्ता' का अर्थ है कि समीपस्थ जनपदों की जनता उसे कर देना स्वीकार करती थी। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने अधिपत्य का अर्थ (over-Lordship) और (Suzerainty) किया है।[७६] महाभारत आदिपर्व में भी आधिपत्य प्रणाली में समीपस्थ जनपदों पर स्वामित्व की पुष्टि की गई है।[७७]

ऋग्वेद और अथर्ववेद में आधिपत्य और अधिपति शब्दों का अनेक बार उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद का कथन है कि - हे राजन् , तुम हमारे राष्ट्र के 'आधिपत्य' को स्वीकार करो।[७८]

---

७४. वैराज्यं तु जीवतः परस्याच्छिद्य 'नैतन्मम' इति मन्यमानः
कर्शयति, अपवाहयति, पण्यं वा करोति, विरक्तं वा परित्यज्य अपगच्छति । अर्थ० पृ० ६८९

७५. (क) माहाराज्याय, आधिपत्याय, स्वावेश्याय० । ऐत० ब्रा० ८.१८
(ख) आधिपत्यम् अहं समन्तपर्यायी स्याम् , सार्वभौमः सार्वायुष
आन्ताद् आपरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्तायै एकराड् इति । ऐत० ८.१५
(ग) विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि । विशाम् अत्ताऽजनि । ऐत० ८.१२

७६. Hindu Polity, PP. 359 - 360

७७. महाभारत, आदिपर्व १०३.१; १०५.११ से १५ और २१ ।
विशेष विवरण के लिए देखें - पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३९०

७८. राजन् ... मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि । ऋग्० १०.१२४.५

अथर्ववेद में दो बार आधिपत्य का उल्लेख है।[७९] अधिपति और अधिपत्नी दोनों का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[८०] छान्दोग्य उपनिषद् में भी आधिपत्य शासन-प्रणाली की प्रशंसा करते हुए इसे श्रेष्ठ प्रणाली बताया गया है और इसके प्रशासक को श्रेष्ठ अधिपति राजा कहा है।[८१]

इससे ज्ञात होता है कि आधिपत्य शासन-प्रणाली और अधिपति को बहुत संमानजनक माना जाता था।

९. सार्वभौम और एकराट्

ऐतरेय ब्राह्मण में सार्वभौम शासन-प्रणाली का उल्लेख है। इसके प्रशासक को एकराट् नाम दिया गया है।[८२] डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इस प्रणाली को Pan - Country - Sovereignty (सार्वभौम प्रभुत्व) नाम दिया है।[८३] ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि सार्वभौम सत्ता में इस छोर से उस छोर तक अर्थात् पूर्व से पश्चिम तक तथा उत्तर से दक्षिण में समुद्र पर्यन्त क्षेत्र आता था। सर्वभूमि शब्द समस्त देश के लिए प्रयुक्त होता था। उसके अधिपति को सार्वभौम कहते थे।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का कथन है कि सार्वभौम राजा सारी पृथिवी की विजय के बाद अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकारी होता था।[८४] महाभारत के आदिपर्व में भरत को सार्वभौम राजा कहा गया है।[८५]

पार्थिव और सार्वभौम में अन्तर यह है कि एक जनपद की भूमि को पृथिवी या भूमि कहते हैं और उसके प्रशासक को पार्थिव या भूपति कहते हैं। इसके विपरीत विस्तृत भू-प्रदेश या समस्त देश के लिए सर्वभूमि शब्द है। इसके अधिपति को सार्वभौम कहते थे।

---

७९. आधिपत्यं जगाम । अ० १८.४.५४
आधिपत्यम् । अ० १९.५६.३

८०. अधिपतिः । अथर्व० ५.२४. १ से १४
अधिपतयः । अथर्व० ५.२४.६
अधिपत्नी । अथर्व० ५.२४.३

८१. स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाऽधिपतिः । स मा ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यं राज्यम् आधिपत्यं गमयतु । छान्दो० ५२.६

८२. सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्तायै एकराट् । ऐत० ८.१५

८३. Hindu Polity, PP. 359 - 360

८४. आप० श्रौत० ३०.१.१

८५. महा० आदि० ६९. ४५-४७

जो राजा अनेक जनपदों तक अपने राज्य का विस्तार करता था, वह साम्राज्य पदवी का अधिकारी होता था और जो सर्वभूमि के अधिकतम क्षेत्र का अधिपत्य प्राप्त करता था, वह सार्वभौम कहलाता था।[८६] पाणिनि ने भी 'सार्वभौम' सत्ता का उल्लेख किया है।[८७]

सार्वभौम राजा को एकराट् कहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ने सार्वभौम को 'सार्वायुषः' और 'एकराट्' कहा है।[८८] इसका अभिप्राय यह है कि यह आजीवन सत्ता का उपभोग करता था। एकराट् का अभिप्राय है 'एकतन्त्र राजा' या 'एकच्छत्र राजा'। ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी 'एकराट्' या सार्वभौम राजा का उल्लेख है। ऋग्वेद में इन्द्र के लिए कहा है कि हे इन्द्र! तुम इस सारे संसार के 'एकराट्' राजा हो।[८९] अथर्ववेद में स्पष्ट रूप में एकछत्र राजा के लिए एकराट् शब्द आया है। कहा गया है कि – हे राजन्, तुम प्रजा के स्वामी एकराट् होकर राष्ट्र में विराजमान हो।[९०]

१०. पारमेष्ठ्य और परमेष्ठी (परमेष्ठिन्)

ऐतरेय ब्राह्मण में पारमेष्ठ्य शासन-प्रणाली का उल्लेख है। इसके प्रशासक को परमेष्ठी (परमेष्ठिन्) कहते थे।[९१] इसमें 'राजानं राजपितरम्' का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि यह शासन-पद्धति वंश-परम्परागत होती थी। राजा के बाद राजकुमारों में से जो योग्यतम होता था, वह प्रशासक नियुक्त होता था।

यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता आदि में परमेष्ठी का उल्लेख है और उसे अधिपति कहा गया है।[९२] इन स्थलों पर परमेष्ठी शब्द प्रजापति के लिए आया है। यजुर्वेद में प्रजापति को परमेष्ठी अधिपति कहा गया है और इसकी विशेषता बताई है - 'भूतानि अशाम्यन्' प्राणियों या प्रजा में शान्ति-व्यवस्था हुई।[९३] इसका अभिप्राय है कि पारमेष्ठ्य शासन-प्रणाली की मुख्य विशेषता है – प्रजा में शान्ति-व्यवस्था की स्थापना। महाभारत सभापर्व में पारमेष्ठ्य शासन

---

८६. देखो, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३८९

८७. तस्येश्वरः । सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ । अष्टा० ५.१. ४१ और ४२

८८. ऐत० ब्रा० ८.१५

८९. एकराड् अस्य भुवनस्य राजसि शचीपते । ऋग्० ८.३७.३

९०. आ त्वा गन् राष्ट्रं ... विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज । अ० ३.४.१

९१. राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यम् । ऐत० ८.१२

९२. परमेष्ठी प्रजापतिः । अ० ९.३.११ । तै० सं० ४.३.१०.३
प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् । अ० ४.११.७

९३. भूतान्यशाम्यन् , प्रजापतिः परमेष्ठी-अधिपतिरासीत् । यजु० १४.३१

की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि इसमें राज्य में शम या शान्ति की स्थापना को ही सर्वोच्च प्राथमिकता होती है। सैनिक पराक्रम से पारमेष्ठ्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है।[९४]

महाभारत के शान्तिपर्व और सभापर्व में गणतंत्र-शासन या संघशासन का विस्तार से वर्णन हुआ है।[९५] पारमेष्ठ्य-शासन गणतंत्र-शासन है। यह साम्राज्य-प्रणाली से सर्वथा विपरीत है। गणतंत्र-पद्धति में विभिन्न गण-राजकुल संम्मिलित होते थे और इनका संघ होता था। महाभारत शान्तिपर्व में संघशासन की बहुत प्रशंसा की गई है और कहा है कि सामूहिक शान्ति के कारण इनकी बहुत शीघ्र उन्नति होती है।[९६] गणप्रमुख ही नीति-निर्धारण करते हैं।[९७] पारमेष्ठ्य शासन में प्रत्येक गण का सामान अधिकार होता था।[९८] ये गण अपना मुखिया (गणमुख्य) चुनते थे। ये गणमुख्य नीति-निर्धारण करते थे और शासन का संचालन करते थे। इन गणमुख्यों का राजा के तुल्य संमान किया जाता था।[९९]

महाभारत सभापर्व में पारमेष्ठ्य शासन की प्रशंशा की गई है और उसे साम्राज्य पद्धति से उत्कृष्ट बताया गया है। दोनों की तुलना करते हुए पारमेष्ठ्य पद्धति की ये विशेषताएँ बताई हैं :-[१००]

(१) साम्राज्य पद्धति में सारे अधिकारों का केन्द्रीकरण होता है। सम्राट् सारे अधिकार अपने हाथ में रखता है (सम्राट् शब्दो हि कृत्स्नभाक्)। गणतंत्र में विकेन्द्रीकरण होता है। शासनाधिकार अनेक गणमुख्यों के हाथ में होता है।

(२) पारमेष्ठ्य शासन में सब लोग दूसरे के गौरव को स्वीकार करते हैं और परस्पर मेलजोल से रहते हैं। (परानुभावज्ञः, परेण समवेतः)। साम्राज्य में ऐसा नहीं होता है।

(३) गणराज्य में दूर-दूर तक ऐश्वर्य, रत्न और सुख-समृद्धि फैली होती है। साम्राज्य में सारी समृद्धि सम्राट् के राजकुल या राजधानी तक सीमित रहती है।[१०१]

---

९४. शममेव परं मन्ये ।
आरम्भे पारमेष्ठ्यं तु, न प्राप्यमिति मे मतिः । महा० सभा० १४. २ से ६

९५. महा० शान्तिपर्व १०७. १० से ३२ । सभापर्व १४. २ से ६

९६. अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते, संघात-बल-पौरुषैः । महा० शान्ति० १०७.१५

९७. गणमुख्यैस्तु संभूय, कार्यं गणहितं मिथः ।। शान्ति० १०७.२५

९८. जात्या च सदृशाः सर्वे, कुलेन सदृशास्तथा ।। शान्ति० १०७.३०

९९. तस्मान्मानयितव्यास्ते, गणमुख्याः प्रधानतः ।
लोकयात्रा समायत्ता, भूयसी तेषु पार्थिव ।। शान्ति० १०७.२३

१००. महा० सभा० १४. २ से ६

१०१. विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता ।
दूरं गत्वा विजानाति, श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह ।। सभा० १४. २ से ६

(४) पारमेष्ठ्य का आदर्श होता है - शम या शान्ति का प्रशासन (Law & Order) साम्राज्य का मूल बल है, बलात् अधिकार प्राप्त करना।[१०२]

(५) पारमेष्ठ्य पद्धति में सभी को समान अधिकार होता है। योग्यता और गुणों के आधार पर गणमुख्य होता है। अतः श्रेष्ठता या प्रमुखता किसी एक तक सीमित नहीं होती।[१०३] कोई भी योग्यता और गुणों के आधार पर गणनायक, गणमुख्य या गणपति हो सकता है।[१०४]

११. स्वावश्य

ऐतरेय ब्राह्मण में स्वावश्य शासन-प्रणाली का उल्लेख है।[१०५] स्ववश्य से स्वावश्य शब्द बना है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इसका अनुवाद Autocracy अर्थात् निरंकुश राज्य-शासन किया है।[१०६] इसमें एक राजा को सर्वाधिकार प्राप्त होते थे। उसे उचित और अनुचित सब कुछ करने का अधिकार होता था, अतः वह स्वेच्छाचारी हो जाता था। इसलिए इस पद्धति को सभी ने अग्राह्य माना है। महाभारत में भी इस पद्धति को मान्यता नहीं दी गई है।

१२. आतिष्ठ

ऐतरेय ब्राह्मण में स्वावश्य के साथ ही इस पद्धति का भी उल्लेख है।[१०७] अति+स्था से आतिष्ठ बना है। इसका विवरण अप्राप्य है। संभवतः यह आक्रामक शासन-प्रणाली थी। इसमें निर्बल राष्ट्रों पर आक्रमण करके अधिकार जमाना होता था। इस प्रणाली को भी अग्राह्य माना गया है, अतः महाभारत आदि में इसका उल्लेख नहीं है।

राज्यशासन की अन्य प्रणालियाँ

१३. जनराज्य या जानराज्य

यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि में जनराज्य का उल्लेख है।[१०८] यजुर्वेद

---

१०२. शममेव परं मन्ये । बलादेव साम्राज्यम् । सभा० १४. २ से ६

१०३. कश्चित् कदाचिद् एतेषां, भवेत् श्रेष्ठो जनार्दन । सभा० १४. ६

१०४. विशेष विवरण के लिए देखो, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४३६ से ४३८

१०५. स्वावश्याय, आतिष्ठाय, आरोहेति । ऐत० ब्रा० ८.१७

१०६. Hindu Polity. P. 359

१०७. आतिष्ठाय, आरोहेति । ऐत० ब्रा० ८.१७

१०८. महते जानराज्याय । यजु० ९.४० । तैत्ति० सं० १.८.१२

आदि में इसे जानराज्य कहा गया है। राजसूय यज्ञ के समय राजा का अभिषेक करते हुए कहा गया है कि 'महते जानराज्याय' अर्थात् महान् जनराज्य के लिए तुम्हारा अभिषेक किया जा रहा है। शतपथ ब्राह्मण ने इसकी व्याख्या में कहा है कि 'महते जनानां राज्याय'[१०९]। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने 'जानराज्याय' का अनुवाद किया है- 'for national rule'. 'for the ruling of the folk' अर्थात् 'जनता या राष्ट्रीय प्रशासन के लिए।'[११०] यजुर्वेद के इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि प्राचीन परम्परा के अनुसार राजा का अभिषेक 'जनतन्त्रात्मक प्रशासन' के लिए ही होता था।

यजुर्वेद में जनराज्य का महत्त्व वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसमें राज्य के शत्रु नहीं रहने पाते। इसमें जनता में आत्मगौरव रहता है, अतः महान् क्षात्र शक्ति का विकास होता है। इसमें जनता ज्येष्ठता और श्रेष्ठता की अनुभूति करती है। इसके लिए कहा गया है कि – 'महते क्षत्राय, महते ज्यैष्ठ्याय' और 'इन्द्रस्य इन्द्रियाय' अर्थात् इससे जनता में दिव्य शक्ति का संचार होता है।[१११]

इस पद्धति में जनता अपना गौरव समझती थी। जनता को अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती थीं। जनता के हितों का विशेष ध्यान रखा जाता था। इसमें जनता का शोषण नहीं होता था। इसमें जनता के प्रतिनिधि राज्य-शासन करते थे और राजा प्रजा के द्वारा निर्वाचित होता था।[११२]

ऋग्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा और सम्राट् आदि जनतंत्र या प्रजातन्त्र की विधि को पसन्द नहीं करते थे। वे वंशगत राजपरंपरा के पक्षपाती थे। अतः राजाओं और जनराज्यों में प्रायः युद्ध होता रहता था। दोनों वेदों में वर्णन है कि राजा सुश्रवा (सुश्रवस्) का २० जनराज्यों के प्रशासकों के साथ युद्ध हुआ था। इन्द्र ने सुश्रवा का पक्ष लिया और इन २० जनराज्यों के राजाओं को नष्ट किया था। इस युद्ध में जनराज्यों के ६० हजार ९९ सैनिक मारे गए थे।[११३] ऋग्वेद में राजा सुदास के साथ १० जनराजाओं के युद्ध का वर्णन है। इस महायुद्ध को 'दाशराज्ञ युद्ध' कहा जाता है। इस युद्ध में इन्द्र ने राजा सुदास का

---

१०९. महते जानराज्यायेति, महते जनानां राज्याय । शत० ५.३.३.१२

११०. Hindu Polity. P. 207

१११. इमं देवा असपत्नं सुवध्वम्, महते क्षत्राय, महते ज्यैष्ठ्याय,
महते जानराज्याय, इन्द्रस्येन्द्रियाय । यजु० ९.४० । १०.१८

११२. त्वां विशो वृणतां राज्याय । अथर्व० ३.४.२

११३. त्वमेतान् जनराज्ञो द्विर्दशा, ऽबन्धुना सुश्रवसोपऋमुषः ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो, नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ।।
ऋग्० १.५३.९ । अथर्व० २०.२१.९

पक्ष लिया था और उसे विजय दिलाई थी। इस युद्ध में जनराज्यों के मृत सैनिकों की संख्या ६६ हजार दी गई है।[११४] ऋग्वेद के कुछ अन्य सूक्तों में भी दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन है।[११५] जनराजाओं के ६६ हजार से अधिक सैनिकों का मारा जाना सिद्ध करता है कि इस महायुद्ध में लाखों सैनिकों ने भाग लिया होगा। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय जनराज्य-प्रणाली का भी विशेष प्रचलन था। यह भी ज्ञात होता है कि जनतंत्रीय राजाओं के पास उच्च कोटि के शस्त्रास्त्र नहीं थे, अतः वे प्रयत्न करने पर भी सुश्रवा और सुदास को पराजित न कर सके तथा उनके अधिकांश सैनिक मारे गए।

१४. अधिराज्य

अधिराज्य शासन-प्रणाली का ऋग्वेद और अथर्ववेद में उल्लेख है। ऋग्वेद में इसका एक बार उल्लेख है और अथर्ववेद में ५ बार।[११६] ऋग्वेद और अथर्ववेद में इस अधिराज्य शासन-प्रणाली के प्रशासक को अधिराज नाम दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अधिराज उपाधि सम्राट् या महाराज के समकक्ष थी। उसे राजाधिराज भी कहते होंगे। ऋग्वेद और अथर्ववेद में अधिराज के लिए दो विशेषण दिए गए हैं – (१) उग्रम् - यह राजा की तेजस्विता, प्रचण्डता और अधृष्यता को सूचित करता है। प्रतापी राजा उग्र और आक्रामक भी होगा। अतः वह दूसरों के राज्यों को अपने अधीन बनाता होगा और उनसे कर लेता होगा। (२) चेत्तारम्–चेत्ता का अर्थ है - निरीक्षक, सावधानी से देखने वाला। यह विशेषण बताता है कि अधिराज के प्रशासन में कठोर अनुशासन होगा। कठोर नियन्त्रण के कारण उसका सर्वत्र वर्चस्व रहता होगा।[११७] अथर्ववेद में अधिराज के लिए कहा गया है कि वह सदा विजयी होता है। वह पराजय का नाम नहीं जानता। वह राजाओं के ऊपर राज्य करता है।[११८]

इससे ज्ञात होता है कि अधिराज माण्डलिक राजाओं के ऊपर राज्य करता था। अधिराज का कठोर अनुशासन और उसकी आक्रमकता निरंकुशता का रूप लेती होगी, अतः यह

---

११४. षष्टिः शता सुषुपुः षट् सहस्रा ।
षष्टिर्वीरासो अधि षट् दुवोयु । ऋग्० ७.१८.१४

११५. ऋग्वेद ७.१८ । ७.३३. ३ और ५ । ७.८३.१ से १० ।

११६. ऋग्वेद १०.१२८.९ । अथर्व० ५.३.१० । ६.९८. १ और २ ।
९.१०.२४ । १९.४६.४

११७. उग्रं चेत्तारम् अधिराजम् अक्रन् । ऋग्० १०.१२८.९ । अ० ५.३.१०

११८. इन्द्रो जयाति न परा जयाता,
अधिराजो राजसु राजयातै । अ० ६.९८.१

पद्धति अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। परकालीन साहित्य में अधिराज-प्रणाली का उल्लेख नहीं मिलता है।

१५. विप्रराज्य

ऋग्वेद और अथर्ववेद में विप्रराज्य का वर्णन है।[११९] इसके विषय में दोनों वेदों में वर्णन है कि ऋषि या विद्वान् इसकी शक्ति को बढ़ाते हैं। यह समुद्र के तुल्य सर्वत्र फैला हुआ है। इसका महत्त्व वास्तविक है। इस विप्रराज्य में यज्ञ और धार्मिक क्रियाकलाप पर विशेष बल दिया जाता है। (शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये)

विप्रराज्य में विद्वान् और ब्राह्मण ही राज्य-संचालन करते थे। प्रशासन में भी विप्रवर्ग को ही प्रमुखता दी जाती थी। यज्ञ और धार्मिक अनुष्ठानों पर विशेष बल दिया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक क्रिया-कलाप के नाम पर ढोंग और पाखण्ड का भी जोर होने लगा होगा और भौतिक विकास कम होने के कारण यह पद्धति अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। बाद में साहित्य में इस प्रणाली का नाम ही समाप्त हो गया।

१६. समर्यराज्य

ऋग्वेद में समर्यराज्य का उल्लेख है।[१२०] समर्य का अर्थ है - सम् - श्रेष्ठ या संपन्न, अर्य - वैश्य। समृद्ध या संपन्न वैश्यों का राज्य। इस राज्य को 'महे' महान् कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि वैश्य राज्य में व्यापार और वाणिज्य की उन्नति के कारण भौतिक विकास अधिक हुआ होगा, अतः इसे महान् कहा गया है। मंत्र में कहा गया है कि लोग सोमपान से आह्लादित रहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि धन-धान्य की समृद्धि के कारण खान-पान और भौतिक सुविधाएँ अधिक उपलब्ध होती होंगी। अतः जन-साधारण आनन्दित रहा होगा। मंत्र में यह भी कहा गया है कि अपनी शक्ति और सेना (वाजान् अभि) को बढ़ाकर शत्रुसेना पर विजयार्थ प्रस्थान करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस वैश्यराज्य में सैन्यशक्ति की उत्कृष्टता पर भी बल दिया जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि समर्यराज्य में प्रजा का शोषण आदि भी अवश्य होता होगा, अतएव बाद के साहित्य में इस पद्धति का उल्लेख नहीं मिलता है।

---

११९. अयं सहस्रम् ऋषिभिः सहस्कृतः, समुद्र इव पप्रथे ।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे, शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ।। ऋग्० ८.३.४ । अ० २०.१०४.२

१२०. अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि, महे समर्यराज्ये ।
वाजान् अभि पवमान प्र गाहसे ।। ऋग्० ९.११०.२

अध्याय ११

राज्य के प्रमुख संचालक (राजकृत्)

१. राज्य के लिए सहायकों की आवश्यकता

२. राज्य के प्रमुख संचालक

३. राजा और राजकृत् (रत्निन्)

४. राजानो राजकृतः (रत्निनः)

(१) राजन्य

(२) महिषी

५. अराजानो राजकृतः (रत्निनः)

(१) ब्रह्मन् या पुरोहित

(२) सेनानी

(३) ग्रामणी

(४) सूत

(५) क्षत्ता (क्षत्तृ)

(६) संग्रहीता (संग्रहीतृ)

(७) भागदुघ

(८) अक्षावाप

(९) गोविकर्त

(१०) पालागल

६. राज्य के अन्य कार्यवाहक

७. रत्नी और प्रजा का प्रतिनिधित्व

८. मन्त्रिपरिषद् के सदस्य

अध्याय ११

राज्य के प्रमुख संचालक (राजकृत्)

१. राज्य के लिए सहायकों की आवश्यकता

राज्य का प्रशासन एक महान् और दुष्कर कार्य है। इस बृहत् कार्य को अकेला राजा ही नहीं कर सकता है, अतः उसे अपने सहायकों की आवश्यकता होती है। कार्यों की विविधता के कारण विभिन्न गुणों वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। इसके लिए ज्ञान-विज्ञान-संपन्न व्यक्ति, शूर-वीर योद्धा, साहसी व्यापारी और विविध कलाओं में निष्णात शिल्पी जनों की आवश्यकता पड़ती है। सबके पूर्ण सहयोग से राज्य-प्रशासन चलता है।

राज्य-संचालन हेतु सहायकों की आवश्यकता पर विभिन्न नीतिकारों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। मनु का कथन है कि एक साधारण कार्य भी एक व्यक्ति के लिए कठिन हो जाता है तो राज्य-संचालन जैसा महान् कार्य अकेले राजा के द्वारा कैसे संभाला जा सकता है।[१] अतएव राजा सुयोग्य एवं सुपरीक्षित सात या आठ मन्त्रियों को नियुक्त करे।[२] महान् राजनीतिज्ञ आचार्य कौटिल्य ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए राज्य की उपमा एक गाड़ी से दी है और कहा है कि राज्यरूपी शकट (गाड़ी) के दो पहिये होते हैं। एक राजा और दूसरे उसके सहयोगी। दो पहियों से ही गाड़ी चलती है, अतः राजा को चाहिए कि वह सुयोग्य अमात्यों की नियुक्ति करे और उनसे परामर्श करे।[३]

नीतिशास्त्र के धुरंधर विद्वान् भीष्म पितामह ने महाभारत शान्तिपर्व में कहा है कि जिसके पास सहायक नहीं हैं, जिसमें महान् शक्ति नहीं है और जिसमें आत्मिक बल नहीं है, वह कोई महान् भार नहीं उठा सकता है। अतः सहायकों की सहायता से राज्य के गुरुतर भार को उठावो।[४] राज्य-संचालन के लिए बहुश्रुत सुयोग्य मन्त्रियों, शूरवीरों, सभी कार्यों को करने में दक्ष उत्साही व्यक्तियों को अपना सहायक बनावो।[५]

---

१. अपि यत् सुकरं कर्म, तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन, किं नु राज्यं महोदयम् ।। मनु० ७.५५

२. सचिवान् सप्त चाष्टौ वा, प्रकुर्वीत परीक्षितान् ।। मनु० ७. ५४

३. सहायसाध्यं राजत्वं, चक्रमेकं न वर्तते ।
कुर्वीत सचिवान् तस्मात् , तेषां च शृणुयान्मतम् ।। अर्थशास्त्र, पृ० २४

४. नामहापुरुषः कश्चिद् , नानात्मा नासहायवान् ।
महतीं धुरमादत्ते, तामुद्यम्योरसा वह ।। महा० शान्ति० ८१.२३

५. अमात्यान् चातिशूरांश्च, ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान् ।
एतान् सहायान् लिप्सेथाः, सर्वास्वापत्सु भारत ।। महा० शान्ति० ८३.३,४

शुक्राचार्य ने भी शुक्रनीति में इसीप्रकार का भाव व्यक्त करते हुए कहा है कि छोटे से छोटे काम के लिए भी सहायक की आवश्यकता होती है, फिर राज्यकार्य जैसे महान् कार्य को बिना सहायकों के राजा कैसे चला सकता है?[६] साथ ही यह भी निर्देश दिया है कि राजा भले ही कितना सुयोग्य और विद्वान् हो, पर वह मन्त्रियों की राय लिए बिना कोई निर्णय न करे।[७]

२. राज्य के प्रमुख संचालक

वेदों में राज्य के प्रमुख संचालकों या कार्यकर्ताओं के विषय में सामग्री बहुत कम मिलती है। अतः विभिन्न अधिकारियों के पदों, कर्तव्यों एवं अधिकारों, कार्यप्रणाली और कार्यक्षेत्र आदि के विषय में विस्तृत प्रकाश डालना संभव नहीं है। वेदों में जो स्फुट सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर इनके विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही जा सकती हैं।

वेदों में राजपरिवार से संबद्ध व्यक्तियों के नाम बहुत अधिक मिलते हैं। यथा - राजन्, राज्ञी, सम्राज्ञी, महिषी, परिवृक्ति, वावाता, राजन्य आदि। इसी प्रकार ब्रह्मन्, पुरोहित, सेनानी, सेनापति, अर्य (वैश्य), समर्य (समृद्ध-व्यापारी), शूद्र आदि नाम भी बहुत से मंत्रों में हैं।

परन्तु परकालीन साहित्य में अत्यन्त प्रचलित अमात्य, सचिव, मन्त्रिन् (मंत्री) आदि शब्द वेदों में दुर्लभ हैं। केवल ऋग्वेद में अमात्य शब्द का एक प्रयोग मिलता है।[८] वह भी मित्र या साथी के अर्थ में। मन्त्र का अर्थ है वह अग्नि मेरे मित्ररूप धन की रक्षा करे। अन्य वेदों में अमात्य शब्द नहीं है। इसी प्रकार चारों वेदों में सचिव शब्द का प्रयोग नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण में मित्र या साथी के अर्थ में 'सचिव' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। मरुत् देवों को इन्द्र का सचिव (मित्र या साथी), कहा गया है[९]। 'मन्त्रिन्' शब्द का प्रयोग चारों वेदों में नहीं है। मंत्र शब्द का अनेक बार प्रयोग मिलता है। अधिकांश स्थलों पर वेदों के मंत्र के लिए है। कुछ स्थानों पर मन्त्रणा अर्थ में भी है। जैसे - ज्येष्ठश्च मन्त्रः (उत्कृष्ट मंत्रणा)[१०],

---

६. यद्यप्यल्पतरं कर्म, तदप्येकेन दुष्करम् ।
पुरुषेणासहायेन, किमु राज्यं महोदयम् ।। शुक्र० २.१

७. सर्वविद्यासु कुशलो, नृपो ह्यपि सुमन्त्रवित् ।
मन्त्रिभिस्तु विना मन्त्रं, नैकोऽर्थं चिन्तयेत् क्वचित् ।। शुक्र० २.२

८. स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु विश्वतः । ऋग्० ७.१५.३

९. मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्तु । इमे वै किल मे सचिवाः ।
इमे माऽकामयन्त । ऐत० ब्रा० ३.२०.१

१०. ऋग्० १०.५०.४

मन्त्रो गुरुः (गंभीर मंत्रणा)[११], समानो मन्त्रः (समान विचार या एक प्रकार की मंत्रणा)[१२]। इसी प्रकार मंत्रणा करने अर्थ में मन्त्र् धातु के अनेक प्रयोग हैं। यथा - मन्त्रये, मन्त्रयेते, मन्त्रयन्ते, मन्त्रयामहे।[१३]

इससे ज्ञात होता है कि वेदों में मन्त्रि-मंडल के स्वरूप का वर्णन नहीं है।

३. राजा और राजकृत् (रत्निन्)

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में राजकीय अधिकारी या राजा के सहायक के रूप में ११ राजकृत् या रत्नियों का वर्णन मिलता है। ये राजकृत् (king-maker) राजा के निर्वाचन में भाग लेते थे। इन ११ राजकृतों को रत्निन् अर्थात् रत्नधारी कहा गया है। इनकी संख्या और क्रम के विषय में कुछ परिवर्तन मिलते हैं।

अथर्ववेद में केवल ५ राजकृत् कहे गए हैं :- १. रथकार (बढ़ई), २. कर्मार (शिल्पी या लोहार), ३. सूत (सारथि), ४. ग्रामणी (ग्रामप्रधान या नगर - प्रमुख), ५. राजानः (राजा के सगे-संबधी लोग)[१४]। राजकृत् का यह भी अभिप्राय है कि समाज में इनकी प्रतिष्ठा थी और इन्हें आदर का स्थान प्राप्त था।

तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन रत्नियों की सूची इस प्रकार है :- ब्रह्मन् (पुरोहित, ब्राह्मण), राजन्य, महिषी (राजा की प्रथम विवाहिता पत्नी), वावाता (राजा की प्रिय पत्नी), परिवृक्ती (परिव्यक्ता पत्नी), सेनानी (सेनापति), सूत (सारथि या कोषाध्यक्ष), भागदुघ (कर-संग्रह-कर्ता अधिकारी), अक्षावाप (अक्ष का अधिकारी, आय-व्यय का प्रमुख अधिकारी।[१५]

शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि राजसूय यज्ञ के अवसर रत्न-हविष् नामक विशेष यज्ञ होता था। इसमें राज्य के प्रमुख ११ रत्नों को हवि दी जाती थी। इन राजकर्ताओं को 'रत्न' कहते थे। 'अस्य एकं रत्नं यत् सेनानीः'। इसीप्रकार इन सभी राजकर्ताओं को रत्न कहा

---

११. ऋग्० १.१४७.४

१२. ऋग्० १०.१९१.३

१३. ऋग्० १०.१९१.३ । अथर्व० ४.१६.२ । ऋग्० १.१६४.१० । अथर्व० ९.९.१० । अथर्व० ९.८. १ से ९ ।

१४. ये धीवानो रथकाराः, कर्मारा ये मनीषिणः । अ० ३.५.६
ये राजानो राजकृतः, सूता ग्रामण्यश्च ये । अ० ३.५.७

१५. तैत्तिरीय सं० १.८.९.१, तैत्तिरीय ब्रा० १.७.३१

गया है। इनको राजकीय संमान के रूप में रत्न दिया जाता था, अतः इन्हें 'रत्निन्' (रत्नधारी) कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण ने इनकी संख्या ११ बताते हुए 'एकादश रत्नानि' कहा है।[१६] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ११ रत्नी ये हैं :-

सेनानी, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता, संग्रहीता, भागदुघ, अक्षावाप, गोविकर्त, पालागल।

मैत्रायणी संहिता में रत्नियों के नाम ये दिए हैं :- ब्रह्मन्, राजन्, महिषी, परिवृक्ती, सेनानी, संगहीतृ, क्षंत्तृ, सूत, वैश्य-ग्रामणी, भागदुघ, तक्षा, रथकार, अक्षावाप, गोविकर्त।[१७] मैत्रायणी संहिता का कथन है कि रत्नी राष्ट्र के अंग हैं। जिस राष्ट्र में ये ओजस्वी होंगे, वह राष्ट्र भी ओजस्वी होगा।[१८]

काठक संहिता में गोविकर्त के स्थान पर 'गोव्यच्छ' नाम दिया है। साथ ही तक्षा और रथकार का नाम नहीं दिया है।[१९]

पंचविंश ब्राह्मण में यह संख्या कम कर दी गई है और केवल ८ का नाम है :- भ्रातृ, पुत्र, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षतृ, संग्रहीतृ।[२०]

उपर्युक्त सूची पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इस सूची में दो प्रकार के व्यक्ति हैं :- १. राज-परिवार से संबद्ध, २. राज-परिवार से असंबद्ध। शतपथ ब्राह्मण में इनको दो भागों में बांटा गया है :- १. राजानो राजकृतः, २. अराजानो राजकृतः।[२१] अर्थात् राजपरिवार से संबद्ध राजकृत् और राजपरिवार से असंबद्ध राजकृत् । प्रथम श्रेणी में ये राजकर्ता आते हैं :- राजन्य, महिषी, वावाता, परिवृक्ती, भावी राजा का भाई, भावी राजा का पुत्र और राजानः, क्षत्रिय। इसमें राजन्य शब्द उस व्यक्ति के लिए है, जिसका राज्याभिषेक होने जा रहा है। महिषी राजा की पटरानी के लिए है। वावाता राजा की प्रिय पत्नी के लिए है। परिवृक्ती राजा की परित्यक्ता पत्नी के लिए है। अपुत्रा पत्नी को परिवृक्ती कहते हैं। यह शब्द अनेक रूपों में मिलता है - परिवृत्ती, परिवृक्ता, परिवृक्तिः अर्थात् परित्यक्त। राजा के भाई, पुत्र आदि को रत्नी बनाकर हवि देने का अभिप्राय यह है कि ये सदा अनुकूल रहें। अतएव शतपथ

---

१६. शत० ब्रा० ५.३.१.१ से १३

१७. मैत्रायणी सं० २.६.५ । ४.३.८

१८. अथैते रत्निनः । क्षत्रस्य वा एतान्यङ्गानि । यस्य वा एतानि ओजस्वीनि भवन्ति, तद् राष्ट्रम् ओजस्वी भवति । मैत्रा० सं० ४.३.८

१९. काठक सं० १५.४

२०. पंचविंश ब्रा० १९.१.४

२१. यथा राज्ञोऽराजानो राजकृतः सूतग्रामण्यः । शत० ब्रा० ३.४.१.७

ब्राह्मण का कथन है कि रत्नियों को हवि देने का अभिप्राय यह है कि उनकी स्वीकृति से वह राजा बना है और वे इसके मित्र या सहायक रहेंगे। उसके विरुद्ध नहीं जाएंगे।[२२] अथर्ववेद का कथन है कि सजात (सगे-संबन्धी) या पराया, जो भी षड्यन्त्र करता है और प्रयत्न करता है कि राजा को गद्दी से हटाया जाय, उससे सावधान रहे। अतः इन्हें सपत्न, शत्रु, अमित्र आदि नाम दिए गए हैं।[२३]

४. राजानो राजकृतः

राजपरिवार से संबद्ध रत्नियों में विशेष उल्लेखनीय राजन्य और महिषी शब्द हैं। शेष अपने पद के कारण राजा के निर्वाचन में भाग लेते थे।

(१) **राजन्य** - वेदों में राजन्य शब्द सामान्यतया क्षत्रिय के लिए आया है।[२४] शतपथ ब्राह्मण में भी योद्धा क्षत्रिय के लिए राजन्य शब्द आया है। राजपुत्र और राजन्य में भेद किया गया है। कहा गया है कि अश्वमेधीय अश्व के साथ १०० कवचधारी राजपुत्र और १०० धनुर्धर राजन्य रहें।[२५] शतपथ में ही आगे कहा है कि निर्वाचित राजा का ही अभिषेक होता है, राजन्यों का नहीं।[२६] इससे ज्ञात होता है कि राजन्य शब्द से केवल राजपुत्र या राजकुमार का ही ग्रहण नहीं होता था, अपितु उच्च कुलीन सामन्तों आदि के लिए भी राजन्य शब्द का प्रयोग होता था। अतः वे राजा के निर्वाचन में भाग लेने के कारण राजकृत् होते थे। अभिषेक केवल राजा का ही होता था। तैत्तिरीय संहिता से भी ज्ञात होता है कि उच्च कुलीन क्षत्रियों के लिए राजन्य शब्द का प्रयोग होता था। तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि ये तीन ही वैभव की पराकाष्ठा को प्राप्त होते हैं - विद्वान् ब्राह्मण, ग्रामणी वैश्य और राजन्य। यहाँ पर वैभव की पराकाष्ठा के लिए 'गतश्री' शब्द का प्रयोग हुआ है।[२७]

(२) **महिषी** - राजा की प्रथम पत्नी को महिषी या महारानी कहा जाता था। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि प्रथम विवाहिता पत्नी को महिषी कहते हैं।[२८] प्रधान पत्नी के होने

---

२२. रत्निनां हविर्भिर्यजते । एतेषां वै राजा भवति । तान् स्वान् अनपक्रमिणं कुरुते । शत० ब्रा० ५.३.१.१२

२३. यो नः स्वो यो अरणः, सजात उत वा निष्ट्यः । अ० १.१९.३
यः सपत्नो योऽसपत्नः, यश्च द्विषन् शपाति नः । अ० १.१९.४

२४. बाहू राजन्यः कृतः । ऋग्० १०.९०.१२ । यजु० ३१.११

२५. राजपुत्राः कवचिनः शतं, राजन्या निषङ्गिणः शतम् । शत० १३.४.२.५

२६. राजानो भविष्यन्ति - अभिषेचनीयाः । राजन्या विशोऽनभिषेचनीयाः । शत० १३.४.२.१७

२७. त्रयो वै गतश्रियः शुश्रुवान् गामणी राजन्यः । तैत्ति० सं० २.५.४.४

२८. यैव प्रथमा वित्ता (भार्या) सा महिषी । शत० ६.५.३.१

के कारण उसे राजा के निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त था। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि पत्नी पति की अर्धांगिनी होती है। अतएव राज्याभिषेक के समय राजा महिषी को राज-सिंहासन पर बैठने के लिए आमन्त्रित करता है।[२९] इससे ज्ञात होता है कि राज्याभिषेक के समय राजा के साथ महिषी भी बैठती थी। महाभारत शान्तिपर्व में वर्णन है कि युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के समय द्रौपदी उसके साथ बैठी थी। पुरोहित ने दोनों को बैठा कर यज्ञ कराया।[३०] तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि पत्नी के बिना यज्ञ अपूर्ण है। अतः सपत्नीक ही यज्ञ किया जाता है।[३१]

५. अराजानो राजकृतः

राजपरिवार से असंबद्ध राजकृत् या रत्नियों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :-

(१) **ब्रह्मन् या पुरोहित** - उपर्युक्त रत्नियों की सूची में किसी में ब्रह्मन् शब्द है और किसी में पुरोहित। दोनों का अर्थ एक है। राजा के समस्त धार्मिक कृत्यों को संपादित करने वाले ब्राह्मण को ब्रह्मन् या पुरोहित कहा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि राजा के यहाँ पौरोहित्य करने वाले को ब्रह्मन् या ब्रह्मा कहते हैं।[३२] यह राजगुरु होता था। यह राजा को आवश्यक परामर्श देता था। उसके साथ युद्ध में भी जाता था और उसकी विजय के लिए प्रार्थना करता था। पुरोहित राजा का सबसे अधिक प्रिय और शुभचिन्तक माना जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि पुरोहित राजा की आधी आत्मा है अर्थात् अर्धांग है।[३३] इससे राजा के लिए पुरोहित की आवश्यकता का अनुमान लगाया जा सकता है। आचार्य यास्क ने निरुक्त में पुरोहित शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए कहा है कि - 'पुर एनं दधति। होत्राय वृतः' अर्थात् प्रत्येक कार्य में इसको आगे रखते हैं। यह धार्मिक कृत्यों का संपादन करता है।[३४]

ऐतरेय ब्राह्मण में पुरोहित के कार्य और योग्यता आदि के विषय में बहुत उत्तम प्रकाश

---

२९. अर्धो ह वा एष आत्मनो यत् जाया । शत० ५.२.१.१०

३०. उपवेश्य महात्मानं, कृष्णां च द्रुपदात्मजाम् ।
जुहाव पावकं धीमान्, विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।। महा० शान्ति० ४०.१४

३१. अयज्ञो वा एषः । योऽपत्नीकः । तैत्ति० ब्रा० २.२.२.६

३२. पुरोहितायतनं वा एतत् क्षत्रियस्य यद् ब्रह्मा । ऐत० ब्रा० ७.२६

३३. अर्धात्मो ह वा एष क्षत्रियस्य यत् पुरोहितः । ऐत० ब्रा० ७.२६

३४. निरुक्त २.१२

डाला गया है। पुरोहित की योग्यता के विषय में कहा गया है कि जो तीन पुरोहितों और तीन पुरोधाताओं को पूर्ण रूप से जानता है, वही ब्राह्मण राजा का पुरोहित हो सकता है।[३५] इसकी व्याख्या करते हुए बताया गया है कि पृथिवी पुरोधाता (नियोजक) है और अग्नि पुरोहित है। अन्तरिक्ष पुरोधाता है और वायु पुरोहित है। द्युलोक पुरोधाता है और आदित्य (सूर्य) पुरोहित है।

इसका अभिप्राय यह है कि जो तीनों लोकों अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक की व्यवस्था को जानता है, वही राजा के राज्य की व्यवस्था का उत्तरदायित्व ले सकता है। अग्नि पृथ्वी की व्यवस्था करता है, वायु अन्तरिक्ष की और सूर्य द्युलोक की, अतः ये तीनों पुरोहित हैं। इसी प्रकार सारी राज्य-व्यवस्था को जानने वाला ही पुरोहित हो सकता है।

इसी प्रसंग में राजा के लिए पुरोहित की आवश्यकता का वर्णन करते हुए पुरोहित को 'राष्ट्रगोपः' (राष्ट्र का रक्षक) कहा गया है।[३६] साथ ही कहा गया है कि जिस राजा का ऐसा पुरोहित होता है, दूसरे राजा उसके मित्र बन जाते हैं और वह अपने शत्रुओं को जीत लेता है। वह अपनी क्षात्र शक्ति से क्षत्रियों को और अपनी सेना से शत्रुसेना को जीत लेता है। जिस राजा का ऐसा राष्ट्ररक्षक पुरोहित होता है, उसको सारी प्रजा एकमत होकर नमस्कार करती है।[३७]

इससे ब्राह्मण पुरोहित की आवश्यकता का ज्ञान होता है।

(२) **सेनानी** - सेनानायक को सेनानी कहते थे। यह सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। ऋग्वेद, यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता, काठकसंहिता, मैत्रायणी संहिता तथा शतपथ, ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में सेनानी का उल्लेख है।[३८] ऐतरेय ब्राह्मण में इस अधिकारी को सेनापति कहा गया है।[३९] ऋग्वेद में 'यः सेनानीः', 'यो वः सेनानीर्महतो गणस्य' आदि के द्वारा सेना के महान् नायक के लिए सेनानी शब्द का प्रयोग हुआ है।[४०]

राज्य में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था का उत्तरदायित्व सेनानी पर होता था। वह बाह्य और आन्तरिक भयों से राज्य की रक्षा करता था। वही बाह्य आक्रमणों आदि से प्रतिरोध

---

३५. यो ह वै त्रीन् पुरोहितान् त्रीन् पुरोधातॄन् वेद स ब्राह्मणः पुरोहितः। ऐत० ब्रा० ८.५.२७

३६. राष्ट्रगोपः पुरोहितः। ऐत० ब्रा० ८.५.२७

३७. ऐत० ब्रा० ८.५.२७

३८. ऋग्० ७.२०.५। ९.९६.१। यजु० १६.१७। काठक० १७.११। मैत्रायणी सं० २.९.४। शतपथ० ५.३.१.१

३९. पृथिव्यै राजाऽस्याः सेनापतिः। ऐत० ब्रा० ८.२३

४०. ऋग्० ७.२०.५। १०.३४.१२

करता था। शतपथ ब्राह्मण में रत्नियों में सेनानी को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। राजा सर्वप्रथम सेनानी के लिए आहुति देता है।[४१]

ऋग्वेद से राजा सोम को, एक सेनापति के रूप में वर्णन करते हुए, कहा गया है कि वह सेना के आगे आगे चलता है और उसकी सेना हर्षोल्लास के साथ उसके पीछे-पीछे चलती है।[४२] इसी प्रकार यजुर्वेद में रुद्र को सेनानी बताया गया है और उसकी तेजोमय भुजाओं को नमस्कार किया गया है।[४३] यजुर्वेद के एक अन्य प्रसंग में सूर्य देवता का राजा के रूप में वर्णन है और सेनानी एवं ग्रामणी को उसके रथके अग्रभाग में आसीन वर्णन किया गया है।[४४]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि सेनानी राज्य का सर्वोच्च सेनाधिकारी होता था और राज्य के उच्च अधिकारियों में प्रमुख था। वर्तमान सेनाध्यक्ष के पद के तुल्य ही यह पद रहा होगा।

(३) **ग्रामणी** - ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि में ग्रामणी का उल्लेख है।[४५] ग्रामणी राज्य के उच्च अधिकारियों में था। इसका सेनानी या सेनापति के तुल्य प्रमुख स्थान था। यजुर्वेद के १५ वें अध्याय में ५ मंत्रों में ग्रामणी को सेनानी के साथ रखा गया है (सेनानीग्रामण्यौ)[४६]। दोनों को समान प्रतिष्ठा से संमानित किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि ग्रामणी का पद अत्यन्त प्रतिष्ठित पद था। प्रो० त्सिमर (Zimmer) ने अपना मन्तव्य दिया है कि ग्रामणी का कार्य सेना से संबद्ध था।[४७] यह मत मान्य हो तो भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि ग्रामणी का संबन्ध ग्राम-प्रमुख होने के कारण ग्राम और नगरी की समस्त गतिविधि से तथा सैन्य संबन्धी मामलों से अवश्य था। ग्राम की सुरक्षा का उत्तरदायित्व उस पर होता था, अतः वह ग्रामीण सेना का प्रमुख भी होता था।

---

४१. सेनाया वै सेनानीरनीकम् । एकं रत्नं यत् सेनानीः । शत० ब्रा० ५.३.१.१

४२. प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां
गव्यन् एति हर्षते अस्य सेना ।। ऋग्० ९.९६.१

४३. नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये । यजु० १६.१७

४४. अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिः ।
तस्य ... सेनानीग्रामण्यौ । यजु० १५.१५

४५. ऋग्० १०.१०७.५ । यजु० १५.१५ । ३०.२० । अथर्व० ३.५.७ । तैत्ति० सं० २.५.४.४ । मैत्रा० १.६.५ । शत० ३.४.१.७. । तैत्ति० ब्रा० १.१.४.८ ।

४६. सेनानीग्रामण्यौ । यजु० १५.१५ से १९ ।

४७. सूर्यकान्त, वैदिक कोश, पृ० १४०

ग्रामणी राजा के रत्नियों में से एक है। यह राजा के निर्वाचन में भाग लेने का अधिकारी था। अथर्ववेद में पर्णमणि को संबोधित करते हुए कहा गया है कि - हे पर्णमणि! तू ग्रामणी को मेरा सहायक बना।[४८] इससे ज्ञात होता है कि ग्रामणी भी राज्य के उच्च अधिकारियों में था।

ग्रामणी राजा द्वारा मनोनीत होता था या वह जनता द्वारा चुना जाता था, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। संभव है दोनों प्रक्रिया चलती हों, कुछ ग्रामणी राजा द्वारा मनोनीत हों और कुछ जनता द्वारा चुने जाते हों। इतना अवश्य है कि ग्रामणी पद बहुत उच्च पद था।

ऋग्वेद में वर्णन है कि दानदाता अत्यन्त यशस्वी होता है। सभी समारोहों में उसे सर्वप्रथम आमन्त्रित किया जाता है। वही ग्रामणी पद पर अधिष्ठित होता है। वह जननायक के रूप में राजपद का अधिकारी होता है।[४९] इससे ज्ञात होता है कि ग्रामणी का पद अत्यन्त संमानित पद था और उसे राजा के समकक्ष माना जाता था।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि 'वैश्यो वै ग्रामणीः' अर्थात् ग्रामणी पद पर साधारणतया वैश्य की नियुक्ति होती थी।[५०] इससे यह भी ज्ञात होता है कि राजा के निर्वाचन में ग्रामणी वैश्य-समुदाय का प्रतिनिधित्व करता था। इससे यह भी संकेत मिलता है कि ग्राम और नगर की अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण ग्रामणी करता था, अतः उसे इतना संमाननीय माना गया है।

यजुर्वेद में ग्रामणी के लिए 'महसे' (गौरव के लिए) शब्द का प्रयोग किया गया है।[५१] इससे ज्ञात होता है कि ग्रामणी को गौरव का स्थान प्राप्त था।

मैत्रायणी संहिता में एक शब्द 'ग्रामणीथ्य' (ग्रामणी पद पर अधिष्ठित होना) आया है। इसका महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि ग्रामणी पद पर अधिष्ठित होने से वैश्य उच्च संमान का पात्र हो जाता है।[५२]

तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि संसार में ये तीन ही हैं, जिन्हें सबसे अधिक गौरव

---

४८. ये राजानो राजकृतः, सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं, सर्वान् कृण्वभितो जनान् । अथर्व० ३.५.७

४९. दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति, दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति ।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानाम् , यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय ।। ऋग्० १०.१०७.५

५०. शतपथ ब्रा० ५.३.१.६

५१. ग्रामण्यं गणकम् .. तान् महसे । यजु० ३०.२०

५२. ग्रामणीथ्येन खलु वै वैश्यो भद्रो भवति । मैत्रा० सं० १.६.५

या उच्चसमृद्धि प्राप्त होती है। ये हैं :- शुश्रुवान् (श्रुतियों का ज्ञाता, वेदज्ञ), ग्रामणी और राजा[५३]। इससे ग्रामणी का गौरव स्पष्ट होता है।

वाल्मीकीय रामायण में ग्रामणी को प्रतिष्ठित पदाधिकारी माना गया है।[५४] महाभारत में ग्रामणी को केवल ग्रामप्रधान या ग्रामाध्यक्ष नहीं, अपितु जननेता या जननायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ग्रामणी के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह देश, काल और अवसर का ज्ञाता होता है। बुद्धिमान्, पराक्रमी और दृढनिश्चय वाला होता है। सर्वसंमति से उसे ग्रामणी पद पर चुना जाता है।[५५] उसमें ब्राह्मण की विद्वत्ता, क्षत्रिय की शूरवीरता और वैश्य की व्युत्पन्नमति और शूद्र की कर्मठता सभी गुण होते हैं ।

बृहदारण्यक उपनिषद् से ज्ञात होता है कि सूत और ग्रामणी अति कठोर दण्डाधिकारी होते थे। ये राजा द्वारा नियुक्त होते थे। इनका कार्य था – पापियों को अतिकठोर दंड देना। इनके लिए 'प्रत्येनसः' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ है - 'पापिनं पापिनं प्रति शासनार्थं नियुक्ताः क्रूरकर्माणः' अर्थात् प्रत्येक पापी को दंड देने के लिए शासन द्वारा नियुक्त क्रूर दंडाधिकारी।[५६] बृहदारण्यक के इन दोनों प्रसंगो से ज्ञात होता है कि राजा के आगमन के समय स्वागतार्थ और प्रस्थान के समय विदाई देने के लिए सूत और ग्रामणी (सूतग्रामण्यौ) की उपस्थिति अनिवार्य होती थी। इस प्रकार ज्ञात होता है कि सूत और ग्रामणी प्रमुख दंडाधिकारी भी होते थे।

(४) **सूत** - यह राजा के रत्नियों में से एक है। इसके अर्थ के विषय में पर्याप्त मतभेद है। समान्यतया सूत का अर्थ सारथि है। परन्तु विविध संदर्भो से ज्ञात होता है कि यह चारण (बन्दी, राजद्वार का कवि, भाट, स्तुतिपाठक, court-minstrel), रिकार्ड कीपर (chronicler), राजा के अस्तबल का अधीक्षक, राजा का सदा सहकारी, एक दंडाधिकारी है।

अधिकांश स्थलों पर सूत का नाम ग्रामणी के साथ है और सूत को ग्रामणी से पहले रखा गया है। अथर्ववेद में राजकृत् (राजा के निर्वाचक) ५ अधिकारियों मे राजपरिवार के व्यक्तियों (राजानः) के बाद सूत का नाम दिया गया है और इसके बाद ग्रामणी का।[५७] इससे

---

५३. त्रयो वै गतश्रियः शुश्रुवान् ग्रामणी राजन्यः । तैत्ति० सं० २.५.४.४

५४. वा० रामायण, युद्ध काण्ड ११७.१६

५५. मुहूर्तदेशकालज्ञः, प्राज्ञः शूरो दृढव्रतः ।
ग्रामणीर्भव नो मुख्यः, सर्वेषामेव संमतः ।। महा० शान्ति० १३५.११

५६. उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यः । बृहदा० उप० ४.३.३७ और ३८

५७. ये राजानो राजकृतः, सूता ग्रामण्यश्च ये । अथर्व० ३.५.७

ज्ञात होता है कि सूत प्रमुख अधिकारियों में था। इस मंत्र में राजा सूत के सहयोग की प्रार्थना करता है।

यजुर्वेद में दो स्थलों पर सूत का उल्लेख है। रुद्राध्यायी में रुद्र को सूत के रूप में नमस्कार किया गया है और उसके लिए विशेषण दिया गया है :- 'अहन्त्यै' अर्थात् अवध्य।[५८] इससे ज्ञात होता है कि सूत वह अधिकारी था, जिसे सर्वत्र अवध्य घोषित किया जाता था। यजुर्वेद की अन्य संहिताओं अर्थात् तैत्तिरीय संहिता में सूत को अहन्त्य (अवध्य) और मैत्रायणी तथा काठक संहिताओं में उसे 'अहन्त्व' (अवध्य) कहा गया है।[५९] इससे संकेत मिलता है कि सूत दूत या बन्दी (भाट) था, अतः उसका वध निषिद्ध था। यजुर्वेद में एक अन्य प्रसंग में 'नृत्ताय सूतम् ' कहा गया है।[६०] इससे ज्ञात होता है कि सूत का कार्य नृत्त अर्थात् नाचना और गाना भी था।

महाभारत शान्तिपर्व में श्री भीष्म पितामह ने सूत को राजा की मंत्रिपरिषद् का एक सदस्य बताया है। इसका कार्य कहा गया है कि वह अत्यन्त व्युत्पन्न हो तथा पौराणिक अर्थात् ऐतिहासिक तथ्यों का ठीक ठीक लिखने वाला हो। इसके अन्य गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि - वह आठ गुणों से युक्त हो अर्थात् शुश्रूषा (सेवाभाव), श्रवण (बातों को ध्यान से सुनना), ग्रहण (यथार्थ को ठीक समझना),धारण(ठीक स्मरणशक्ति-युक्त), ऊहन और अपोहन (तर्क-वितर्कशक्ति-युक्त), विज्ञान (शिल्पकलावित्), तत्त्वज्ञान (यथार्थज्ञान), इन गुणों से युक्त हो। वह निर्भीक, दोषदृष्टि से रहित, श्रुतियों और स्मृतियों का ज्ञाता, विनीत, समदर्शी, विवाद निपटाने में समर्थ, निर्लोभी और सात बड़े दुर्गुणों (सुरापान, द्यूत, परस्त्रीप्रसंग आदि) से रहित हो। उसकी आयु ५० वर्ष के लगभग हो।[६१]

इससे ज्ञात होता है कि सूत का कार्य राजकीय घटनाओं का क्रमबद्ध संग्रह करना था। इस तथ्य की पुष्टि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी होती है। अर्थशास्त्र में पौराणिक, सूत और मागध (स्तुतिवाचक) को साथ रखा गया है। इनका वेतन भी समान अर्थात् १ हजार पण बताया है।[६२] मध्यकालीन भारतीय नरेशों के दरबार में राजा के प्रशस्तिकार होते थे,

---

५८. नमः सूतायाहन्त्यै । यजु० १६.१८

५९. नमः सूतायाहन्त्याय । तैत्ति० सं० ४.५.२.१
नमः सूतायाहन्त्वाय । मैत्रा० सं० २.९.३ । काठक सं० १७.१२

६०. नृत्ताय सूतम् । यजु० ३०.६

६१. अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं, सूतं पौराणिकं तथा ।
पंचाशद्वर्षवयसं, प्रगल्भमनसूयकम् ।।
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं, विनीतं समदर्शिनम् । महा० शान्ति० ८५. ९ से ११

६२. पौराणिक - सूत-मागधाः पुरोहितपुरुषाः सर्वाध्यक्षाश्च साहस्राः ।
कौटि० अर्थ० पृ० ५१३

जिन्हें भाट कहते थे। दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज का राजकवि चन्द्र बरदाई भाट था। उसने पृथ्वीराज के जीवनवृत्त के रूप में 'पृथ्वीराजरासो' ग्रन्थ लिखा है। ये भाट अपने राजा की प्रशस्ति में काव्यरचना करते थे और उसे अवसरोचित हाव-भाव के साथ राजद्वार में प्रस्तुत करते थे।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल का कथन है कि संभवतः इसीप्रकार के सूत (बन्दी, भाट) प्रत्येक प्रान्त की राजधानी में होते थे।[६३] बृहदारण्यक उपनिषद् के कथन से भी इसकी पुष्टि होती है कि 'सूत और ग्रामणी' राजकीय अधिकारी के रूप में राजा के साथ रहते थे।[६४] ह्वेन त्सांग (Hiuen Tsang) ने भी उल्लेख किया है कि राजा हर्षवर्धन के राज्य में ऐसे इतिहास-लेखक राजकर्मचारी होते थे, जिनका कार्य था – तत्कालीन प्रमुख घटनाओं का संग्रह करना। खारवेल आदि के अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि प्रतिवर्ष की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का क्रमबद्ध संग्रह राजकीय रिकार्ड में रखा जाता था।[६५]

सूत का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि में प्राप्त होता है।[६६] भाष्यकारों ने इसे सारथि या अश्वशाला का अधीक्षक माना है। प्रो० रोठ, प्रो० ह्विटनी और प्रो०ब्लूमफील्ड ने इस मत को स्वीकार किया है।[६७] प्रो० ईग्लिंग (J. Eggeling) ने कहा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में सूत का अर्थ राजदरबार का कवि या चारण लेना उचित है, क्योंकि सूत के साथ 'संग्रहीता' का भी उल्लेख मिलता है।[६८] प्रो० वेबर ने सूत का 'दीक्षित, संस्कार किया हुआ' अर्थ लिया है और कहा है कि वह राजा का सतत सहकारी अधिकारी है।[६९]

इन प्रसंगों से ज्ञात होता है कि सूत राजा के मंत्रिपरिषद् का एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी होता था। वह सदा राजा के साथ रहता हुए राजकवि, इतिहास-लेखक, तत्कालीन घटना-चक्र का संग्रहकर्ता तथा स्तुतिपाठक होता था। उसे कुछ विशिष्ट अधिकार प्राप्त होते थे, जिसके कारण वह अपराधियों को दंड भी देता था।

---

६३. डा० काशीप्रसाद जायसवाल, Hindu Polity, पृ० २०२

६४. उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यः । बृहदा० उप० ४.३.३७

६५. डा. के.पी. जायसवाल, Hindu Polity, पृ० २०२

६६. तैत्ति० सं० १.८.९.१ । मैत्रा० सं० २.६.५ । काठक सं० १५.४
शत० ब्रा० ५.३.१.५ । तैत्ति० ब्रा० १.७.३.१

६७. डा. सूर्यकान्त, वैदिक कोश, पृ० ५६४

६८. Sacred Books of the East, ४१.६२ पर टिप्पणी - १

६९. इन्दिशे स्तूदिएन १७.२००

(५) **क्षत्ता (क्षत्तृ) -** यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता, अथर्ववेद में क्षत्तृ (क्षत्ता) शब्द का प्रयोग हुआ है।[७०] तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में इसकी गणना राजकृत् (रत्नी, राजकर्ता) में की गई है।[७१] यजुर्वेद में क्षत्ता और अनुक्षत्ता दो शब्दों का प्रयोग हुआ है।[७२] इसमें क्षत्ता के लिए 'विविक्ति' शब्द आया है, जिसका अर्थ है - विवेकपूर्वक कार्य करने वाला, ज्ञानी। अनुक्षत्ता को औपद्रष्टा कहा गया है, जिसका अर्थ है - राजधन-प्रत्यवेक्षिता अर्थात् राजकीय कोष को संभालने वाला या कोषागार का अध्यक्ष। इससे ज्ञात होता है कि क्षत्ता प्रमुख कोषाध्यक्ष होता था और अनुक्षत्ता सहायक कोषाधिकारी। शतपथ ब्राह्मण की टीका में हरिस्वामी ने क्षत्ता का अर्थ कोषाध्यक्ष किया है।[७३] सायण ने भी शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या में इसे 'आयव्ययाध्यक्ष' कहा है।[७४] यहाँ उल्लेखनीय है कि क्षत्ता के साथ संग्रहीता का भी उल्लेख है, जो कि स्वयं कोषागार से संबद्ध अधिकारी है। इस संदर्भ में 'क्षात्र' शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ है - क्षत्ता लोगों का समूह। यह अश्वमेध का प्रसंग है। इसमें कहा गया है कि अश्वमेध के अश्व के साथ कोषागार से संबद्ध व्यक्ति भी जाते थे।

सायण ने शतपथ ब्राह्मण की टीका में एक स्थान पर क्षत्ता का अर्थ 'अन्तःपुराध्यक्ष' किया है।[७५] यह राजमहल के समारोहों तथा राजपरिवार की घरेलू व्यवस्था का अधीक्षक होता था। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इसे (chamberlain) कहा है।[७६] यह राजमहल के समारोहों तथा राजपरिवार की घरेलू व्यवस्था का प्रमुख अधिकारी होता था।

कात्यायन श्रौतसूत्र के भाष्यकार ने इसे 'मंत्री दूतो वा' अर्थात् मन्त्री या दूत कहा है।[७७] महीधर ने इसका अर्थ द्वारपाल किया है।[७८] राजकृत् में इसकी गणना से ज्ञात होता है कि यह राजकीय कोष से संबद्ध उच्च अधिकारी है।

(६) **संग्रहीता -** राजकृत् या रत्नियों में संग्रहीता (संग्रहीतृ) अधिकारी का नाम तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्राप्त होता

---

७०. यजु० ३०.१३ । अथर्व० ३.२४.७

७१. तैत्ति० सं० १.८.९.१ । तैत्ति० ब्रा० १.७.३.१ । शत० ५.३.१.१ से १३ ।

७२. विविक्त्यै क्षत्तारम् , औपद्रष्ट्रयाय अनुक्षत्तारम् । यजु० ३०.१३

७३. क्षत्ता पालागलीम् अभिमेथति । शत० १३.५.४.६

७४. शतं क्षात्रसंग्रहीतृणां पुत्राः । शत० १३.४.२.५

७५. शत० ब्रा० ५.३.१.७ की टीका ।

७६. Hindu Polity, पृ० २०२

७७. कात्यायन श्रौत० १५.३.९

७८. यजु० ३०.१३

है।[७९] तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में सायण ने इसका अर्थ 'कोषाध्यक्ष' किया है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल इसे कोषाध्यक्ष (The master of the treasury) कहते हैं।[८०] कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसे 'संनिधाता' (संनिधातृ) कहा गया है।[८१] 'कोष-संग्रह से संबद्ध अधिकारी' शीर्षक में इसका अन्य विवरण दिया गया है।

(७) **भागदुघ** - यह राजकृत् अधिकारियों में एक था। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण में भागदुघ की गणना रत्नियों में है।[८२] सायण ने तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण के उक्त संदर्भो में इसे 'कर वसूल करने वाला' अधिकारी माना है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इसे 'राजस्व एकत्र करने वाला अधिकारी (The Collector of revenue) माना है।[८३] उनका मत है कि अर्थशास्त्र में इसको ही 'समाहर्ता' (समाहर्तृ) कहा गया है।[८४] 'कोश-संग्रह से संबद्ध अधिकारी' शीर्षक में इसका अन्य विवरण दिया गया है।

(८) **अक्षावाप** - राजकृत् या रत्नियों में अक्षावाप नामक अधिकारी का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता और शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है।[८५] सायण ने शतपथ ब्राह्मण के उक्त संदर्भ में अक्षावाप का अर्थ अक्ष फेंकने वाला या अक्ष की रक्षा करने वाला द्यूतकार माना है। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार यह द्यूताध्यक्ष, द्यूतपति या अक्षगोप्ता का वाचक है।[८६]

कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद में द्यूत का निन्दा की गई है, अतः द्यूतकीडा पर नियन्त्रण रखने के लिए एक राजकीय अधिकारी की नियुक्ति की आवश्यकता पड़ी होगी।[८७] उसे अक्षावाप नाम दिया गया।

---

७९. तैत्ति० सं० १.८.९.२ । काठक सं० १५.४ । मैत्रायणी सं० २.६.५ । शत० ब्रा० ५.३.१.८ । ५.४.३. २३ । तैत्ति० ब्रा० १.७.३.५

८०. Hindu Polity, पृ० २०२

८१. कौटिल्य अर्थ० पृ० ११५

८२. तैत्ति० सं० १.८.९.२ । काठक सं० १५.४ । मैत्रा० सं० २.६.५ शत० ब्रा० ५.३.१.९ । तैत्ति० ब्रा० १.७.३.५

८३. Hindu Polity, पृ० २०२

८४. कौटिल्य अर्थ० पृ० २९७, ४६३, ५०३

८५. तैत्ति० सं० १.८.९.२ । काठक सं० १५.४ । मैत्रा० सं० २.६.५ । शत० ब्रा० ५.३.१.१० ।

८६. कात्या श्रौतसूत्र १५.३.१२

८७. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व । ऋग्० १०.३४.१३

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने उक्त मत से अपनी असहमति प्रकट की है और कहा है कि अक्षावाप से पूर्व रत्नियों में संग्रहीता और भागदुघ हैं, जो कि अर्थशास्त्र के संनिधाता (Treasury Officer) और समाहर्ता (Revenue-Officer) के पूर्वरूप हैं। इससे ज्ञात होता है कि अक्षावाप भी राजकीय आय से संबद्ध कोई अधिकारी है। डा० जायसवाल के अनुसार अक्षावाप The officer in charge of state accounts अर्थात् राजकीय आय से संबद्ध विभाग का सर्वोच्च अधिकारी है।[८८] अर्थशास्त्र में अक्षशाला, अक्षशालाध्यक्ष और अक्षपटल का उल्लेख है। अर्थशास्त्र का कथन है कि सोने, चाँदी आदि के सिक्कों की ढलाई के लिए सुवर्णाध्यक्ष 'अक्षशाला' का निर्माण करावे।[८९] इससे ज्ञात होता है कि 'अक्ष' पारिभाषिक शब्द है और इसका अर्थ सोने, चांदी के सिक्के हैं। अतः अक्षशाला का अर्थ है — टकसाल (Mint)। अर्थशास्त्र में अक्षपटल का अर्थ दिया है - आय-व्यय-लेखा-विभाग (Accountant's Office) और अक्षपटलाध्यक्ष का अर्थ दिया है – आय-व्यय-निरीक्षक (Account's superintendent)[९०]। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में सोने, चांदी आदि के सिक्के (अक्ष) लकड़ी के पट्टे पर रखकर गिने जाते थे। उस गणना-पटल को अक्षपटल कहा जाता था। इस प्रकार आय-व्यय-गणना-विभाग को अक्षपटल नाम दे दिया गया और इस विभाग के अध्यक्ष को अक्षपटलाध्यक्ष कहा गया । इससे ज्ञात होता है कि 'अक्षावाप' शब्द महालेखाकार या महालेखाधिकारी (Accountant General) के लिए है।

शतपथ ब्राह्मण से भी इस अर्थ की पुष्टि होती है। शतपथ ब्राह्मण में सुवर्ण आदि के सिक्कों को रखने की पेटी को अक्षावपन (अक्ष+आवपन, अक्षों का रखना) नाम दिया गया है और कहा गया है कि राजा राजसूय यज्ञ में रत्नी के रूप में अक्षावाप का अभिनन्दन करते हुए उसे तलवार (असि) और डोरी से बंधा हुआ अक्षावपन (सुवर्ण-युक्त पेटी) भेंट करता है।[९१] यहाँ पर 'अक्षावपन' का अर्थ जुए की गिट्टियों की पिटारी अर्थ करना अत्यन्त हास्यापद है।

इससे ज्ञात होता है कि अक्षावाप लेखा-विभाग से संबद्ध उच्च अधिकारी है। उसका वर्तमान रूप महालेखाकार हो सकता है।

---

८८. Hindu Polity, पृ० २०२ - २०३

८९. सुवर्णाध्यक्षः सुवर्ण-रजत-कर्मान्तानाम् ... अक्षशालां कारयेत् । अर्थ० पृ० १७४

९०. अक्षपटलमध्यक्षः ... निबन्धपुस्तकस्थानं कारयेत् । अर्थ० पृ० १२४

९१. दक्षिणा ... असिः ... वालदाम्नाऽक्षावपनं प्रबद्धम् एतदु हि तयोर्भवति । शत० ब्रा० ५.३.१.१०

९. **गोविकर्त** - शतपथ ब्राह्मण में ११ रत्नियों में गोविकर्त का उल्लेख है।[९२] मैत्रायणी संहिता में भी रत्नियों में गोविकर्त का उल्लेख है।[९३] काठकसंहिता में गोविकर्त के स्थान पर 'गोव्यच्छ' नाम है।[९४] यजुर्वेद में 'गां विकृन्तन्तम् ' और 'गोव्यच्छम्' का उल्लेख है।[९५] अधिकांश विद्वानों ने इसका अर्थ 'गाय काटने वाला' या शिकारी किया हैं। परन्तु यह अर्थ असंगत है। राजकर्ताओं में उसकी गणना है। इससे ज्ञात होता है कि यह कोई विशेष अधिकारी है।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने असका अर्थ 'अरण्यपाल' (Master of Forest) किया है।[९६] यजुर्वेद में अरण्यपाल के लिए 'वनप' (वन-रक्षक) और 'दावप' (वन-रक्षक) शब्दों का प्रयोग है।[९७] गो शब्द का प्रयोग पशुमात्र के लिए भी होता है। अतः गोविकर्त और गोव्यच्छ का अर्थ होता है– जंगली जानवरों को मारने या भगाने वाला। यह अधिकारी जंगली जानवरों को मारकर जंगलों की रक्षा करता था, अतः उसे वनप, दावप या अरण्यपाल (Forest Officer) कह सकते हैं। मेगस्थनीज़ ने अपने यात्रावृत्तान्त में उच्च अधिकारियों में 'अरण्यपाल' का भी उल्लेख किया है।[९८]

यजुर्वेद के रुद्राध्याय में रुद्र को 'वनानां पतये नमः' 'अरण्यानां पतये नमः' अर्थात् वनों के स्वामी रुद्र को नमस्कार कहकर वनपति और अरण्यपति को नमस्कार कहा गया है।[९९] इससे ज्ञात होता है कि अरण्यपति को आदरणीय स्थान प्राप्त था। गोविकर्त और गोव्यच्छ शब्दों से अरण्यपति या अरण्यपाल (Forest Officer) अर्थ समझना चाहिए।

१०. **पालागल** - शतपथ ब्राह्मण में 'पालगल' का नाम भी ११ रत्नियों में हैं।[१००] इसी प्रसंग में पालागल का कार्य बताया गया है कि उसे समाचार लेकर सामान्य दूत के

---

९२. गोविकर्तस्य । शत० ब्रा० ५.३.१.१०

९३. गोविकर्तस्य । मैत्रा० सं० २.६.५

९४. गोव्यच्छस्य च गृहे । काठक सं० १५.४

९५. यजु० ३०.१८

९६. Hindu Polity, पृ० २०३

९७. वनाय वनपम्, अन्यतोऽरण्याय दावपम् । यजु० ३०.१९

९८. M. Crindle, Magasthanes. Page 84, 86

९९. यजु० १६.१८ और २०

१००. पालागलस्य गृहान् । शत० ब्रा० ५.३.१.११

रूप में भेजा जाता था। इसे राजा का एक रत्न कहा गया है।[१०१] डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इसे Courier (विशिष्ट सन्देशवाहक) कहा है।[१०२]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शतपथ ब्राह्मण में राजा की चार पत्नियों का उल्लेख है - महिषी (राजा की मुख्य पत्नी), वावाता (राजा की द्वितीय पत्नी), परिवृक्ता (परित्यक्ता या अपुत्रा), पालागली (चतुर्थ पत्नी, सामान्य परिवार की)।[१०३] इनमें पालागली का भी उल्लेख है। कात्यायन श्रौतसूत्र में पालागली का अर्थ 'दूतदुहिता' (दूत की पुत्री) किया गया है।[१०४] इससे ज्ञात होता है कि पालागल सामान्य दूत के लिए है।

मैत्रायणी संहिता में पालागल के स्थान पर तक्षा और रथकार का नाम रत्नियों में दिया है।[१०५] तक्षा (बढ़ई) और रथकार (रथ बनाने वाला शिल्पी) को रत्नियों में स्थान देने का अभिप्राय है - राजकर्ताओं में शिल्पियों को भी स्थान देना।

६. राज्य के अन्य कार्यवाहक

ऊपर राजपरिवार से संबद्ध और असंबद्ध दो प्रकार के रत्नियों (राजकर्ताओं) का उल्लेख किया गया है। ये राजा के निर्वाचन में भाग लेते थे। इनके अतिरिक्त भी कुछ अधिकारियों और कर्मचारियों के नाम यजुर्वेद में प्राप्त होते हैं। वर्ग के रूप में इनका प्रतिनिधित्व न होने पर भी राज्य के संचालन में इनका संमाननीय स्थान होता था। यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में इनमें से कुछ को नमस्कार भी किया गया है।[१०६] ये अधिकारी हैं :- पशुपालक (पशुपति), अन्नसंरक्षक (अन्नपति), क्षेत्रपति (भूमि-संरक्षक), वनपति और अरण्यपति (वनों के रक्षक), अश्वपति, गणपति, कर्मार (शिल्पकार), इषुकृत् (बाण बनाने वाले), धनुष्कृत् (धनुष बनाने वाले)[१०७]। यजुर्वेद के ३०वें अध्याय में कुछ शिल्पियों और राजकर्मचारियों

---

१०१. प्रहेयो वै पालागलोऽध्वानं वै प्रहित एति ।
अस्य एकं रत्नं यत् पालागलः । शत० ५.३.१.११

१०२. Hindu Polity, पृ० २०३

१०३. चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति । महिषी, वावाता, परिवृक्ता, पालागली ।
शत० १३.४.१.८

१०४. कात्या० श्रौतसूत्र

१०५. तक्षरथकारयोर्गृहे । मैत्रा० सं० २.६.५

१०६. पशूनां पतये नमः । अन्नानां पतये नमः । क्षेत्राणां पतये नमः ।
वनानां पतये नमः । अरण्यानां पतये नमः । अश्वपतिभ्यः नमः ।
गणपतिभ्यश्च वो नमः । कर्मरिभ्यः नमः । यजु० १६.१७ से २७

१०७. नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च । यजु० १६.४६

का उल्लेख है। ये हैं :- सूत, रथकार, तक्षा, कौलाल (कुम्हार),मणिकार (जौहरी), इषुकार, धनुष्कार (धनुष बनाने वाला), भिषज् (वैद्य), नक्षत्रदर्श (ज्योतिषी), प्रश्नविवाक (वकील), हस्तिप (हस्तिशालाध्यक्ष), अश्वप (अश्वशालाध्यक्ष), अविपाल, अजपाल, गोपाल, वित्तध (वित्ताधिकारी), अनुक्षत्ता (उप-कोषाधिकारी), क्षत्ता (कोषाधिकारी), हिरण्यकार (सुनार), वाणिज (व्यापारी), अक्षराज (द्यूत क्रीडाध्यक्ष), वनप (अरण्यपाल), दावप (सहायक अरण्यपाल), ग्रामणी, गणक (खजानची, कैशियर)[१०८] ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राज्यसंचालन जैसे दुष्कर कार्य के लिए वेदों में अनेक सहायकों का उल्लेख है। इनमें से कुछ राजकीय अधिकारी हैं और कुछ स्वतन्त्र कार्यकर्ता।

७. रत्नी और प्रजा का प्रतिनिधित्व

रत्नी समाज के रत्न हैं और ये राजकृत् (राजा के निर्वाचक) हैं। रत्नियों की सूची देखने से ज्ञात होता है कि ये राज्य के प्रमुख कार्यकर्ता और अधिकारी हैं। प्रयत्न किया गया था कि इन रत्नियों में प्रजा के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व हो। पुरोहित या ब्रह्मन् (ब्रह्मा) ब्राह्मणवर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। राजन्य क्षत्रिय वर्ग का, महिषी आदि स्त्रीवर्ग का, ग्रामणी-वैश्य वैश्यवर्ग का, पालागल शूद्र वर्ग का, सैनानी सैनिकवर्ग का,संग्रहीता और भागदुघ व्यापारी वर्ग का, अक्षावाप वित्त-विभाग का, गोविकर्त भू-संरक्षक वर्ग का, तक्षा और रथकार शिल्पिवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ऊपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि राजा के निर्वाचन में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही नहीं, अपितु शूद्रवर्ग, शिल्पीवर्ग का भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व होता था। शतपथ ब्राह्मण में इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि राज्याभिषेक के समय राजा कहता है कि ये हमारी प्रजा के रत्न हैं। इनके कारण ही मैं राजा के रूप में चुना गया हूँ। मैं इन्हें हवि और दक्षिणा देकर इनको अपना सहयोगी बनाता हूँ।[१०९]

---

१०८. सूतम् । रथकारम् । तक्षाणम् । कौलालम् । मणिकारम् । इषुकारम् । धनुष्कारम् । भिषजम् । नक्षत्रदर्शम् । प्रश्नविवाकम् । हस्तिपम् । अश्वपम् । गोपालम् । अविपालम् । अजपालम् । वित्तधम् । अनुक्षत्तारम् । क्षत्तारम् । हिरण्यकारम् । वाणिजम् । अक्षराजाय । वनपम् । दावपम् । ग्रामण्यम् । गणकम् । यजु० ३०. ६ से २०

१०९. वैश्यो वै ग्रामणीः ... एतद् वा अस्यैकं रत्नं यद् ग्रामणीः, तस्मा एवैतेन सूयते, तं स्वम् अनपक्रमिणं कुरुते । शत० ब्रा० ५.३.१.६

८. मन्त्रिपरिषद् के सदस्य

रत्नियों या राजकृतों की संख्या से ज्ञात होता हे कि वेदों में वित्तविभाग से संबद्ध अधिकारियों की संख्या सबसे अधिक है। वैश्य को ग्रामणी बनाया गया है। संग्रहीता, भागदुघ, अक्षावाप वित्त से संबद्ध अधिकारी हैं। राज्य की अर्थ-व्यवस्था सर्वथा ुष्ट हो, इसलिए वैश्य और वित्ताधिकारियों की संख्या अधिक रखी गई है।

महाभारत शान्तिपर्व में अमात्यों (मन्त्रिपरिषद्) की संख्या ाादि के विषय में श्री भीष्मपितामह ने विस्तृत विवरण दिया है कि राजा अपने मंत्रिपरिषद् में वेदज्ञ, निर्भीक और पवित्र आचारयुक्त ४ ब्राह्मणों को, हृष्ट-पुष्ट एवं शस्त्रास्त्र-पारंगत ८ क्षत्रियों को, ऐश्वर्यसंपन्न २१ वैश्यों को, विनीत एवं आचारशुद्ध ३ शूद्रों को तथा एक इतिहासलेखक सूत को रखे।[११०]

इससे ज्ञात होता है कि मंत्रिपरिषद् में चारों वर्णो का पूर्ण प्रतिनिधित्व होना चाहिए। प्रत्येक मंत्री के लिए आवश्यक था कि वह आचारशुद्ध हो और आचार-संहिता का अनिवार्यरूप से पालन करे।

●

---

११०. चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् , प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन् ।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ, बलिनः शस्त्रपाणिनः ।।
वैश्यान् वित्तेन संपन्नान् , एकविंशति-संख्यया ।
त्रीन् च शूद्रान् विनीतान् च, शुचीन् कर्मणि पूर्वके ।।
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं, सूतं पौराणिकं तथा ।। महा० शान्ति० ८५. श्लोक ७ से ९

अध्याय १२

प्रमुख संस्थाएँ

१. संस्थाओं की उपयोगिता

२. सभा

३. समिति

४. विदथ

५. संसद्

६. सेना

अध्याय १२

प्रमुख संस्थाएँ

१. संस्थाओं की उपयोगिता

राष्ट्रीय संगठन में संस्थाओं की बहुत उपयोगिता है। संस्थाओं के अध्ययन से राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का ज्ञान होता है। विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उस राष्ट्र में जीवन-संबन्धी किन सिद्धान्तों की स्थापना की गई थी और उन सिद्धान्तों को किस प्रकार व्यावहारिक रूप दिया गया था।

वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल में कतिपय संस्थाओं का आविर्भाव हो चुका था। राष्ट्रीय स्तर पर कुछ संस्थाएँ अपना कार्य करती थीं और उनके कुछ नियम भी निर्धारित थे, जिनके अनुसार उन संस्थाओं का कार्य संपादित होता था। इन संस्थाओं में ग्राम स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक के कार्य संपादित किए जाते थे। जीवन-संबन्धी विभिन्न समस्याओं पर शान्तिपूर्वक विचार-विनिमय होता था और उनका निराकरण निकाला जाता था। न्याय और दंड की व्यवस्था, राष्ट्रीय सुरक्षा की व्यवस्था, स्थानीय और राष्ट्रीय विघ्नों और उपद्रवों का निराकरण, आतंक अनाचार आदि पर नियन्त्रण, शत्रुओं से देश की रक्षा, राष्ट्र में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना, प्रजा के अधिकारों का संरक्षण, राजा का निर्वाचन, राजा के कर्तव्यों का निर्देश, कर्तव्य-पालन न करने पर राजा को पद-च्युत करना और उसका निर्वासन, अपराधों के लिए क्षमायाचना करने पर निर्वासित राजा को पुनः उस पद पर प्रतिष्ठापित करना, अधिकारियों की नियुक्ति और उनके कर्तव्य-निर्देश आदि के संपादन विविध संस्थाएँ करती थीं। अतः राष्ट्रीय गतिविधि के ज्ञान के लिए विभिन्न संस्थाओं के क्रियाकलाप का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है।

वेदों में जिन संस्थाओं का उल्लेख है, उनमें प्रमुख हैं :- सभा, समिति और विदथ। इनके विषय में वैदिक सहित्य में जो सामग्री उपलब्ध होती है, उसका विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

२. सभा

(१) सभा की प्राचीनता — सभा अत्यन्त प्राचीन संस्था है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में सभा का अनेक बार उल्लेख है। यह एक राष्ट्रीय संस्था थी। इसके माध्यम से राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में निरन्तर विकास हुआ।

अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति अर्थात् राजा की दो पुत्रियाँ कहा गया है।[१] इसका अभिप्राय यह है कि राजा ही सर्वप्रथम सभा और समिति नामक दो संस्थाओं का जन्मदाता है। राजा जनहित के लिए और राष्ट्र में शान्ति एवं व्यवस्था के लिए इन दोनों संस्थाओं को प्रतिष्ठित करता है। इस मंत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि सभा और समिति दो स्वतंत्र संस्थाएँ हैं। इनमें से कोई भी किसी के अधीनस्थ नहीं है।

अथर्ववेद के एक अन्य प्रसंग में सभा की उत्पत्ति विराट् पुरुष से बताई गई है।[२] इससे ज्ञात होता है कि सभा नामक संस्था अत्यन्त प्राचीन है।

अथर्ववेद में एक अन्य स्थान पर सभा की उत्पत्ति व्रात्य अर्थात् आदिपुरुष से बताई गई है। वहाँ पर सभा के साथ ही समिति और सेना का भी उल्लेख है। व्रात्य के साथ ही सभा और समिति भी चलती हैं।[३] इससे ज्ञात होता है कि सभा और समिति राजा के अभिन्न अंग हैं।

ऋग्वेद में सभा का कई बार उल्लेख है। एक स्थान पर 'सभासु' कहकर कई प्रकार की सभाओं का संकेत है।[४] यजुर्वेद में भी सभा का बहुवचन में निर्देश है। सभा के साथ सभापति का भी उल्लेख है।[५] तैत्तिरीय संहिता में ब्राह्मणों की सभा का वर्णन है।[६] मैत्रायणी संहिता में राजा की सभा का वर्णन है।[७]

इससे ज्ञात होता है कि सभा अत्यन्त प्राचीन संस्था है और वह अनेक रूपों में प्रचलित थी।

(२) सभा - विषयक विभिन्न मत — सभा का वास्तविक स्वरूप क्या था? इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान् सभा-स्थल को ही सभा मानते हैं, कुछ ग्रामसभा को सभा कहते हैं, कुछ सभा का संबन्ध ग्राममात्र से मानते हैं और कुछ सभा को समिति का अंग मानते हैं। इस प्रकार सभा के अनेक रूपों की कल्पना की गई है। इनमें से प्रमुख विद्वानों के कुछ विचार ये हैं :-

---

१. सभा च मा समितिश्चावतां
प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।। अ० ७.१२.१

२. विराड् वा इदमग्र आसीत् ...
सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् । अ० ८.१०. १,८

३. तं सभा च समितिश्च सेना ... चानुव्यचलन् । अ० १५.९.२

४. सभासु । ऋग्० ६.२८.६ । सभामेति । ऋग्० १०.३४.६

५. नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च । यजु० १८.२४

६. ब्राह्मणस्य सभा । अव सभां रुन्धे । तैत्ति० १.७.६.८

७. तस्य सभायाः । मैत्रा० २.२.१

(१) प्रो० आल्फ्रेड हिलेब्रांड (Alfred Hillebrandt) का मत है कि सभा और समिति एक ही थीं। 'सभा' उस स्थान या भवन को कहते थे, जहाँ लोग एकत्र होते थे और बैठक होती थी। 'समिति' एकत्रित समूह को कहते थे। किसी विशेष समस्या के समाधान-हेतु विचार करने के लिए इस प्रकार की बैठक होती थी।

(२) प्रो० एच. एफ. त्सिमेर (Heinrich Friedrich Zimmer) का मत है कि 'सभा' ग्राम-संस्था थी और 'समिति' पूरे 'जन' की केन्द्रीय परिषद् थी। सभा केन्द्रीय समिति की एक उपसमिति के रूप में कार्य करती थी। राज्य में ग्रामों के अनुसार अनेक सभाएँ होती थीं।

(३) डा० लुडविश् (Alfred Ludwig) का मत है कि सभा और समिति एक प्राचीन संस्था (विदथ) के दो सदन थे। समिति में जन-साधारण भाग लेते थे और सभा में उच्च वर्ग। समिति साधारण सदन था और सभा उच्च सदन। सभा में पुरोहित, धनिक और उच्च वर्ग के लोग सम्मिलित होते थे।

(४) डा० काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि समिति एक राष्ट्रीय संस्था (National Assembly) थी। यह राजा का निर्वाचन और राष्ट्रीय महत्त्व के कार्य करती थी। सभा सार्वजनिक संस्था (Popular Body) थी। यह मुख्यरूप से राष्ट्रीय न्यायालय (National Judicature) का कार्य करती थी।[८]

(५) डा० अलतेकर का मत है कि सभा का संबन्ध ग्राममात्र से था। सभा ग्राम-संस्था थी। इसका मुख्य कार्य न्यायदान था। ग्रामों के अनुसार ग्रामसभाएँ अनेक होती थीं। समिति केन्द्रीय शासन की व्यवस्थापिका सभा थी। केन्द्रीय शासन और सेना पर समिति का बहुत अधिक प्रभाव था।[९]

इस विषय में कुछ तथ्य उल्लेखनीय हैं, जिनसे सभा और समिति के स्वरूप का ठीक ज्ञान होता है।

अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति (राजा) की दो पुत्रियाँ बताया गया है।[१०] इससे स्पष्ट है कि सभा और समिति दो स्वतंत्र इकाई हैं और इनका स्वतन्त्र कार्य है। इस मंत्र में 'संविदाने' प्रयोग है, जो विशेष ध्यान देने योग्य है। 'संविदाने' का अर्थ है – परस्पर संबद्ध, परस्पर संज्ञान वाली। इससे ज्ञात होता है कि सभा और समिति स्वतंत्र सत्ता होते

---

८. Hindu Polity, पृ० १२, १८ से २०

९. प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, पृ० ९६ से ९९

१०. सभा च मा समितिश्चावतां
प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।। अ० ७.१२.१

हुए भी परस्पर संबद्ध थीं और लोकहित एवं नृपहित का कार्य संपादित करती थीं। इससे प्रो० हिलेब्रांड का यह कथन सर्वथा असंगत प्रतीत होता है कि सभास्थान को सभा कहते थे और एकत्र समूह को समिति।

अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि सभा समिति और सेना नामक संस्थाएँ व्रात्य राजा के पीछे चलीं।[११] अथर्ववेद के ही एक अन्य मंत्र में सभा और समिति में सुन्दर वक्तृत्व की प्रशंसा की गई है।[१२] इससे स्पष्ट है कि सभा और समिति ये स्वतंत्र संस्थाएँ थीं और इनमें सुरुचिपूर्ण भाषण को महत्त्व दिया जाता था। अथर्ववेद में सभा के विधि-विधानों की रक्षा का निर्देश है और इसके संमानित सदस्यों को सभ्य या सभासद् नाम से निर्दिष्ट किया जाता था।[१३] यह मंत्र स्पष्ट करता है कि सभा के कुछ नियम होते थे, उनका पालन आवश्यक था। साथ ही सभा के सदस्य नियमानुकूल बनाये जाते थे और उन्हें सभ्य या सभासद् कहा जाता था।

यहाँ यह उल्लेख उचित है कि सभास्थल को भी सभा कहते थे। अतः ऋग्वेद का यह कथन संगत है कि जुआरी अपने भाग्यनिर्णय के लिए सभा में जाता है।[१४]

यह ठीक है कि सभा का स्वरूप बहुत विस्तृत था। यह ग्रामसंस्था, ग्रामसभा या ग्राम-पंचायत के रूप में भी थी। केन्द्रीय सभा के अतिरिक्त ग्राम-संस्थाएँ या ग्राम सभाएँ भी थीं और ये ग्राम से संबद्ध विषयों पर निर्णय देती थीं। इनका मुख्य कार्य विभिन्न विवादों आदि पर न्यायालय का कार्य करना था। बहुसंमति से विवादों का निर्णय होने के कारण इनका निर्णय सर्वमान्य होता था।

ग्रामसभाओं में ग्रामीण समस्याओं पर भी विचार होता था। कृषि, पशु-पालन, गोरक्षा आदि पर भी विचार-विनिमय होता था, अतः ऋग्वेद में उल्लेख है कि गायों की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर भी सभाओं में विचार होता था।[१५] मंत्र में सभा शब्द का बहुवचन में प्रयोग (सभासु) है, इससे ज्ञात होता है कि सभाएँ अनेक प्रकार की थीं।

सभा को समिति की उपसमिति मानना भी असंगत है, क्योंकि दोनों की सत्ता स्वतंत्र है। दोनों के कार्य अलग हैं। समिति का क्षेत्र बहुत व्यापक है। समिति राजा का निर्वाचन, राजा को पदच्युत करना, पदच्युत राजा को पुनः गद्दी पर बैठाना आदि बड़े कामों को संभालती

---

११. तं सभा च समितिश्च सेना च ... अनुव्यचलन् । अ० १५.९.२

१२. या सभा अधि भूम्याम् । ये संग्रामाः समितयः । अ० १२.१.५६

१३. सभ्यः सभां मे पाहि, ये च सभ्याः सभासदः । अ० १९.५५.५

१४. सभामेति कितवः पृच्छमानः । ऋग्० १०.३४.६

१५. यूयं गावो मेदयथा कृशं चिद् ...
बृहद् वो वय उच्यते सभासु । ऋग्० ६.२८.६

थी। सभा मुख्यरूप से न्यायपालिका का कार्य करती थी और ग्राम-सुधार एवं ग्राम-विकास आदि से संबद्ध विषयों पर अपने निर्णय प्रस्तुत करती थी।

(३) सभा का संगठन — सभा के संगठन के विषय में विस्तृत विवेचन किसी भी वेद में प्राप्त नहीं होता है। सभा के कितने सदस्य होते थे? उनकी नियुक्ति के क्या नियम थे? नियुक्ति कौन करता था? नियुक्ति की क्या प्रक्रिया थी? सदस्यता की क्या अवधि थी? सभासदों की उपस्थिति के नियम, कोरम (Quorum) कितना होना चाहिए, इत्यादि विषयों पर कहीं कोई विवेचन नहीं मिलता है। जो स्फुट सामग्री प्राप्त होती है, उसका ही आश्रय लेकर यहाँ विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

सभा का अर्थ - सभा शब्द के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए पारस्कर गृह्यसूत्र के टीकाकार जयराम ने व्याख्या प्रस्तुत की है कि स+भा, स का अर्थ है साथ, जो धर्म के साथ या धार्मिक विषयों पर विचार के साथ, भा अर्थात् शोभित होती है, अर्थात् जिसमें धर्म या न्याय-संबन्धी विषयों पर विचार होता है, अथवा जो सज्जनों से शोभित होती है।[१६]

इसका अभिप्राय यह है कि सभा में न्याय या धर्म से संबद्ध विषयों पर विचार होता है और इसके सदस्य सज्जन या विद्वान् होते हैं। सभा का यह अर्थ भी हो सकता है कि स (=सह) अर्थात् सहयोग और सामंजस्य से, भा अर्थात् शोभित होने वाली। सभा एक ओर प्रजा का हितचिन्तन करती है और दूसरी ओर राजा के कार्य में सहयोग देती है। इस प्रकार सभा राजा और प्रजा दोनों का सहयोग करती है और दोनों में सामंजस्य स्थापित करती है। सभा का एक अन्य अर्थ यह भी हो सकता है कि स+भा अर्थात् जिसके सदस्य भा अर्थात् तेज या गौरव से युक्त होते थे।

सभा के सदस्यों को अथर्ववेद में 'पितरः' कहा गया है।[१७] पितरः का अर्थ है — पितृतुल्य, पिता के सदृश। इससे स्पष्ट है कि सभा के सदस्य वृद्ध, विद्वान् और आदरणीय व्यक्ति ही होते थे। पिता का अर्थ है - पातीति पिता, जो पालन करता है या रक्षा करता है। सभा के सदस्य जनता के पालक या उनके हितों के रक्षक होते थे, अतः उन्हें 'पितरः' कहा गया है। वृद्ध, अनुभवी, विद्वान् और परिपक्व बुद्धि वाले होने के कारण उन्हें 'पितरः' कहना उचित है। सायण ने भी पितरः की यही व्याख्या दी है कि ये पालक हैं या पिता के तुल्य हैं।[१८] जातक, पालिसूत्र, दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्तन्त में भी बुद्ध ने सभा के सदस्यों को सन्त (सज्जन) कहा है। उनका कथन है कि जिसमें सन्त न हों, वह सभा नहीं है, जो

---

१६. सह धर्मेण सद्भिर्वा भातीति सभा । पार० गृह्य० ३.१३.१

१७. सभा च मा ... चारु वदानि पितरः संगतेषु । अ० ७.१२.१

१८. पितरः पालकाः, पितृभूता वा । सायण, अ० ७.१२.१

धर्म न कहते हों वे सन्त नहीं हैं। जो राग, द्वेष और मोह को छोड़कर धर्म (न्याय) का ही कथन करते हैं, वे ही सन्त होते हैं।[१९] इसी भाव को लेकर महाभारत, हितोपदेश और पंचतन्त्र में सूक्ति है कि वह सभा नहीं, जिसमें वृद्ध (अनुभवी विद्वान्) न हों, वे वृद्ध नहीं जो धर्म (न्याय) की बात नहीं करते हैं।[२०] इससे ज्ञात होता है कि पितृतुल्य विद्वानों, वृद्धों और अनुभवी व्यक्तियों की ही सभा होती थी।

सभा के विषय में स्मृतियों में कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त होती है। मनु का कथन है कि राजा न्याय-संबन्धी कार्यों के निर्णयार्थ तीन सदस्यों वाली सभा गठित करे।[२१] जिस स्थान पर वेदज्ञ तीन ब्राह्मण तथा राजा से अधिकृत विद्वान् बैठते हैं, उसे सभा कहते हैं।[२२] बृहस्पति एवं शुक्रनीति का कथन है कि सभा के सदस्य तीन, पाँच या सात तक हो सकते हैं। सदस्यों की योग्यता बताई गई है कि वे लोकव्यवहार के ज्ञाता हों, वेदज्ञ हों और धर्मशास्त्रों के ज्ञाता हों। ऐसे विद्वानों वाली सभा को यज्ञ के तुल्य पवित्र और आदरणीय माना गया है।[२३] याज्ञवल्क्य का कथन है कि राजा को चाहिए कि इन गुणों वाले व्यक्तियों को ही सभा का सदस्य बनावे :– जो मीमांसा व्याकरण आदि के ज्ञाता हों, वेदज्ञ हों, धर्मशास्त्रों के ज्ञाता हों, सत्यवादी हों और शत्रु एवं मित्र के प्रति समदृष्टि वाले हों।[२४] याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मिताक्षरा ने कात्यायन स्मृति का वचन उद्धृत करते हुए कहा है कि सभा में कुलीन व्यापारियों के प्रतिनिधि भी संमिलित करने चाहिएँ। इनकी योग्यता के विषय में कहा गया है कि वे कुलीन हों, सुशील हों, बड़ी आयु के हों, सदाचारी हों, धनवान् हों और रागद्वेष से रहित हों।[२५]

---

१९. न सा सभा यत्थ न संति संतो, न ते संतो ये न भणन्ति धंमं ।
रागं च दोसं च पहाय मोहं, धंमं भणन्ता व भवन्ति संतो ।।
जातक. ५.५०९ । महापरि० भाग २, पृ० ७९, ८५

२०. न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् । महाभारत ।

२१. सोऽस्य कार्याणि संपश्येत् सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।
सभामेव प्रविश्य० । मनु० ८.१०

२२. यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ।। मनु० ८.११

२३. लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः, सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा ।
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः, सा यज्ञसदृशी सभा ।। बृहस्पति० १.११
शुक्रनीति, ४.५.२६, पृ० ३१६

२४. श्रुताध्ययनसंपन्ना, धर्मज्ञा सत्यवादिनः ।
राज्ञा सभासदः कार्या, रिपौ मित्रे च ये समाः ।। याज्ञ० व्यव०२

२५. कुलशीलवयोवृत्त वित्तवद्भिरमत्सरैः ।
वणिग्भिः स्यात् कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम् ।। कात्यायन

याज्ञवल्क्य का कथन है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन व्यवहारों (मुकदमों) को सुने और अपनी सहायता के लिए कुछ विद्वानो की नियुक्ति करे।[२६] ये विद्वान् ही सभा का रूप धारण करते हैं और न्यायाधिकरण (न्यायालय) का काम करते हैं।

मनु का कथन है राजा मन्त्रियों के साथ मुकदमों आदि को निबटाने के लिए सभा में बैठे।[२७] साथ ही यह भी कहा गया है कि पक्षपात आदि के कारण यदि अनुचित निर्णय लिया जाता है तो इससे सभासदों की प्रतिष्ठा को आँच आती है।[२८] जहाँ सत्य को छिपाया जाता है और असत्य को स्वीकार किया जाता है, ऐसी सभा के सदस्य पापी गिने जाते हैं।[२९] अतः सभासदों का कर्तव्य बताया गया है कि या तो वे सभा में न जावें, यदि जाते हैं तो सत्य ही बोलें, अन्यथा पापी होते हैं।[३०]

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभा की स्थापना राजा करता है। यह न्यायाधिकरण या न्यायालय का काम करती है। इसमें राजा स्वयं भी बैठता है या उसका कोई मंत्री आदि बैठता है। सभा के सदस्यों की संख्या तीन, पाँच या सात होती है। आवश्यकतानुसार यह संख्या बढ़ भी सकती है। सभा के सदस्य बनाने के लिए बड़ी कठोरता बरती जाती थी। योग्य, कुलीन, वेदज्ञ, धर्मशास्त्र आदि के ज्ञाता ही सभासद् हो सकते थे। उनका निष्पक्ष होना आवश्यक था। सभा में सभासद् के रूप में व्यापारियों का प्रतिनिधि भी अवश्य लिया जाता था। सभासदों के लिए नियम था कि वे सत्य का ही पक्ष लें। यदि निर्णय पक्षपात पूर्ण होता है तो सभा की गरिमा नष्ट होती है और सभासदों का अपमान होता है।

(४) सभा की सदस्यता — सभा की सदस्यता कठिनाई से प्राप्त होती थी। सभा शब्द का शाब्दिक अर्थ है – स+भा। स - सहित, भा - तेज, प्रकाश या कान्ति। अतः ज्ञात होता है कि सभा का वही सदस्य हो सकता था, जो तेजस्वी, विद्वान् और सुयोग्य हो।

ऋग्वेद और यजुर्वेद से ज्ञात होता है कि सभा की सदस्यता अत्यन्त गौरव की बात मानी जाती थी, अतः यजुर्वेद में राष्ट्रीय प्रार्थना 'आ ब्रह्मन्०' में सभेय या सभ्य युवा की

---

२६. व्यवहारान् नृपः पश्येद् विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह । याज्ञ० व्यव० १
व्यवहारान् स्वयं पश्येत् सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम् । याज्ञ० आचार० ३६०

२७. मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम् । मनु० ८.१

२८. धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण ... विद्धास्तत्र सभासदः । मनु० ८.१२

२९. यत्र धर्मो ह्यधर्मेण .. हतास्तत्र सभासदः । मनु० ८.१४

३०. सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि, नरो भवति किल्विषी ।। मनु० ८.१३, शुक्रनीति पृ० ३१६

कामना की गई है।[३१] ऋग्वेद में भी सोस् देवता से प्रार्थना की गई है कि वह सभा और विदथ के योग्य पुत्र प्रदान करे। ऐसे पुत्र को सभेय और विदथ्य कहा गया है।[३२]

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि सभा के सदस्य के लिए सभेय, सभ्य और सभासद् ये तीन शब्द प्रचलित थे।[३३] ऋग्वेद और यजुर्वेद में सभेय शब्द का प्रयोग मिलता है और अथर्ववेद में सभ्य और सभासद् शब्द का। अथर्ववेद के मंत्र से ज्ञात होता है कि सभासद् का यह भी कर्तव्य होता था कि वह सभा में केवल अपनी योग्यता ही प्रदर्शित न करे, अपितु सभा के अनुशासन का भी पालन करे। ऐसा कोई कार्य न करे, जिससे अभद्रता या अशिष्टता प्रतीत हो। अतएव सभासद् के द्वारा सभा की सुरक्षा और प्रतिष्ठा की प्रार्थना की गई है।[३४]

अथर्ववेद में सभासद् के लिए 'सत्रसद्' भी आया है, साथ ही उन्हें देव भी कहा गया है। इनके ५ भेदों का वर्णन है। ये ५ भेद हैं :– प्रयाज, अनुयाज, हुतभाग, अहुताद् और पञ्चप्रदिशः।[३५] इन पाँच प्रकार के सदस्यों का अभिप्राय समझने के लिए आवश्यक है कि यज्ञ का वास्तविक अर्थ समझा जाय। गीता के अनुसार लोकसंग्रह और लोकोपकारक कार्यों को यज्ञ कहा गया है। जनहित के लिए किए गए यज्ञ द्रव्य यज्ञ की कोटि में आते हैं।[३६] कौटिल्य ने भी यज्ञ को सामूहिक कार्य (संभूय-समुत्थान) में गिना है और कहा है कि यज्ञ करने वाले अपने अपने उपयोग की वस्तु को अपने पास रखें और शेष वेतन या दक्षिणा आदि को समान भागों में बाँट लें।[३७] इससे ज्ञात होता है कि यज्ञ सामूहिक उत्पादन (उन्नति) का कार्य माना जाता था।

इस प्रकार इन पाँच प्रकार के सदस्यों का अर्थ यह होगा :-

१. प्रयाज - वे लोग जो यज्ञ या सामूहिक-उत्पादन के कार्यों के संचालक होते थे।
२. अनुयाज - वे लोग जो सामूहिक-उत्पादन के कार्यों के सहभागी या सहयोगी होते थे।

---

३१. सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् । यजु० २२.२२

३२. सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति, सादन्यं विदथ्यं सभेयम् । ऋग्० १.९१.२०

३३. सभेयो विप्रः । ऋग्० २.२४.१३ । सभेयो युवा । यजु० २२.२२ ।

३४. सभ्यः सभां मे पाहि, ये च सभ्याः सभासदः । अ० १९.५५.५

३५. येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः ।
तेषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्ताः, तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि । अथर्व० १.३०.४

३६. चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् । गीता० ३.२५
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः० । गीता० ४.२८

३७. याजकाः स्वप्रचारद्रव्यवर्जं यथासंभाषितं वेतनं समं विभजरेन् । अर्थशास्त्र, पृ० ३९० ।

३. हुतभाग - वे लोग जो सामूहिक-उत्पादन के कार्यों की उपलब्धि में अपना हिस्सा लेते थे या लेने के अधिकारी थे। ४. अहुताद् - वे लोग जो सामूहिक-उत्पादन के कार्यों में न भाग लेते थे और न हिस्सा लेने के अधिकारी थे। ५. पंच प्रदिशः - पाँच दिशाओं अर्थात् विभिन्न संस्थाओं से संबद्ध पंचजन या पंचायत के अधिकारी। पंचप्रदिशः ग्राम के प्रतिनिधियों या ग्रामणी (ग्रामप्रधान) के लिए है। अथर्ववेद में इन पंचप्रदिशः को राजा के निर्वाचन में भी भाग लेने का अधिकारी बताया गया है।[३८]

इससे ज्ञात होता है कि सामूहिक कार्यों (यज्ञ) के संचालक, उनके सहयोगी, उसका लाभांश लेने वाले, उसका लाभांश न लेने वाले और जन-प्रतिनिधि, ये पांच प्रकार के सभासद् होते थे।

सभासदों की संख्या के विषय में वेदों में कोई उल्लेख कोई नहीं है। बृहस्पति स्मृति के अनुसार सभासदों की संख्या ७, ५ या तीन होती थी।[३९] इससे ज्ञात होता है कि सभासदों की संख्या कम से कम तीन होनी चाहिए। आवश्यकतानुसार इनकी संख्या बढ़ाई जा सकती थी और उन्हें पाँच, सात या अधिक भी कर सकते थे।

(५) सभासद् की योग्यता — सभासद् में क्या गुण और योग्यता होनी चाहिए, इस विषय में वेदों में स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं है। कतिपय मंत्रों में कुछ संकेत हैं, जिनके आधार पर सभासद् के कुछ गुणों का उल्लेख किया जा सकता है।

स्मृतियों और नीति के ग्रन्थों में सभासद् की योग्यता के विषय में स्पष्ट निर्देश हैं। याज्ञवल्क्य का कथन है कि सभासद् में ये गुण होने चाहिएँ :– वेदों और शास्त्रों का ज्ञाता हो, धर्मशास्त्र का ज्ञाता हो, सत्यवादी हो और शत्रु-मित्र सभी के प्रति समदृष्टि वाला हो एवं व्यक्तिगत राग-द्वेष से रहित हो।[४०] कात्यायन ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि सभासद् धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए। सभासद् के लिए आवश्यक है कि वह विद्वान् और कुलीन हो। साथ ही यह भी कहा है कि सदाचारी, कुलीन, धनाढ्य, राग-द्वेष से रहित एवं बड़ी आयु के कुछ वैश्यों को भी अवश्य सभासद् बनावे।[४१]

शुक्रनीतिकार ने सभासद् के ये गुण बताए हैं :– लोक-व्यवहार में कुशल हो, बुद्धिमान्

---

३८. त्वां विशो वृणतां राज्याय, त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः । अथर्व० ३.४.२

३९. बृहस्पति स्मृति १.११

४०. श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ।। याज्ञ० व्यवहाराध्याय २

४१. कुलशीलवयोवृत्त-वित्तवद्भिरमत्सरैः ।
वणिग्भिः स्यात् कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम् ।। कात्यायन०, मिताक्षरा व्यव. श्लोक २ में उद्धृत ।

हो, सदाचार दया आदि गुणों से युक्त हो, व्यक्तिगत राग-द्वेष से रहित हो, धर्मशास्त्र का ज्ञाता हो, सत्यवादी हो, आलस्य, प्रमाद, काम, क्रोध, लोभ आदि से रहित हो, मधुरभाषी हो, सभा में अनुशासन-पालन करने वाला हो और आयु-वृद्ध हो। शुक्राचार्य का मत है कि सभासद् किसी जातिविशेष के न हों, अपितु सभी जातियों से योग्य व्यक्तियों को सदस्य बनाया जाय।[४२]

वेदों में सभासद् के इन गुणों के संकेत प्राप्त होते हैं :– १. ऋग्वेद में 'धिया वरेण्यः' के द्वारा निर्देश है कि योग्य, विद्वान् और कर्मठ व्यक्ति का ही वरण (चयन या निर्वाचन) किया जाना चाहिए। मंत्र में दक्ष शब्द के द्वारा दक्षता, कार्य-कुशलता और कर्तव्यपरायणता का संकेत है।[४३] ऐसे चयन से अयोग्य व्यक्ति सभासद् न हो सकेंगे।

२. अथर्ववेद में निर्देश है कि 'चारु वदानि' सभा में सदस्य मधुर और प्रिय वाणी बोलें।[४४] इससे ज्ञात होता है कि सभासद् में मृदुभाषिता और शिष्ट-भाषण का गुण होना चाहिए। इसी मंत्र में सभासद् का दूसरा गुण 'पितरः' कहा गया है। सभासद् में पिता के गुण होने चाहिएँ। वह अनुभवी, आयुवृद्ध और पितृवत् सबके साथ शिष्ट व्यवहार करने वाला हो।

३. ऋग्वेद के अनुसार सभासद् यशस्वी और लोकोपकारी होना चाहिए।[४५] 'यशसा आगतेन' के द्वारा यशस्विता का निर्देश है। जनता का हित करने, लोकोपकार और समाजिक कार्यों में विशेष रुचि रखने से ही व्यक्ति का समाज में यश होता है। ऐसे व्यक्ति को ही जनता अपना सभासद् या प्रतिनिधि चुनना चाहती है।

४. ऋग्वेद में सभासद् के एक गुण 'भद्रवाचः' के द्वारा मृदुभाषिता, शिष्टभाषण, भद्र वचन, निन्दा या आक्षेपयुक्त वचन का न कहना अभीष्ट है।[४६] कटु-भाषण सभासद् की प्रतिष्ठा का घातक है। शिष्टभाषी सभासद् का ही सभाओं में गुणगान होता है।

५. अथर्ववेद में 'बृहद् वदेम' के द्वारा बृहद् वक्तृत्व का संकेत है।[४७] बृहद् वचन

---

४२. व्यवहारविदः प्राज्ञाः वृत्तशीलगुणान्विताः ।
रिपौ मित्रौ समा ये च, धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।।
निरालसा जितक्रोध-काम-लोभाः प्रियंवदाः ।
सभ्याः सभासदः कार्या वृद्धाः सर्वासु जातिषु ।। शुक्र० २. १६०-१६१

४३. धिया चक्रे वरेण्यः, दक्षस्य पितरं तना । ऋग्० ३.२७.९

४४. चारु वदानि पितरः संगतेषु । अथर्व० ७.१२.१

४५. सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन, सभासाहेन सख्या सखायः । ऋग्० १०.७१.१०

४६. भद्रवाचो, बृहद् वो वय उच्यते सभासु । ऋग्० ६.२८.६

४७. बृहद् वदेम विदथे सुवीराः । अथर्व० १८.३.२४

का तात्पर्य ओजस्वी, गम्भीर, स्पष्ट और सारयुक्त वचन से है। ओजस्वी वक्ता ही सभा को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है।

६. ऋग्वेद में सदस्य का एक और गुण बताया गया है 'सं वाक्' अर्थात् समीचीन वाणी, सत्यवादी होना, यथार्थवक्ता, जैसा देख-सुना हो वैसा ही कहना।[४८] इस प्रकार सभासद् का यथार्थवादी होना आवश्यक है।

७. अथर्ववेद में सभा के सदस्य के लिए कहा है कि – वह सारी सभा का वर्चस् (तेज) और ज्ञान अपने अधीन कर ले।[४९] इससे ज्ञात होता है कि सदस्य को वर्चस्वी और ज्ञानवान् होना चाहिए। इसी मंत्र में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह मुझे अपने गुणों का भागी बनावे। इससे ज्ञात होता है कि सदस्य में इन्द्र के ओज, पराक्रम, निर्भीकता, शक्तिमत्ता आदि गुण होने चाहिएँ।

८. अथर्ववेद में यह भी निर्देश है कि सभा के सदस्य सभा में चारु (सुन्दर, उचित, तथ्य, सत्य) ही बोलें।[५०] सभा में सत्य एवं न्यायोचित बोलना सदस्य का कर्तव्य है।

इससे ज्ञात होता है कि सभा की सदस्यता के लिए अभ्यर्थी को इन गुणों से युक्त होना चाहिए :– विद्वत्ता, मृदुभाषिता, पितृवत् सर्वहितैषिता, आयु-वृद्धता, यशस्विता, लोकोपकारिता, शिष्ट-भाषिता, उच्च कोटि की वक्तृत्वकला, यथार्थवादिता, तेजस्विता, निर्भीकता, सत्यवादिता और न्यायप्रियता।

(६) सभासद् के कार्य — प्रत्येक सभासद् का कर्तव्य होता था कि वह सभा के नियमों का पालन करे और सभा की मर्यादा की रक्षा करे। अतएव अथर्ववेद में कहा गया है कि सभासद् सभा में सभ्यता और शिष्टता का व्यवहार करे तथा सभा की मर्यादा की रक्षा करे।[५१] अथर्ववेद में सभासद् का यह भी कर्तव्य बताया गया है कि वह 'सवाचस्' अर्थात् सत्य बोलने वाला हो। जैसा जो कुछ देखा-सुना है, उसे वैसा ही कहे। साथ ही सवाचस् का यह भी अर्थ निकलता है कि सभी सदस्यों का सामूहिक मत एक हो। सवाचस् ऐकमत्य का व्यंजक है।[५२]

(७) सभासदों के विशेषाधिकार — सभासदों के विशेषाधिकार के विषय में

---

४८. सभावती विदथ्येव सं वाक् । ऋग्० १.१६७.३

४९. एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु । अथर्व० ७.१२.३

५०. याः सभा अधि भूम्याम्, ... तेषु चारु वदेम ते । अ० १२.१.५६

५१. सभ्यः सभा मे पाहि, ये च सभ्याः सभासदः । अ० १९.५५.५

५२. ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः । अ० ७.१२.२

वेदों में स्पष्ट कोई उल्लेख नहीं है। कुछ संकेतों के आधार पर विशेषाधिकार का अनुमान लगाया जा सकता है।

अथर्ववेद में सभा के प्रसंग में 'समासीन' शब्द का प्रयोग हुआ है।[५३] इसका अभिप्राय यह है कि सभा के सभी सदस्यों को समान आसन प्रदान किया जाता था। सभा का सदस्य चाहे किसी भी जाति, वर्ण या रूपरंग आदि का क्यों न हो, उसे सभा में समानता का अधिकार प्राप्त था और वह समान आसन पर बैठता था। यह सभा की जनतांत्रिक व्यवस्था का रूप था।

अथर्ववेद के अनुसार सभासदों को दूसरा विशेषाधिकार सभा से भाव-प्रकाशन या विचार-अभिव्यक्ति का था। सभा में सभासद् अपने विचारों को पूर्ण स्वतंत्रता के साथ रख सकता था। साथ ही 'सवाचस्' शब्द से यह भी भाव प्रकट होता है कि विचार-विनिमय के बाद वे एकमत या एक राय स्थापित करें।[५४] यह विचार-स्वातन्त्र्य का प्रतीक है।

(८) सभापति — सभा के अध्यक्ष के लिए यजुर्वेद में सभापति शब्द मिलता है। साथ ही सभापति को नमस्कार भी कहा गया है।[५५] इससे ज्ञात होता है कि सभापति का पद आदरणीय और संमानास्पद था। सभापति का कार्य सभा का संचालन और न्याय एवं दंड की व्यवस्था करना था। अतः वह एक प्रकार से न्यायाधीश का कार्य करता था। महाभारत में न्यायाधीश के लिए 'सभास्तार' शब्द मिलता है।[५६] सभापति की नियुक्ति किस प्रकार होती थी, उसके अधिकार और कर्तव्य क्या थे, इस विषय पर वेदों में कहीं कोई सामग्री प्राप्त नहीं होती है।

(९) सभा के कार्य — सभा का प्रमुख कार्य था – न्याय की ठीक व्यवस्था करना। यजुर्वेद में न्याय-व्यवस्था के लिए धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है और कहा गया है कि धर्म (न्याय-व्यवस्था) के लिए सभा की शरण में जावे।[५७] इससे ज्ञात होता है कि सभा का मुख्य कार्य था – विवादग्रस्त सभी विषयों पर विचार करना और उन पर अपना निर्णय देना। किसने कितना अपराध किया है, किसे क्या दण्ड मिलना चाहिए, ये सभी बातें सभा के कार्यक्षेत्र में आती थीं।

राष्ट्रीय सभा में यह कार्य सभापति करता था और उसका निर्णय अन्तिम समझा जाता

---

५३. एषामहं समासीनानाम्० । अ० ७.१२.३

५४. ते मे सन्तु सवाचसः । अ० ७.१२.२

५५. नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च । यजु० १६.२४

५६. महाभारत ४.१.२४

५७. धर्माय सभाचरम् । यजु० ३०.६

था। तैत्तिरीय संहिता और मैत्रायणी संहिता में 'ग्राम्यवादी' का उल्लेख है।[५८] इससे ज्ञात होता है कि ग्रामसभा के सभापति को ग्राम्यवादी कहा जाता था। यह ग्रामसभा या पंचायत का अध्यक्ष होता था। ग्राम के सभी वाद-विवादों को निबटाना और उन पर निर्णय देना इसका कार्य होता था। मैत्रायणी संहिता में स्पष्ट रूप से ग्राम्यवादी की सभा का उल्लेख है।[५९] इससे ज्ञात होता है कि राष्ट्रीय स्तर से लेकर ग्रामीण स्तर तक न्याय-व्यवस्था का उत्तरदायित्व सभा-संगठन पर होता था।

ऋग्वेद में सभा के प्रसंग में दो विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है - किल्बिषस्पृत् (-स्पृध्) और पितुषणिः। किल्बिषस्पृत् का अर्थ है– पाप और अपराध से मुक्ति और पितुषणि का अर्थ है – अन्न या भोज्य पदार्थ की प्राप्ति। मंत्र का कथन है कि यदि उच्चकोटि का वक्ता सभा में विजय प्राप्त कर लेता है और पाप एवं अपराध के दोषी को मुक्त करा लेता है तथा अन्न और भोज्य पदार्थ प्राप्त करा देता है तो उसके सारे मित्र उसका अभिनन्दन करते हैं।[६०] मंत्र में उच्च कोटि के वक्ता और सभा में अपनी धाक जमा लेने वाले सभासद् के लिए 'सभासाह' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस मंत्र में सभा के संमुख प्रस्तुत होने वाले दो प्रकार के अभियोगों (मुकदमों) का संकेत है। किल्बिषस्पृध् से पाप, अशिष्ट- व्यवहार, अनाचार आदि के अभियोग और अपराध के द्वारा फौजदारी के मुकदमे। पितुषणि से अन्न आदि से संबद्ध मुकदमे। इसमें जमीन, खेती और मकान आदि से संबद्ध मुकदमे आते हैं। सभा में यदि उत्तम वक्ता कत्ल आदि के दोषी को निर्दोष सिद्ध करके बचा लेता है और मकान खेती आदि से संबद्ध मुकदमों में खेत आदि बचा लेता है तो वह वक्ता यशस्वी माना जाता है। इस मंत्र से ज्ञात होता है कि सभा में पाप और सभी प्रकार के अपराधों के मुकदमे चलते थे। साथ ही खेती और मकान आदि से संबद्ध मुकदमे भी प्रस्तुत होते थे। सभा इस विषय में दोनों पक्षों का कथन सुनकर निर्णय देती थी। सभा का निर्णय अन्तिम माना जाता था।

इस बात की पुष्टि अथर्ववेद के 'नरिष्टा' शब्द से होती है। अथर्ववेद में सभा को नरिष्टा कहा गया है।[६१] सायण ने नरिष्टा की व्याख्या की है – न+रिष्टा, अर्थात् जिसके निर्णय को कोई टाल नहीं सकता है। सभा के सभी सदस्य एक मत से जो निर्णय सुना देते हैं,

---

५८. यः परस्ताद् ग्राम्यवादी स्यात्। तैत्ति० २.३.१.३

५९. यः पुरस्ताद् ग्राम्यवादी स्यात्, तस्य सभायाः। मैत्रा० २.२.१

६०. सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन, सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्वेषामरं हितो भवति वाजिनेषु। ऋग्० १०.७१.१०

६१. विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः।। अ० ७.१२.२

उसे टालने का कोई साहस नहीं कर सकता है।[६२] इससे ज्ञात होता है कि न्याय के मामले में सभा सर्वोच्च संस्था मानी जाती थी।

नरिष्टा का एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है। नर+इष्टा, नरों के इष्ट अर्थात् नरहितकर्त्री या जन-हित-साधिका। सभा जनता का हित करती थी, अतः उसे नरिष्टा कहा गया है।

यजुर्वेद में एक प्रसंग में सभास्थाणु अर्थात् सभापीठ का उल्लेख है और कहा गया है कि आस्कन्द अर्थात् आक्रमण से रक्षा के लिए है।[६३] इसका अभिप्राय यह है कि सभापीठ या सभास्थान आक्रमण से रक्षा के लिए उपयुक्त स्थान है। यह आक्रमण क्या और किस प्रकार का हो सकता है, यह अनुमान का विषय है। संभवतः इसका अभिप्राय यह ज्ञात होता है कि यदि किसी के संमान, प्रतिष्ठा, जीवन, संपत्ति, विचार-स्वतंत्रता आदि पर आक्रमण या आघात होता था तो वह सभा की शरण में जाता था और न्याय की पुकार करता था। सभा उसके अधिकार आदि की सुरक्षा प्रदान करने की व्यवस्था करती थी। इस प्रकार सभा जीवन, संपत्ति आदि पर आक्रमण या अतिक्रमण होने पर न्याय देने के कारण न्यायालय का कार्य करती थी।

यजुर्वेद से ज्ञात होता है कि सभा में भी कुछ पक्षपात या अन्यायपूर्ण कार्य हो जाता था। इसको पाप माना जाता था और इसके लिए सभी सभासद् दोषी माने जाते थे। इसके लिए प्रायश्चित्त आदि के रूप में विशेष यज्ञों का विधान था।[६४] अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि सभा में कृत्या (अभिचार, प्रपंच) का प्रयोग करके सच को झूठ और झूठ को सच सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता था। इस प्रकार के प्रपंच या तिकड़म को असफल करने की व्यवस्था की जाती थी।[६५] इसलिए मनुस्मृति आदि में स्पष्टरूप से कहा गया है कि यदि सभा में कोई पक्षपातपूर्ण या असत्य निर्णय लिया जाता है तो सारी सभा दोषी मानी है। जहाँ सत्य के स्थान पर असत्य और धर्म के स्थान पर अधर्मयुक्त निर्णय लिया जाता है, वहाँ सभी सभासद् पापी और कर्तव्यच्युत माने जाते हैं।[६६] ऐसे झूठे निर्णयों में अपराधी, गवाह, अध्यक्ष और सभासद् तथा राजा सभी समानरूप से पाप के भागी होते हैं।[६७]

---

६२. नरिष्टा अहिंसिता परैरनभिभाव्या । बहवः संभूय यद्येकं वाक्यं
वदेयुः, तद् हि न परैरतिलङ्घ्यम् । अतः अनतिलङ्घ्यवाक्यत्वाद्
नरिष्टेति नाम सभाया युज्यते । सायण, अ० ७.१२.२

६३. आस्कन्दाय सभास्थाणुम् । यजु० ३०.१८

६४. यत् सभायां ... यदेनश्चकृमा वयम् । यजु० २०.१७

६५. यां ते चक्रुः सभायां: .. प्रति हरामि ताम् । अथर्व० ५.३१.६

६६. यत्र धर्मो ह्यधर्मेण, सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां, हतास्तत्र सभासदः ।। मनु० ८.१४

६७. पादोऽधर्मस्य कर्तारं, पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान् , पादो राजानमृच्छति ।। मनु० ८.१८

शुक्ल यजुर्वेद से संबद्ध पारस्कर गृह्यसूत्र में सभा को नादि और त्विषि कहा है।[६८] इसके टीकाकार जयराम ने इसकी व्याख्या की है कि सभा नादि है, क्योंकि इसमें शब्द या हल्ला होता है।[६९] इसका अभिप्राय यह है कि सभा में सभापति अपना निर्णय देने से पूर्व पक्ष और विपक्ष के वक्ताओं की बातों को सुनता था और इस कार्य में दोनों पक्षों के लोगों का हल्ला भी होता था। त्विषि का अर्थ दीप्त या चमकने वाला किया है। इसका अभिप्राय यह है कि सभा अपने उच्च निर्णयों के कारण सर्वत्र प्रकाशित होती थी और लोग उन निर्णयों की प्रशंसा करते थे। प्रो० ओल्डेनबर्ग ने 'सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' में इन दोनों शब्दों का अनुवाद - विपत्ति (Trouble) और घोर (Vehemence) किया है।[७०] इसका अभिप्राय यह है कि फौजदारी के मुकदमों में अपराधी या अभियुक्त को ऐसे न्यायालय विपत्तिरूप और भयंकर लगते हैं, क्योंकि ऐसे न्यायालयों में उन्हें मृत्युदंड तक मिलने की संभावना रहती है। यदि अपराधी दंड से मुक्त हो जाता है तो यह प्रसन्नता की बात होती है।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि सभा एक न्यायालय का कार्य करती थी। इसमें दीवानी और फौजदारी दोनों तरह के मुकदमे सुने जाते थे और उनपर अन्तिम निर्णय दिया जाता था। सभा और सभापति से आशा की जाती थी कि वह न्यायसंगत ही निर्णय देंगे। इस निर्णय में किसी प्रकार का पक्षपात और अनौचित्य होता था तो इसके लिए सभापति और सदस्यों की निन्दा की जाती थी। अथर्ववेद का कथन है कि नियमों और अनुशासन का पालन न करने वाली संसद् या सभा को इन्द्र नष्ट कर देता है।[७१]

अथर्ववेद का यह भी कथन है कि पंच जनों अर्थात् पंचायत में इन्द्र (राजा) की शक्ति निहित है।[७२] इसका अभिप्राय यह है कि पंचायत-शासन भी राजा का अंग है और उसका निर्णय उतना ही मान्य है, जितना राजा का।

ग्रामसभा और अभिलेख — डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने दक्षिण भारत में प्राप्त शिलालेखों और ताम्रपत्रों के आधार पर ग्रामसभाओं और समितियों के कार्यों आदि के विषय में बहुत विस्तृत सूचना दी है।[७३] इसमें ग्रामसभाओं के कार्यों की लंबी सूची दी गई है। इसमें

---

६८. नादिर्नामासि त्विषिर्नामासि । जयराम, पार० गृ० ३.१३

६९. नदनशीला दीप्ता धर्मनिरूपणात् । जयराम, पार० ३.१३.

७०. oldenberg - Trouble, Vehemence. S.B.E. भाग २९, पृ० ३६२

७१. असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशय: । अ० २०.२९.५

७२. इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु । अ० २०.२०.२

७३. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारत की शासन-संस्थाएं और राजनीतिक विचार, १९८३, पृ० २५५ से २५८

से कुछ महत्त्वपूर्ण बातें यहाँ दी जा रही हैं। इससे ज्ञात होता है कि सभाओं का क्या महत्त्व था और सभाओं का कार्यक्षेत्र कितना व्यापक था।

ग्राम-संस्थाओं का स्वरूप छोटे राज्यों के समान था। ये प्रायः उन सभी कार्यों को करती थीं, जो राज्य किया करते थे। इनका कार्य था :– अपने क्षेत्र के सभी प्रकार के झगड़ों और अभियोगों का फैसला करना, मंडी और बाजार का प्रबन्ध करना, टैक्स वसूल करना, ग्रामविकास के लिए नये कर लगाना, ग्रामवासियों से ग्राम के विकास के लिए कार्य लेना, जलाशयों, खेतों आदि की देख-भाल करना, आवश्यकतानुसार धन जमा करना और उस पर सूद देना, दुर्भिक्ष आदि के समय आवश्यक व्यवस्था करना, जिससे कोई भूखा न मरे, शिक्षा आदि के लिए धन खर्च करना, शत्रुओं और डाकुओं आदि से सुरक्षा की व्यवस्था करना, ऐसे कार्य में विशेष पराक्रम दिखाने वालों को पुरस्कृत करना, यदि कोई शहीद हुआ है तो उसके परिवार को भूमि प्रदान करना, ग्राम को हानि पहुंचाने वाले को ग्रामद्रोही घोषित कर दंड देना, राजकीय कर वसूल करना और उसका पूरा हिसाब रखना। इस कार्य में शिथिलता करने पर कठोर दंड देना।

इन शिलालेखों और ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि ग्रामसभाओं के जो कार्य प्राचीन समय में प्रचलित थे, उनका ही विस्तृत रूप इनमें वर्णित है।

(१०) सभा की कार्य-प्रणाली — सभा के कार्यों का किस प्रकार संचालन होता था, इस विषय पर वैदिक साहित्य में सामग्री का अभाव है, अतः इसकी विस्तृत रूपरेखा देना संभव नहीं है। अथर्ववेद आदि में कुछ संकेत प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर कार्यप्रणाली का अनुमान किया जा सकता है।

अथर्ववेद में सभा के सदस्यों के लिए 'पितरः' शब्द आया है।[७४] जयराम ने परस्करगृह्य सूत्र में सभा को 'नादि' और 'त्विषि' कहा है।[७५] इन दोनों प्रसंगों को संमिलित करने से ज्ञात है कि वादी सभा में अपने पक्ष को प्रस्तुत करता था। उसपर वादी और प्रतिवादी अर्थात् पक्ष और विपक्ष अपने तथ्य प्रस्तुत करते थे। दोनों पक्षों में तर्क-वितर्क में हल्ला भी होता था, अतः सभा 'नादि' (शब्दयुक्त, हो-हल्ला-युक्त) हो जाती थी। 'पितरः' के द्वारा संकेत है कि सभासद् उस विषय पर पक्षपातयुक्त न होकर पिता के तुल्य सहृदयता एवं सहानुभूति से विचार करते थे और उनका निर्णय सहानुभूतिपूर्ण होता था। अथर्ववेद के 'सवाचसः' शब्द से ज्ञात होता है कि सभासदों का निर्णय सर्वसंमति से होता था।[७६] ऐसा भी संभव था कि किसी विषय पर सभी सभासदों की राय एक न हो और मत-विभाजन की आवश्यकता पड़ती

७४. सभा च मा समितिश्च ... पितरः संगतेषु । अथर्व० ७.१२.१

७५. नादिर्नामासि त्विषिर्नामासि । जयराम, पार० गृ० ३.१३

७६. सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः । अ० ७.१२.२

हो, ऐसी स्थिति में बहुमत के आधार पर ही निर्णय होता था। अथर्ववेद के इस कथन से कि सभी सभासदों का समर्थन प्राप्त हो, ज्ञात होता है कि सभी सभासदों का समर्थन न मिलने पर बहुमत से ही निर्णय लिया जाता था।[७७] अथर्ववेद के एक मंत्र से यह भी संकेत मिलता है कि जिस समय वादी-प्रतिवादी अपना पक्ष प्रस्तुत कर रहे हों, उस समय सभासद् अपना ध्यान इधर-उधर न बटावें, अपितु प्रस्तुत विषय पर एकचित्त हो दोनों पक्षों की बात सुनें और सावधानी से अपना निर्णय दें।[७८]

'त्विषि' शब्द से ज्ञात होता है कि सभा का निर्णय न्यायपूर्ण होता था, अतः वह तेजोमय या प्रकाशशील होता था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सभासदों का कर्तव्य था कि वे जो भी निर्णय दें, वह धर्मसंमत और न्यायपूर्ण हो।[७९]

अथर्ववेद में इसी प्रसंग में सभा के लिए 'नरिष्टा' शब्द का प्रयोग हुआ है।[८०] नरिष्टा का सायण ने अर्थ दिया है - अहिंसिता, परैरनभिभाव्या। अर्थात् सभा ने जो निर्णय लिया है, वह सर्वसंमति या बहुसंमति से लिया गया है, अतः वह निर्णय अनिवार्यरूप से मान्य है। उसका किसी भी अवस्था में उल्लंघन नहीं होना चाहिए। अतः वह निर्णय नरिष्ट या अहिंसित है।

अथर्ववेद के एक मंत्र से संकेत मिलता है कि सभा में प्रत्येक सदस्य को अपना मत स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करने का अधिकार था। जिस समय एक सदस्य बोलता था, उस समय अन्य किसी सदस्य को बोलने का अधिकार नहीं था।। एक सदस्य द्वारा अपना अभिमत प्रस्तुत करने के बाद ही दूसरे सदस्य को बोलने का अधिकार था। अतएव अथर्ववेद में कहा गया है कि जब मैं सभा में भाषण करता हूँ, उस समय तू मत बोल। मेरे भाषण के पश्चात् ही तू बोल।[८१]

इससे ज्ञात होता है कि सभा का संचालन एवं नियन्त्रण सभापति के द्वारा होता था। सभा की कार्यवाही की कुछ निश्चित व्यवस्था थी, तदनुसार सभापति सभा-संचालन करता था।

(११) सभा की न्यायसमिति — अथर्ववेद के एक मंत्र में सभा के सदस्यों के लिए सभासद् और सभ्य दो शब्दों का प्रयोग किया गया है।[८२] इनमें भी सभ्य शब्द का

---

७७. अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु । अ० ७.१२.३

७८. यद् वो मनः परागतं ... तद् व आ वर्तयामसि । अ० ७.१२.४

७९. नदनशीला, दीप्ता, धर्मनिरूपणात् । जयराम,पार० ३.१३

८०. विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि । अ० ७.१२.२

८१. अहं वदामि नेत् त्वं, सभायामह त्वं वद । अ० ७.३८.४

८२. सभ्यः सभां मे पाहि, ये च सभ्याः सभासदः । अ० १९.५५.५

दो बार प्रयोग है और सभासद् का एक बार। सभ्य शब्द पर विशेष बल देते हुए कहा गया है कि सभा की रक्षा का विशेष उत्तरदायित्व सभ्यों पर है। इससे ज्ञात होता है कि सभा के सदस्यों को दो कोटि में रखा गया है – (१) सामान्य सभासद् या सदस्य, (२) विशिष्ट, संमानित, सुयोग्य या प्रतिष्ठित सदस्य। इन प्रतिष्ठित सदस्यों को सभ्य की श्रेणी में रखा जाता था।

इससे यह भी ज्ञात होता है कि सभा में सामान्य स्तर के सभी कार्यों को सभी सदस्य निबटाते थे। परन्तु न्याय-संबन्धी निर्णय के लिए कुछ विशिष्ट योग्यता अपेक्षित होती थी, अतः सभा के सदस्यों में जो योग्यता, विद्वत्ता या शास्त्रज्ञता के आधार पर विशिष्ट सदस्य होते थे, जिन्हें सभ्य नाम से संबोधित किया जाता था, उनकी एक न्यायसंबन्धी विशिष्ट समिति होती थी। यह उपसमिति न्यायसमिति या न्यायालय का कार्य करती थी। न्यायसंबन्धी सभी मुकदमे निबटाना इस समिति के सभ्यों का काम होता था।

ऐसा ज्ञात होता है कि इन न्यायसमितियों से ही परकाल में न्यायालयों का विकास हुआ है। शुक्रनीति और मनुस्मृति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय तक सभ्य न्यायालयों का विकास चरम सीमा पर पहुँच गया था।

मनुस्मृति के अनुसार सभा में कम से कम तीन सदस्य होते थे।[८३] इनमें भी वेदज्ञों को प्रधानता दी जाती थी।[८४] सभा में यदि कोई अन्यायपूर्ण निर्णय होता था तो उसके लिए सभी सभासद् दोषी माने जाते थे।[८५]

शुक्रनीति में न्यायाधीश और सभासदों की नियुक्ति के विषय में विस्तार से विवेचन किया गया है। न्यायाधीश के लिए आवश्यक बताया गया है कि वह वेदज्ञ, सदाचारी, निर्भय, अक्रोधी और धर्मात्मा हो।[८६] इसी प्रकार सभासदों के लिए बताया है कि वे न्यायविद्, सदाचारी, सत्यवादी, रागद्वेष-रहित हों।[८७] सभासदों में सुयोग्य वैश्यों को भी अवश्य रखे।[८८] संभा में शास्त्रज्ञ संस्कृत में ही अपना मत प्रस्तुत करें।[८९] राजा अनेक शास्त्रों के ज्ञाता को

---

८३. सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः । सभामेव प्रविश्य० । मनु० ८.१०

८४. विप्रा वेदविदस्त्रयः । ब्रह्मणस्तां सभां विदुः । मनु० ८.११

८५. धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण ... विद्धास्तत्र सभासदः । मनु० ८.१२

८६. ब्राह्मणं वेदपारगम् । दान्तं कुलीनं .. क्रोधवर्जितम् । शुक्र० ४.५. १२-१३

८७. व्यहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः । शुक्र० पृ० ३१४

८८. श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्तव्याः सुविचक्षणाः । शुक्र० पृ० ३१६

८९. दैवीं वाचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति । शुक्र० पृ० ३१६

ही निर्णय करने का अधिकारी (न्यायाधीश) बनावे।[९०] हत्या, चोरी, डाका आदि के मुकदमे शीघ्रातिशीघ्र निबटावे।[९१]

शुक्राचार्य ने अपराधों आदि की भी गणना की है। जिनमें ५० प्रकार के छल-प्रपंच, १० बड़े अपराध और २३ विभिन्न अपराधों का भी उल्लेख किया है।[९२] इन पर सभा या न्यायालय विचार करता था और अपना निर्णय देना था। यह भी उल्लेख है कि वादी-प्रतिवादी जो भी बयान या आवेदन देते हैं, उस पर उनके हस्ताक्षर अवश्य करवावे और बयान पर सरकारी मुहर भी लगाई जावे।[९३] पक्षपात करने वाले अधिकारी का हटा दे और दण्डित करे।[९४]

(१२) सभा में नारी सदस्य — सभा में नारियों को सदस्यता प्राप्त थी, इसका स्पष्ट उल्लेख वेदों में नहीं है। कतिपय संकेत ऐसे प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सभा की सदस्य नारियाँ भी होती थीं। वे सभा की अध्यक्षता भी करती थीं और प्रमुख वक्ता के रूप में भाग लेती थीं। इन्द्राणी का स्वयं कथन है कि मै विदुषी हूँ, मूर्धन्य हूँ और उग्र भाषण देने वाली हूँ।[९५] ऋग्वेद के इस मंत्र से तीन बातें ज्ञात होती हैं:- स्त्रियाँ विदुषी होती थीं, वे उच्च पद प्राप्त करती थीं और प्रखर वक्ता भी होती थीं। अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि सभा में जब मैं बोलूं, तब तुम न बोलना।[९६] इससे ज्ञात होता है कि स्त्री सभा की सदस्या होती थी और सभा में बोलती थी। अथर्ववेद और यजुर्वेद के मन्त्रों से ज्ञात होता है कि स्त्री सभा आदि में विजयिनी और अजेय होती थी।[९७] अथर्ववेद में सरस्वती के लिए कहा गया है कि तुम तेजस्विनी हो,तुम विष्णु के तुल्य प्रतिष्ठित हो।[९८]

---

९०. एकं शास्त्रमधीयानो न विन्द्यात् कार्यनिर्णयम् । शुक्र० पृ० ३१७

९१. मनुष्यमारणे स्तेये साहसेऽत्ययिके सदा ।
न कालनियमस्तत्र सद्य एव विवेचनम् । शुक्र० पृ० ३२१

९२. पञ्चाशत् छलानि० । शुक्र० पृ० ३२४ - ३२५
अपराधा दशैव तु । शुक्र० पृ० ३२६
द्वाविंशतिपदानि० । शुक्र० पृ० ३२६

९३. वादिनश्चिह्नितं साक्ष्यं कृत्वा राजा विमुद्रयेत् । शुक्र० पृ० ३२७

९४. सभ्यादीन् दण्डयित्वा तु ह्यधिकाराद् निवर्तयेत् । शुक्र० पृ० ३२८

९५. अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी । ऋग्० १०.१५९.२

९६. अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद । अथर्व० ७.३८.४

९७. अहमस्मि सहमाना० । अथर्व. ३.१८.५
अषाढासि सहमाना सहस्वाराती: । यजु० १३.२६

९८. प्रति तिष्ठ विराडसि, विष्णुरिवेह सरस्वति । अथर्व० १४.२.१५

इससे ज्ञात होता है कि स्त्री को प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त होता था। ऋग्वेद में एक मंत्र में उषा देवी के विषय में कहा गया है कि वह युवती लज्जा छोड़कर या निर्भीक होकर सबसे आगे चलती है।[९९] इससे ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ सभा आदि में निर्भीक होकर जाती थीं। ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक मंत्र का कथन है कि स्त्रियाँ यज्ञ आदि में जाती थीं और ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करती थीं।[१००] इससे यह भी ज्ञात होता है कि स्त्रियां सामूहिक यज्ञ आदि कार्यों में जाती थीं। वे यज्ञ में ब्रह्मा का स्थान ले सकती थीं तो सभा में भी अवश्य भाग लेती होंगी।

ऋग्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषिकाओं ने ४२२ मंत्रों का दर्शन किया था और उनका प्रवचन किया था। ऐसी २५ वेदज्ञ ऋषिकाएं हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं :- सूर्या सावित्री, इन्द्राणी, यमी, अदिति, वाक् आम्भृणी, घोषा, अपाला, उर्वशी, शची, रोमशा और श्रद्धा कामायनी।[१०१] जो विदुषी स्त्रियां वेदज्ञ थीं और मूर्धन्य प्रवक्ता थीं, उन्हें अवश्य सभा में स्थान प्राप्त होता होगा।

उपनिषदों आदि में ऐसे प्रसंग हैं, जिससे ज्ञात होता है कि विदुषी स्त्रियाँ विद्वत्परिषदों आदि में वाद-विवाद में भाग लेती थीं। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के अध्यात्मविषयक वाद-विवाद का वर्णन है।[१०२] इसी उपनिषद् में गार्गी को सभानेत्री का पद दिया गया है और वह याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछती है।[१०३]

इन संकेतों से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में सभाओं में नारियों को भी सदस्यता प्राप्त थी। इस प्रकार वैदिक काल में सभा एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी और उसका समाज के उन्नयन में विशेष योगदान था।

३. समिति

(१) समिति की प्राचीनता — अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि सभा और समिति अत्यन्त प्राचीन संस्थाएँ थीं। इन दोनों की उत्पत्ति प्रजापति से कही गई है। ये दोनों प्रजापति की पुत्रियाँ हैं।[१] अथर्ववेद में एक अन्य रोचक प्रसंग आया है। उसमें सभा और समिति के

---

९९. अग्र एति युवतिरहरयाणा । ऋग्० ७.८०.२

१००. संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।
वेधा ऋतस्य वीरिणी० । ऋग्० १०.८६.१० । अ० २०.१२६.१०

१०१. विशेष विवरण के लिए देखें मेरी पुस्तक 'वेदों में नारी' भूमिका पृ० ५ और ६ ।

१०२. मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव । बृहदा० ४.५.१

१०३. गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ । बृहदा० ३.६ और ३.८

१. सभा च मा समितिश्चावतां,
प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने । अथर्व० ७.१४.१

क्रमिक विकास का सुन्दर वर्णन है।[२] इस सूक्त में कथन है कि सबसे पहले 'विराट्' (अराजक, राजा-हीन या राज्यसंस्था-विहीन) दशा थी, इस दशा से सभी भयभीत थे कि क्या यही दशा रहेगी। उससे उत्क्रमण (विकास या परिवर्तन) होकर 'गार्हपत्य' दशा आई। उससे भी उत्क्रमण होकर 'आहवनीय' दशा आई। उससे भी उत्क्रमण होकर 'दक्षिणाग्नि' दशा आई। इससे भी उत्क्रमण होकर 'सभा' की दशा आई। इससे भी उत्क्रमण होकर 'समिति' की दशा आई। इससे भी उत्क्रमण होकर 'आमन्त्रण' की दशा आई।

इस सूक्त की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पहले 'विराज्' अवस्था थी। यह राजा-हीन या अराजक अवस्था थी। इससे जनता भयभीत थी। अतः क्रमशः विभिन्न संस्थाओं का विकास हुआ। सबसे प्रथम 'गार्हपत्य' अवस्था आई। लोग गृह या परिवार के रूप में संगठित हुए। 'परिवार' पहला संगठन था। तदनन्तर 'आहवनीय' दशा आई। सामूहिक यज्ञ आदि करने के कारण यह संगठन 'ग्राम' या आहवनीय हुआ। तदनन्तर 'दक्षिणाग्नि' दशा आई। इसमें सामूहिक यज्ञ आदि के साथ ही 'दक्षिण अग्नि' अर्थात् दक्ष या चतुर व्यक्तियों के प्रवचन आदि होने लगे। इसमें ग्रामीण संगठन को सुदृढ करने के लिए ग्राम-विकास, ग्रामीण न्याय-व्यवस्था आदि का भी समन्वय होगा। इसके पश्चात् विधिवत् 'सभा' का विकास हुआ। इसके सदस्य को 'सभ्य' कहते थे। इसका कार्य क्षेत्र विस्तृत होगया और इसने प्रायः ग्राम-पंचायत का रूप ले लिया। इसके अग्रणी या प्रमुख को 'ग्रामणी' का नाम दिया गया। इसके पश्चात् 'समिति' का विकास हुआ और उसका कार्यक्षेत्र पूरा राष्ट्र हो गया। समिति के सदस्य को 'सामित्य' कहा गया। इससे बड़ी संस्था 'आमन्त्रण' हुई। यह संस्था समिति के मंत्रिमंडल के रूप में विकसित हुई और यह राष्ट्र की सर्वोत्तम संस्था हुई।

अथर्ववेद के इस प्रकरण से समिति के विकास का क्रम ज्ञात होता है। पहले परिवार, फिर ग्राम, फिर ग्रामसभा आदि, तदन्तर सभा और उसके पश्चात् समिति। समिति का कार्यक्षेत्र पूरा राष्ट्र होता था।

अथर्ववेद के एक अन्य प्रसंग में व्रात्य (ब्रह्म) का उल्लेख करते हुए वर्णन किया गया

---

२. विराड् वा इदमग्र असीत् , तस्या जातायाः सर्वमबिभेद्० ।
सोदकामत् सा गार्हपत्ये न्यकामत् ।
सोदकामत् साहवनीये न्यकामत् ।
सोदकामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यकामत् ।
सोदकामत् सा सभायां न्यकामत् ।
सोदकामत् सा समितौ न्यकामत् ।
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति ।
सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् । अथर्व० ८.१०. १ से १२

है कि व्रात्य प्रजा के पीछे चला। उसके पीछे सभा समिति और सेना चली।[३] इससे ज्ञात होता है कि सभा और समिति अत्यन्त प्राचीन संस्थाएँ थीं।

ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में समिति और मंत्र (मंत्रणा) का उल्लेख है।[४] इससे ज्ञात होता है कि समिति का कार्य विशिष्ट मंत्रणा और विधि-निर्माण था।

(२) समिति की उपयोगिता — ऋग्वेद और अथर्ववेद में कुछ ऐसे प्रसंग आए हैं, जिनसे समिति की उपयोगिता पर प्रकाश पड़ता है। समिति कार्यपालिका और न्यायपालिका का कार्य करती थी, अतः राष्ट्र के हित और अहित का उत्तरदायित्व उस पर होता था। समिति के अधिष्ठाता के रूप में समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य होती थी।[५] वह जनकल्याण के कार्यों का संपादन करता था। राजा का उत्तरदायित्व होता था कि वह जनहित के लिए समिति का संगठन करे, जिससे शोषण, अनाचार, दुराचार, अत्याचार न होने पावे। अथर्ववेद में उल्लेख है कि जिस राष्ट्र में ब्रह्मगवी (ब्राह्मण की गाय या ब्राह्मण की संपत्ति) का अपहरण होता है और ब्रह्महत्या होती है, उस राष्ट्र में समिति कार्य नहीं कर पाती और न समय पर वर्षा होती है।[६] इससे ज्ञात होता है कि समिति राष्ट्र की सुरक्षा और शान्ति-व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होती थी।

ऋग्वेद के एक सूक्त में समिति की उपयोगिता के विषय में कुछ तथ्य दिए गए हैं।[७] ये हैं :– १. राष्ट्र की सुरक्षा-व्यवस्था और शत्रुनाशन[८], २. राष्ट्रीय आय की व्यवस्था, ३. जनकल्याण और जनता का योगक्षेम[९] ४. विविध शिल्पों की उन्नति।[१०]

यजुर्वेद में भी लोकहित-संपादन पर बल दिया गया है। इसमें समिति के लिए समित शब्द दिया गया है और कहा गया है कि वह इष् और ऊर्ज् (धन-धान्य की समृद्धि और

---

३. स विशोऽनु व्यचलत् । तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानु व्यचलन् ।
अथर्व० १५.९.१ और २

४. समानो मन्त्रः समितिः समानी । ऋग्० १०.१९१.३

५. राजा न सत्यः समितीरियानः । ऋग्० १०.९२.६

६. न वर्ष मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते । अथर्व०५.१९.१५

७. आ वोऽहं समितिं ददे । ऋग्वेद १०.१६६.५

८. हन्तारं शत्रूणां कृधि । ऋग्वेद १०.१६६.१

९. योगक्षेमं व आदाय । ऋग्० १०.१६६.५

१०. विश्वकर्मेण धाम्ना । ऋग्०१०.१६६.४

सुरक्षा) की व्यवस्था करे।[११] साथ ही लोकहित का संपादन करे और राष्ट्र में जो न्यूनताएं हैं, उनकी पूर्ति करे।[१२]

(३) समिति का संगठन — समिति का वास्तविक स्वरूप क्या था, इसकी जानकारी के लिए प्रमाणिक सामग्री का अभाव है। वेदों में जो स्फुट सामग्री प्राप्त होती है, उसके आधार पर उसकी रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

समिति शब्द सम् उपसर्ग + इ धातु (जाना) + क्तिन् (ति) प्रत्यय से बना है। इसका अर्थ है एकत्र होना, संगठित होना या सामूहिक कार्य के लिए गठित सभा आदि। सायण के समिति शब्द का अर्थ युद्ध से संबद्ध जनसभा भी लिया है।[१३] ग्रिफिथ ने समिति का यज्ञार्थ एकत्र सभा अर्थ लिया है।[१४] प्रो० ह्विटनी ने समिति का Gathering (एकत्र जनसमूह) अर्थ लिया है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने समिति का अर्थ राष्ट्रीय महासभा (National Assembly) किया है और इसे समस्त जनता की सभा कहा है।[१५]

समिति वस्तुतः राष्ट्रीय स्तर की महासभा थी, जिसमें राष्ट्र के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होता था और इसमें सार्वजनिक जीवन से संबद्ध सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार-विनिमय होता था। इसमें राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान की व्यवस्था होती थी। समिति में सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होने से यह सभा से अधिक व्यापक और उदार होती थी। सभा और समिति के संगठन में अन्तर होता था। सभा में वृद्ध, अनुभवी, ज्ञानी और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को ही सदस्याता प्राप्त होती थी, परन्तु समिति में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। इसमें सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होने से व्यापकता थी। साथ ही इसका कार्यक्षेत्र ग्राम-पंचायत आदि तक सीमित न होकर पूरे राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आदि सभी व्यवस्थाओं से संबद्ध था। सभी राष्ट्रीय समस्याओं का हल निकालना इसका कर्तव्य था।

समिति का एक अध्यक्ष होता था। उसे सभवतः समितिपति कहते थे। पारस्कर गृह्यसूत्र समिति के लिए पर्षद् (परिषद्) शब्द का प्रयोग किया है और इसके अध्यक्ष को 'ईशान' कहा है।[१६] यह अध्यक्ष आवश्यकतानुसार समिति की बैठक बुलाता था और कार्यसंचालन

---

११. समितं सं कल्पेथाम् , इषमूर्जमभि संवसानौ । यजु० १२.५७

१२. लोकं पृण छिद्रं पृण । यजु० १२.५४

१३. समितिः संयन्ति संगच्छन्ते युद्धाय यत्रेति समितिः संग्रामः । सायण

१४. Assembly, A congregation for sacrificial and religious purpose. Griffith.

१५. The Samati was the national assembly of the whole people or विशः . Hindu Polity. Page 12

१६. अस्याः पर्षद ईशानः सहसा दुष्टरो जन इति । पार० गृ० ३.१३.४

करता था। अथर्ववेद में समिति के सदस्य को 'सामित्य' कहा गया है।[१७] समिति में जो नीति निर्धारित की जाती थी या निर्णय लिया जाता था, उसे वैदिक भाषा में 'मंत्र' नाम दिया गया है।[१८]

(४) समिति की कार्यप्रणाली — ऋग्वेद और अथर्ववेद में समिति का अनेक बार उल्लेख है। ऋग्वेद में समिति के लिए कहा गया है कि समिति का निर्णय एक हो। समिति के सदस्यों के मन और चित्त एक भाव वाले हों।[१९] इस मंत्र से ज्ञात होता है कि समिति के सदस्य राष्ट्रीय समस्याओं पर गंभीरता से विचार-विनिमय करते थे, वाद-विवाद करते थे और अन्त में राष्ट्रीय हित को देखते हुए एक मत से कोई निर्णय लेते थे और उसको कार्यान्वित करते थे।

ऋग्वेद से यह भी ज्ञात होता है कि समिति में वाद-विवाद कभी उग्र भी हो जाता था और सदस्य की यह कामना होती थी कि उसकी ही बात मानी जाय। इसके लिए वक्तृत्व कला पर विशेष महत्त्व दिया गया है। वाद-विवाद में अपने तर्क के द्वारा श्रेष्ठता सिद्ध करना आवश्यक था, तभी उसकी बात मान्य होती थी। अत एव कहा गया है कि - मैं अन्य वक्ताओं को तिरस्कृत करता हुआ उपस्थित हुआ हूँ।[२०] मैं समिति में सर्वोत्तम वक्ता सिद्ध होऊँ।[२१] मैं सारी समिति का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करके समिति को अपने वश में करता हूँ।[२२] अध्यक्ष के लिए 'वाचस्पति' संबोधन देते हुए कहा गया है कि - जिस समय मैं बोल रहा हूँ, उस समय किसी दूसरे को न बोलने दिया जाय, उन्हें रोका जाय और वे मेरे बोल लेने के बाद ही बोल सकें।[२३]

यजुर्वेद में समिति (एकत्र होना) अर्थ में 'समित' शब्द का प्रयोग हुआ है और कहा गया है कि हम एकत्र होकर शुभ विचार करें और अच्छे संकल्प (चिन्तन) करें, जिससे इष् और ऊर्ज् (धन-धान्य और शक्ति) की वृद्धि हो।[२४] इसी प्रसंग में कहा गया है कि हमारे मन, चित्त और कार्य-कलाप समान हों।[२५]

---

१७. यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति । अथर्व० ८.१०.११

१८. समानो मन्त्रः समितिः समानी । ऋग्० १०.१९१.३

१९. समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः । ऋग्० १०.१९१.३

२०. अभिभूरहमागमम्० । ऋग्० १०.१६६.४

२१. अहं भूयासमुत्तमः, आ वो मूर्धानमक्रमीम् । ऋग्० १०.१६६.५

२२. आ वश्चित्तमा वो व्रतम् , आ वोऽहं समितिं ददे । ऋग्० १०.१६६.४

२३. वाचस्पते नि षेधेमान् , यथा मदधरं वदान् । ऋग्० १०.१६६.३

२४. समितं संकल्पेथाम् .. इषमूर्जम् अभि संवसानौ । यजु० १२.५७

२५. सं वां मनांसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम् । यजु० १२.५८

ऋग्वेद और अथर्ववेद में समिति को बहुत संमाननीय स्थान दिया गया है। समिति को देवी कहकर सभी देवों तक के लिए आदरणीय कहा है।[२६] इन दोनों वेदों में समिति आदि के सदस्यों के लिए दो उपयोगी उपदेश दिए गए हैं कि :– (क) सभा-संसद् में जब भी बैठें, तब जनहित को ध्यान में रखते हुए सद्बुद्धि बनाये रखे।[२७] (ख) संमेलन में प्रत्येक व्यक्ति सद्भावना से ही कार्य करे।[२८] सभा और समिति राष्ट्रीय महत्त्व की संस्थाएँ हैं, अतः इनमें शालीनता, सहृदयता और सद्भावना का विशेष महत्त्व है।

'समानो मन्त्रः समितिः समानी' से यह स्पष्ट होता है कि समिति में प्रस्ताव का सर्वसंमति से स्वीकृत होना अति-प्रशंसनीय समझा जाता था। राष्ट्र की आन्तरिक और बाह्य नीति का निर्धारण समिति के द्वारा होता था, अतः समति में सांमनस्य पर विशेष बल दिया गया है। समिति द्वारा पारित प्रस्ताव और नीतिगत निर्णयों के लिए वैदिक भाषा में 'मन्त्र' शब्द है।

समिति के अन्य क्रियाकलाप के विषय में वेदों में आवश्यक सामग्री का अभाव है, अतः इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है कि समिति की बैठकें वर्ष में कितनी बार होती थीं, उनके विषय में सूचना कितने समय पूर्व दी जाती थी, कोरम (Quorum) या गणपूर्ति के लिए कितनी संख्या आवश्यक होती थी, मतगणना आदि की क्या विधि थी।

उक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि समिति सक्रिय सजीव एवं लोकप्रिय संस्था थी। इसमें अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता थी। नीतिगत निर्णयों के लिए प्रयत्न किया जाता था कि वे सर्वसंमति से हों। समिति में आवश्यक था कि सदस्य शालीनता का व्यवहार करें।

(५) समिति के कार्य — समिति के अधिकार और कर्तव्यों का विशद वर्णन वेदों में उपलब्ध नहीं है, अतः यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है कि समिति इन कार्यों के लिए अधिकृत थी। जो स्फुट सन्दर्भ मिलते हैं, उनसे समिति के अधिकार और कर्तव्यों पर आंशिक प्रकाश पड़ता है। इन सन्दर्भों से संमिति के ये कार्य ज्ञात होते हैं :–

१. **राजा का वरण** – ऋग्वेद और अथर्ववेद में स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि समिति राजा का वरण करती थी।[२९] राजा को चुनना समिति के अधिकार क्षेत्र में था। समिति राजा

---

२६. यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु । ऋग्० १०.११.८; अ० १८.१.२६

२७. भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसदि । ऋग्० १.९४.१; अ० २०.१३.३

२८. यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असत् । अ० ३.२०.६

२९. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु । ऋग्० १०.१७३.१, अ० ६.८७.१
त्वां विशो वृणतां राज्याय । अथर्व० ३.४.२
ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह । अथर्व० ६.८८.३

के लिए कुछ उत्तरदायित्व निर्धारित करती थी, जिनका निर्वाह करना राजा के लिए अनिवार्य होता था।

२. **राजा को पदच्युत करना** – यदि राजा अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करता था तो उसे समिति पदच्युत करती थी और उसे राज्य से निर्वासित भी करती थी।[३०]

३. **निर्वासित राजा को पुनः गद्दी पर बैठाना** – यदि राजा अपने अपकृत्यों के लिए क्षमा-याचना करता था या प्रायश्चित करता था तो समिति उसे निर्वासन से बुलाकर पुनः राजगद्दी पर बैठाती थी।[३१]

४. **राजा के लिए कर्तव्य - निर्धारण** – समिति राजा के लिए कुछ उत्तरदायित्व निधारित करती थी, जिनका पालन करना अनिवार्य होता था। उनमें मुख्य कार्य थे :– (क) राज्य की सुरक्षा - व्यवस्था,[३२] (ख) राज्य में कृषि-व्यवस्था ठीक रखना, (ग) राज्य में जन-कल्याण की व्यवस्था, (घ) राज्य में सुख-समृद्धि की व्यवस्था, (ङ) राज्य की श्रीवृद्धि करना और जनता का पोषण करना।[३३]

५. **योगक्षेम की व्यवस्था**[३४] – राज्य के आय-व्यय पर समिति का नियंत्रण होता था और वह जनता के योगक्षेम के लिए उत्तरदायी होती थी।[३५]

६. **विचार-स्वातन्त्र्य का अधिकार** – समिति में अपने विचारों को स्वतन्त्ररूप से रखने का अधिकार था। वाद-विवाद करने की स्वीकृति थी।[३६] अतएव समिति में वक्तृत्व कला को महत्त्व दिया जाता था। जो वक्ता अपने भाषण से सभा या समिति को आकृष्ट कर लेता था, वह विजयी होता था।[३७]

---

३०. मा त्वद् राष्ट्रमधि भ्रशत् । ऋग्० १०.१७३.१, अ० ६.८७.१

३१. श्येनो हव्यं नयत्वा परस्माद् अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् । अ० ३.३.४
हवयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ।। अ० ३.३.५

३२. इह राष्ट्रमु धारय । अ० ६.८७.२

३३. कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा । यजु० ९.२२

३४. योगक्षेमं व आदाय० । ऋग्० १०.१६६.५

३५. ततो न उग्रो वि भजा वसूनि । अथर्व० ३.४.२

३६. अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना । ऋग्० १०.१६६.४

३७. अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु । अ० ७.१२.३
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचम्० । अ० ५.२०.११
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते । अ० १२.१.५६

७. **समिति में राष्ट्रीय एवं शास्त्रीय विषयों की चर्चा** – छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों से ज्ञात होता है कि समिति में राष्ट्रीय विषयों के अतिरिक्त शास्त्रीय, धार्मिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक विषयों पर भी चर्चा होती थी। दोनों उपनिषदों में उल्लेख है कि श्वेतकेतु आरुणेय गौतम पंचालों की समिति में गए। उस समय राजा प्रवाहण जैबलि वहाँ उपस्थित थे। राजा ने गौतम से दर्शन-विषयक पाँच प्रश्न पूछे - कैसे मनुष्य का जन्म होता है, कैसे मृत्यु होती है, कैसे पुनर्जन्म होता है, देवयान - पितृयाण मार्ग क्या हैं? आदि[३८]। इससे ज्ञात होता है कि इस प्रकार के दार्शनिक प्रश्नों की भी समिति में चर्चा होती थी। छान्दोग्य में पंचालों की समिति का उल्लेख है और बृहदारण्यक में उसे पंचालों की परिषद् कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि समिति के लिए 'परिषद्' शब्द भी प्रचलित था।

८. **समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य** – ऋग्वेद और यजुर्वेद से ज्ञात होता है कि समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य होती थी।[३९] अतएव ऋग्वेद में इस नियम का पालन करने वाले राजा के लिए 'सत्यः राजा' कहा गया है। इससे अभिप्राय यह निकलता है कि इस नियम का पालन न करने वाले राजा को दोषी (असत्यः राजा) समझा जाता था। उक्त दोनों वेदों में 'राजानः' शब्द का प्रयोग है। इससे ज्ञात होता है कि समिति में राजा के अतिरिक्त अन्य राजा या मांडलिक राजा (अधीनस्थ राजा) भी उपस्थित होते थे और राष्ट्रीय विषयों की चर्चा होती थी।[४०]

९. **अन्याय और अत्याचार को रोकना** – समिति का कर्तव्य था कि वह राज्य में अन्याय, अत्याचार, दुराचार और अराजकता की स्थिति को रोके। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ होती थी तो यह समझा जाता था कि समिति का अस्तित्व नहीं रह गया है। अथर्ववेद के तीन सूक्तों में 'ब्रह्मजाया' और 'ब्रह्मगवी' सूक्तों में कहा गया है कि जिस राष्ट्र में ब्राह्मणों की स्त्री का अपहरण, ब्राह्मणों (द्विजों) की गाय की हत्या, विद्वानों की वाणी (गौ) पर अंकुश लगाया जाता है, उस राष्ट्र में समिति का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। ऐसे राष्ट्र में वर्षा नहीं होती, अकाल या दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।[४१]

---

३८. श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय । तं ह प्रवाहणो जैबलिरुवाच । छान्दोग्य उप० ५.३.१
श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदम् आजगाम । स आजगाम जैवलिं प्रवाहणम्० । बृहदा० उप० ६.२.१

३९. राजा न सत्यः समितीरियानः । ऋग्० ९.९२.६

४०. यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव । ऋग्० १०.९७.६ । यजु० १२.८०

४१. (क) अथर्व० ५ सूक्त १७ से १९
(ख) न वर्ष मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते । अ० ५.१९.१५

१०. **समिति की दिव्यरूपता** – ऋग्वेद और अथर्ववेद का कथन है कि समिति देवी के तुल्य मान्य और आदरणीय है। देवता भी इसका आदर करते हैं।[४२] ऋग्वेद का कथन है कि समिति दिव्य रूप है। यह अपना उत्कृष्ट तेज चारों ओर फैलाती है। विद्वानों की वाणी अपने तेज से इसको पवित्र करती है।[४३]

११. **समिति में असत्यभाषण पर प्रायश्चित** – अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि समिति में कुछ व्यक्ति प्रलोभन आदि के आधार पर असत्य भाषण करते थे। उन्हें इस कार्य के लिए प्रायश्चित करना पड़ता था।[४४] समिति के द्वारा ऐसे व्यक्तियों की निन्दा की जाती थी।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि समिति राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था थी और यह राज्य में शासन-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था और अपराध-नियन्त्रण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। राजा का स्थायित्व समिति पर निर्भर होता था। समिति राजा पर अपना नियन्त्रण रखती थी। समिति की अनुमति से ही निर्वासित राजा पुनः अपने पद पर अधिष्ठित होता था।

४. विदथ

(१) विदथ की प्राचीनता — वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विदथ एक अत्यन्त प्राचीन संस्था थी। ऋग्वेद और अथर्ववेद में विदथ का नाम बहुत आदर के साथ लिया गया है। विदथ की सदस्यता गौरवास्पद मानी जाती थी, अत एव ऋग्वेद में वर्णन है कि सोम देव की कृपा से पुत्र विदथ का सदस्य हो पाता है।[४५] ऋग्वेद और अथर्ववेद के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि विदथ सभा और समिति से अधिक पुरानी संस्था थी। इसका कार्यक्षेत्र भी व्यापक था। विदथ में ज्ञान, विज्ञान, लोककल्याण, न्याय-दंड, धार्मिक अनुष्ठान, शास्त्रीय मीमांसा आदि सभी का संग्रह था। ऋग्वेद में विदथ शब्द का १२० बार प्रयोग हुआ है। इसके विपरीत सभा शब्द का केवल ८ बार प्रयोग है और समिति शब्द का केवल ६ बार प्रयोग है। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल में विदथ सभा और

---

४२. यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु । अ० १८.१.२६ । ऋग्० १०.११.८

४३. त्वेषं रूपं कृणुते उत्तरं यत् ...
सा देवताता समितिर्बभूव । ऋग्० १.९५.८

४४. यदक्षेषु वदा यत् समित्यां,
यद् वा वदा अनृतं वित्तकाम्या । अ० १२.३.५२
मा नो द्यूतेऽव गान्मा समित्यां० । अ० १२.३.४६

४५. सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति ।
सादन्यं विदथ्यं सभेयम्० । ऋग्० १.९१. २०

समिति से अधिक मान्य संस्था थी। अथर्ववेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विदथ की स्थिति में परिवर्तन हो गया है। अथर्ववेद में सभा का प्रयोग १७ बार है और समिति का १३ बार। इस प्रकार सभा का प्रयोग ८ से १७ हो गया और समिति का प्रयोग ६ से १३। इसके विपरीत ऋग्वेद के १२० बार विदथ के प्रयोग के स्थान पर अथर्ववेद में विदथ का प्रयोग केवल २० बार है। इससे ज्ञात होता है कि विदथ का अधिकार-क्षेत्र कम होता गया और सभा एवं समिति का क्षेत्र विस्तृत होता गया । विदथ के अधिकार क्षेत्र से न्याय-दंड-व्यवस्था आदि कार्य सभा के क्षेत्र में चले गए और राजा, राज्य, प्रशासन आदि कार्य समिति के कार्यक्षेत्र में चले गए। ज्ञान-विज्ञान, शास्त्रीय और धार्मिक चर्चाएँ आदि केवल विदथ के कार्यक्षेत्र में रहे।

(२) विदथ के विषय में विभिन्न मत — विदथ के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। प्रो० त्सिमेर (H. Zimmer) ने ऋग्वेद के एक मंत्र के आधार पर विदथ को समिति की एक उपसमिति माना है।[४६] प्रो० रुडोल्फ रोठ (Rudolf Roth) का मत है कि विदथ मूल संस्था थी। उसी से सभा, समिति और सेना की उत्पत्ति हुई।[४७] प्रो० ह्विटनी (Whitney) ने अथर्ववेद के अनुवाद में विदथ का अर्थ परिषद् (Council) किया है।[४८] डा० आर०एस०शर्मा का कथन है कि विदथ का विशेष संबन्ध सेना से था और विदथ सैनिक कार्यों का संपादन करने वाली एक वैदिक संस्था थी।[४९]

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विदथ का संबन्ध नागरिक, सैनिक और धार्मिक तीनों प्रकार के कार्यों से था। इस विषय में प्रो० रोठ का कथन अधिक युक्तिसंगत और तथ्यपरक है कि विदथ मूल संस्था थी, जिसका कार्यक्षेत्र नागरिक, धार्मिक और सैनिक था। इससे ही सभा, समिति और सेना इन तीन अंगों का विकास हुआ।[५०] ऋग्वेद में सभा का ८ बार और समिति का केवल ६ बार प्रयोग हुआ है। इसके विपरीत विदथ का १२० बार

---

४६. वह्निं यशसं विदथस्य केतुम्० । ऋग्० १.६०.१
Vedic Index, Macdonell and Keith, Page 199.

४७. त्वमंशो विदथे देव भाजयुः । ऋग्० २.१.४
व्रातंव्रातं गणंगणं ... गन्तारो यज्ञं विदथेषु धीराः । ऋग्० ३.२६.६
विदथस्य धीमिः, क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे । ऋग्० ३.३८.५
We find विदथ associated with civil, military and religous funtions. Roth. (Vedic Index, Vol. I on विदथ)

४८. सा नो मृड विदथे गृणाना । अथर्व० १.१३.४ ।

४९. जे. बी. आर. एस. १९५२, पृ० ४२९

५०. It seems to have been the parent folk- assembly from which the सभा, समिति and सेना differentiated. Hindu Polity, Page 21

प्रयोग है। साथ ही अथर्ववेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विदथ का कार्यक्षेत्र परकाल में कम होता गया और सभा - समिति का कार्यक्षेत्र बढ़ गया। अतएव अथर्ववेद में विदथ का प्रयोग घटकर केवल २० रह गया। इसके विपरीत सभा का प्रयोग १७ बार और समिति का १३ बार हुआ है। ऋग्वेद में विदथ शब्द का बहुवचन में प्रयोग ४० बार हुआ है। विदथानि ७ बार और विदथेषु ३३ बार। इसके विपरीत अथर्ववेद में विदथ बहुवचन में प्रयोग केवल ३ बार हुआ है। विदथानि २ बार और विदथेषु १ बार।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप से ३ विदथों का उल्लेख है। ऋग्वेद का कथन है कि सूर्य तीनों विदथों को जानता है। विद्वान् देवों के जन्मसंबन्धी गूढ तत्त्वों को जानता है।[५१] इस मंत्र से स्पष्ट है कि विदथों की संख्या तीन है और इनमें से एक में देवों की उत्पत्ति आदि धार्मिक विषयों की चर्चा होती है। एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि अग्निवत् तेजस्वी कवि तीनों विदथों में अपना अधिकार जमाता है।[५२] इससे ज्ञात होता है कि विदथ तीन हैं और ओजस्वी विद्वान् इनमें अपना स्थान बनाते हैं।

एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि विदथ तीन हैं। सूर्यवत् तेजस्वी, उग्र वक्ता और सत्यवादी विद्वान् अपने असाधारण कर्मों से इन तीनों विदथों का नियन्त्रण करते हैं।[५३] इस मंत्र से ज्ञात होता है कि विदथ तीन हैं और असाधारण योग्यता वाले सत्यवादी और तेजस्वी विद्वान् ही इन पर अपना नियन्त्रण रखते हैं। इससे अगले मंत्र में विदथ के धार्मिक और राजनीतिक कार्यों का उल्लेख है। मंत्र का कथन है कि विदथ के सदस्य यज्ञ और ऋचाओं का मनन करते हैं। विदथ के द्वारा राजा सुदुर्लभ क्षत्रशक्ति को प्राप्त करते हैं।[५४] इस मंत्र से ज्ञात होता है कि विदथ के कार्यों में धार्मिक कृत्य हैं। विदथ यज्ञ, मंत्रपाठ, मन्त्रों के अर्थों पर मनन-चिन्तन आदि करता है। दूसरी ओर विदथ के कार्यों में राज्य शासन-व्यवस्था है। विदथ के अनुग्रह से राजा दुर्लभ राज्यशक्ति को प्राप्त करते हैं।

इस विषय में प्रो० अलतेकर का यह कथन असंगत है कि शासन-व्यवस्था के संबन्ध में विदथ का प्रयोग शायद ही कहीं किया गया हो।[५५] 'क्षत्रं राजान आशत' स्पष्ट रूप से

---

५१. वेद यस्त्रीणि विदथान्येषां,
देवानां जन्म सनुतरा विप्रः । ऋग्० ६.५१.२

५२. अग्निस्त्रीणि त्रिधातूनि-आ क्षेति विदथा कविः । ऋग्० ८.३९.९

५३. बहवः सूरचक्षसोऽग्निजिह्वा ऋतावृधः ।
त्रीणि ये येमुर्विदथानि धीतिभिर्विश्वानि परिभूतिभिः । ऋग्० ७.६६.१०

५४. वि ये दधुः ... यज्ञमक्तुं चाद् ऋचम् ।
अनाप्यं ... क्षत्रं राजान आशत । ऋग्. ७.६६.११

५५. 'विदथ' शब्द विद् धातु से निकला है और इसका अर्थ संभवतः विद्वानों की सभा है । शासन व्यवस्था के संबन्ध में इसका प्रयोग शायद ही कहीं किया गया हो ।
प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, प्रो० अलतेकर, पृ० ९७

विदथ का संबन्ध शासन-व्यवस्था से बताता है।

ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में यही भाव व्यक्त किया गया है कि विदथ के निर्णयानुसार राजा राजशक्ति को धारण करते हैं।[५६] मंत्र के विदथ के निर्णय के लिए 'धी' शब्द है और राज्यशासन के लिए 'क्षत्र' शब्द है। इससे अगले मंत्र में कहा गया है कि विदथ के तीन सदन (सदस्) हैं और राजा इन सदनों को अलंकृत करते हैं।[५७] इस मंत्र से स्पष्ट होता है कि विदथ का कार्य तीन सदन (सदस्) करते थे और राजा इन सदनों की अध्यक्षता करता था।

ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में विदथ का सेना और सैनिकों से संबन्ध वर्णन किया गया है। मरुत् सैनिक अपनी-अपनी टोली के साथ यज्ञ और विदथ में उपस्थित होते थे।[५८] इस मंत्र में विदथों में सैनिकों की उपस्थिति का स्पष्ट उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि विदथ का एक अंग सेना-संबन्धी कार्यों को देखता था। एक अन्य मंत्र में भी ओजस्वी वक्ता (अग्निजिह्वा) मरुतों का विदथों में जाने का उल्लेख है।[५९]

ऋग्वेद के एक मंत्र में विदथ का यह कार्य भी वर्णन किया गया है कि वह सभी को यथायोग्य धन का विभाजन करता था।[६०] इससे ज्ञात होता है कि विदथ का अर्थ-व्यवस्था से भी संबन्ध था। उपर्युक्त विवचन से ज्ञात होता है कि विदथ का संबन्ध राज्यशासन, सैन्य-व्यवस्था और धार्मिक कृत्यों से था। अतः प्रो० रोठ का मन्तव्य युक्तिसंगत ज्ञात होता है कि विदथ का संबन्ध नागरिक, सैनिक और धार्मिक कृत्यों से था।

प्रो० त्सिमर ने जिस मंत्र के आधार पर यह कहा है कि विदथ समिति की एक उपसमिति थी, यह विचार युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि सन्दर्भित मंत्र में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है कि विदथ कोई गौण संस्था या उपसमिति है। इस मंत्र में केवल इतना ही उल्लेख है कि विदथ का केतु (झंडा) अग्नि है। इसका अभिप्राय यह है कि विदथ का प्रतीक अग्नि है और इसमें अग्नि-पूर्वक कार्य होते हैं।

डा० शर्मा का यह मत कि विदथ का विशेष संबन्ध सेना से था और यह सैनिक

---

५६. विदथस्य धीभिः, क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे । ऋग्० ३.३८.५

५७. त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि,
परि विश्वानि भूषथः संदासि । ऋग्० ३.३८.६

५८. व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः,
अग्नेर्भामं मरुतामोज ईमहे ।
गन्तारो यज्ञं विदथेषु धीराः । ऋग्० ३.२६.६

५९. मरुतः ... विदथेषु जग्मयः । अग्निजिह्वा मनवः० । ऋग्० १.८९.७

६०. त्वमग्ने ... त्वमंशो विदथे देव भाजयुः । ऋग्० २.१.४

कार्यों का संपादन करने वाली वैदिक संस्था थी, पूर्णतया तथ्यपरक नहीं है। यह सत्य है कि विदथ के कार्यों में सैन्य-व्यवस्था भी थी, परन्तु केवल सैनिक कार्यों से संबद्ध कहना उचित नहीं है। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि विदथ का संबन्ध राज्य-शासन और धार्मिक कृत्यों से भी था।

विदथ को बहु-आयामी संस्था मानना डा० काशीप्रसाद जायसवाल को भी स्वीकार्य है।[६१] अथर्ववेद के अध्ययन से स्पष्ट है कि विदथ का कार्यक्षेत्र न्यून हो गया । सभा और समिति राज्य-प्रशासन की मुख्य संस्थाएँ हो गईं। विदथ का विशेष कार्य धार्मिक और शास्त्रीय कार्यों का संपादन रह गया। अतः वह परकाल में एक 'विद्वत्-परिषद् ' के रूप में कार्य करने लगी।

(३) विदथ की सदस्यता — ऋग्वेद और यजुर्वेद से ज्ञात होता है कि विदथ की सदस्यता महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती थी, अतएव विदथ की सदस्यता के लिए कुछ विशेष योग्यताओं का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में विदथ के योग्य व्यक्तियों को धीमान् , ज्ञानवान् , जिज्ञासु और अनुसंधान - प्रिय होना आवश्यक बताया गया है।[६२] 'प्रमतिम् इच्छमानाः' अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान के इच्छुक व्यक्ति ही इसमें भाग लेते हैं। 'वाजिनः' के द्वारा प्रौढ़ एवं सशक्त विद्वत्ता का ग्रहण है। 'गीभिर्विप्रः' से वक्तृत्वकला और शास्त्रार्थ करने की क्षमता का संकेत है।[६३] ऋग्वेद के एक मंत्र में अश्विनीकुमारों को संबोधित करते हुए कहा गया है कि वे देव - स्तुति में दक्ष ब्राह्मणों के तुल्य विदथ में पधारें।[६४] इससे संकेत मिलता है कि विदथ की सदस्यता के लिए विद्वत्ता और ब्रह्मशक्ति आवश्यक है।

ऋग्वेद और यजुर्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि सोम देवता की कृपा से विदथ और सभा का सदस्य होने वाला पुत्र प्राप्त होता है।[६५] इस मंत्र से संकेत मिलता है कि विदथ ही सदस्यता के लिए व्यक्ति को विशिष्ट गुणवान् और प्रभावशाली होना चाहिए। साथ ही उसमें सोम की विभूतियाँ अर्थात् सुशीलता, नम्रता, सहृदयता और उदारता आदि गुण भी होने चाहिएँ।

यजुर्वेद के एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि विदथ में धीर, विद्वान् , मनीषी और

---

६१. Hindu Polity. Page 21

६२. उपो ह यद् विदथं वाजिनो गुः
धीभिर्विप्राः प्रमतिमिच्छमानाः । ऋग्० ७.९३.३

६३. गीर्भिर्विप्रः प्रमतिमिच्छमानः । ऋग्० ७.९३.४

६४. ब्रह्माणेव विदथ उक्थशासा । ऋग्० २.३९.१

६५. सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति ।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं ... यो ददाशदस्मै । ऋग्० १.९१.२० । यजु० ३४.२१

कर्मकांड में निपुण व्यक्ति ही आसन ग्रहण करते हैं।[६६] इससे ज्ञात होता है कि विदथ का वही सदस्य हो सकता है, जो कर्मकांड में निपुण हो, धैर्यवान् हो, उच्चकोटि का विचारक और चिन्तक हो। ऋग्वेद के एक मन्त्र में विदथ को कवियों की संस्था बताया गया है।[६७] इसका अभिप्राय यह है कि विदथ की सदस्यता के लिए यह आवश्यक था कि व्यक्ति कवि और क्रान्तदर्शी हो। जो विषय को सूक्ष्मता से देख सकते हों और उनके शुभाशुभ फल को भी ठीक ठीक जानने की क्षमता रखते हों, वे ही क्रान्तदर्शी कहे जाते हैं।

ऋग्वेद में कई मंत्रों में उल्लेख है कि 'बृहद् वदेम विदथे' हम विदथ में अत्युत्तम ढंग से बोलें।[६८] इसका अभिप्राय यह है कि विदथ की सदस्यता के लिए आवश्यक है कि वह सुलझा हुआ ओजस्वी वक्ता हो और अपनी बात को सुस्पष्ट एवं ओजस्वी ढंग से प्रस्तुत कर सके।

ऋग्वेद में विदथ के तीन सदनों पर नियन्त्रण करने वाले सदस्यों के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे इन विशेषताओं से युक्त होने चाहिएँ :– 'सूरचक्षसः' सूर्यवत् तेजस्वी हों, 'अग्निजिह्वा;' अग्नि के तुल्य ओजस्वी वक्ता हों, 'ऋतावृधः' सत्य की वृद्धि करने वाले या सत्य का ही पक्ष लेने वाले हों।[६९]

ऋग्वेद के इसी प्रसंग में विदथ के सदस्यों की योग्यता के विषय में संकेत किया गया है कि वे 'ऋतावान;' सत्यवादी हों, 'ऋतजाताः' सत्य के लिए ही कार्य करने वाले हों, 'ऋतावृधः' सत्य के वर्धक, सत्य के समर्थक या सत्य निर्णय के पोषक हों, 'घोरासः' भयंकर, अपने निर्णय पर अडिग एवं कटु निर्णय में समर्थ तथा अनुचित प्रभाव में न आने वाले हों, 'अनृतद्विषः' असत्य या असत्य व्यवहार के द्वेषी हों।[७०]

पूर्वोक्त मन्त्रों से ज्ञात होता है कि विदथ की सदस्यता उन व्यक्तियों को ही प्राप्त हो सकती थी, जो विद्वान् , सत्यनिष्ठ, मनीषी, क्रान्तदर्शी, स्पष्टवादी, निर्भीक, उच्च कोटि के वक्ता, निष्पक्ष और किसी के दबाव में न आने वाले हों। ऐसे उत्कृष्ट व्यक्ति ही विदथ के तीनों सदनों का नियन्त्रण कर सकते थे।

---

६६. येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः । यजु० ३४.२

६७. दिवः शशासुर्विदथा कवीनाम् । ऋग्० ३.१.२

६८. बृहद् वदेम विदथे सुवीराः । ऋग्० २.१.१६; २.२.१३

६९. बहवः सूरचक्षसोऽग्निजिह्वा ऋतावृधः ।
त्रीणि ये येमुर्विदथानि धीतिभिः । ऋग्० ७.६६.१०

७०. ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो
घोरासो अनृतद्विषः । ऋग्० ७.६६.१३

विदथ के विषय में अन्य विवरण अप्राप्य हैं, अतः सदस्यों की संख्या, सदस्यों की नियुक्ति की कार्यविधि, नियुक्तिकर्ता अधिकारी, सदस्यों के अधिकार और कर्तव्य आदि विषयों पर अधिक कुछ सप्रमाण कहना सम्भव नहीं है।

(४) विदथ का अध्यक्ष — विदथ का कौन अध्यक्ष होता था, इस विषय पर प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। विदथ के विस्तृत वर्णन से स्पष्ट है कि इसका कोई अध्यक्ष होता था। वह अध्यक्ष ही बैठकों में अध्यक्षता करता था और विदथ का संचालन करता था। ऋग्वेद के एक मंत्र से ज्ञात होता है कि विदथ में सौमनस्य और सामंजस्य का वातावरण होता था। कटु भाषण, आक्षेप, निन्दा आदि से बचा जाता था। अतः विदथ की बात सर्वथा मान्य होती थी। विदथ का निर्णय राष्ट्रीय हित में होता था, अतः उसकी प्रशंसा की जाती थी। विदथ के लिए 'सं वाक्' शब्द का प्रयोग बताता है कि विदथ में मधुर भाषण और सामंजस्य होता था।[७१]

ऋग्वेद के इस मंत्र से ज्ञात होता है कि विदथ की कार्यवाही स्तुत्य होती थी और जो भी निर्णय लिए जाते थे, वे सर्वसंमति या बहुसंमति से होते थे। इसका श्रेय अध्यक्ष को होता था।

ऋग्वेद के एक मंत्र में विदथ में सम्राट् की उपस्थिति का उल्लेख है। मंत्र का कथन है कि इन्द्र की शक्ति इसी प्रकार सर्वविजयिनी है, जैसे विदथ में सम्राट् की।[७२] इससे ज्ञात होता है कि राजा या सम्राट् विदथ में उपस्थित होता था और पूर्ण अनुशासन रखता था।

ऋग्वेद के कुछ मंत्रों से संकेत मिलता है कि विदथ की अध्यक्षता प्रधान पुरोहित करता था। वेद में उसे ब्रह्मा (ब्रह्मन्) या ब्रह्मणस्पति कहा गया है। ब्रह्मणस्पति के लिए अथर्ववेद में आदेश है कि ब्रह्मणस्पति उठे अर्थात् यज्ञ कार्य को विधिवत् कराने के लिए संनद्ध हो। वह यज्ञ के द्वारा देवों को जागृत करे। यजमान की आयु, प्राणशक्ति, सन्तान और पशुधन को बढ़ाते हुए उसकी कीर्ति बढ़ावे।[७३] ऋग्वेद के एक मंत्र में ब्रह्मणस्पति को विदथ का नियन्ता और संचालक कहा गया है। साथ ही विदथ में बृहत् शास्त्रचर्चा का उल्लेख है।[७४]

उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाकलापों में ब्रह्मा या ब्रह्मणस्पति विदथ की अध्यक्षता करता था। किन्तु नागरिक और सैन्य-व्यवस्था-संबन्धी सदनों

---

७१. सभावती विदथ्येव सं वाक् । ऋग्० १.१६७.३

७२. यस्य क्रतुर्विदथ्यो न सम्राट् साह्वान्० । ऋग्० ४.२१.२

७३. उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय । अ० १९.६३.१

७४. ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता,
बृहद् वदेम विदथे सुवीराः । ऋग्० २.२३.१६

में राजा या सम्राट् विदथ की अध्यक्षता करता था। इस प्रकार विदथ के तीन सदनों में से शासन-व्यवस्था वाले दो सदनों की अध्यक्षता राजा या सम्राट् करता था तथा धार्मिक क्रियाकलाप वाले विदथ की अध्यक्षता ब्रह्मा या ब्रह्मणपति करता था।

(५) विदथ के कार्य — ऋग्वेद और अथर्ववेद के वर्णनों से ज्ञात होता है कि विदथ का कार्य बहुत व्यापक था। ऋग्वेद में तीन विदथों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि विदथ मूलरूप में तीन कार्य करता था :– नागरिक, धार्मिक और सैनिक। अथर्ववेद के प्रयोगों से ज्ञात होता है कि परकाल में विदथ का कार्यक्षेत्र सीमित हो गया और उसका विशेष संबन्ध धार्मिक क्रियाकलाप से हो गया। इस प्रकार विदथ के कार्यों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :–

१. धार्मिक कार्यों की व्यवस्था।[७५] यज्ञ के अनुष्ठान की संपूर्ण विधि तैयार करना। धार्मिक कार्यों में यज्ञ को प्राथमिकता देना और उसके व्यवहारिक रूप को निर्धारित करना तथा उसे कार्यान्वित करना। यज्ञ से संबद्ध सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मतभेदों को समाप्त करके उनमें एकरूपता लाना।

२. विदथ में शास्त्रीय चर्चा, वाद-विवाद और सत्यार्थ-निर्णय।[७६]

३. धर्म के स्वरूप का निर्णय करना। बृहदारण्यक उपनिषद् में सत्य को ही धर्म बताया गया है।[७७] धर्मपथ क्या है? उस पर किस प्रकार चलकर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है? लोक में सत्यरूप धर्म की स्थापना किस प्रकार की जा सकती है? चिरन्तन सत्य क्या है? उसको कैसे प्राप्त कर सकते हैं? आदि विषयों का विवेचन।

४. आस्तिकता की स्थापना और नास्तिकता का निवारण। जो आत्मा, परमात्मा, धर्म और यज्ञ आदि में विश्वास नहीं करते हैं, उनको शास्त्रार्थ आदि के द्वारा पराजित करना और उनमें धार्मिकता एवं आस्तिकता के प्रति आदरभाव जागृत करना।[७८]

५. दार्शनिक विषयों पर मनन, चिन्तन और प्रवचन। ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, मन, प्राण आदि से संबद्ध गूढ विषयों पर चर्चा, विभिन्न समस्याओं का समाधान तथा प्रवचन आदि के द्वारा इन विषयों का स्पष्टीकरण।

---

७५. वह्निं चकर्थ विदथे यजध्यै । ऋग्० ३.१.१

७६. बृहद् वदेम विदथे सुवीराः । ऋग्० २.२३.१९

७७. यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् । बृहदारण्यक० १.४.१४

७८. अदेवयुं विदथे देवयुभिः, सत्रा हतं सोमसुता जनेन । ऋग्० ७.९३.५

६. सांस्कृतिक गतिविधियों का नियन्त्रण। लोक-कल्याण के कार्य करना। प्राचीन संस्कृति के प्रति रुचि उत्पन्न करना और जनता का मार्गदर्शन करना।[७९]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि विदथ परकाल में धार्मिक और सांस्कृति कार्यों का संचालक हो गया। शिक्षा, संस्कृति और धार्मिक क्रियाकलाप से संबद्ध विषयों की चर्चा विदथ में होती थी। अतः विदथ 'विद्वत् - परिषद्' या 'विद्वत् - समिति' के रूप में कार्य करती थी।

५. संसद्

(१) **संसद् का स्वरूप** – अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि सभा और समिति दोनों के लिए संसद् शब्द का प्रयोग होता था। सभा और समिति के प्रसंग में संसद् शब्द का उल्लेख है और कहा गया है कि इस सारी संसद् में मैं भाग्यशाली होऊँ।[८०] इससे ज्ञात होता है कि सभा और समिति दोनों के लिए सामूहिक नाम संसद् था। इस मंत्र में - 'सर्वस्याः संसदः' सारी संसद् कहने से यह भी अभिप्राय निकलता है कि सभा और समिति का कभी - कभी सामूहिक अधिवेशन को भी होता था और सदस्य अपनी विशेष योग्यता के प्रदर्शन के द्वारा सारी संसद् को प्रभावित करके यश के भागी होते थे।

अथर्ववेद के एक मंत्र से यह भी ज्ञात होता है कि संसद् में अतिशिष्ट व्यवहार करना आवश्यक समझा जाता था।[८१] यह भी प्रतीत होता है कि संसद् में कतिपय गम्भीर विषयों पर विशेष विचार-विनिमय होता था, अतः सुमति और सद्-व्यवहार संसद् की गरिमा को बनाए रखने के लिए आवश्यक था।

(२) **संसद् के कार्य** – संसद् के कुछ कार्यों का संकेत प्राप्त होता है। ऋग्वेद के एक मंत्र मे संसद् को 'पितुमती' अर्थात् अन्नसमृद्धि से युक्त कहा गया है।[८२] इस मंत्र में अग्नि और यज्ञ से होने वाली अन्नसमृद्धि की उपमा 'पितुमती संसद्' से दी गई है। इसका अभिप्राय यह है किं संसद् का काम था – राष्ट्र की अन्नसमृद्धि को पुष्ट करना। राष्ट्रीय उन्नति के लिंए अन्न-समस्या का पूर्णरूप से हल होना आवश्यक है, अतः संसद् का उत्तरदायित्व था कि राष्ट्र की अन्नसमृद्धि की व्यवस्था करे।

---

७९. प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू
प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता । अथर्व० ५.१२.७

८०. अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु । अ० ७.१२.३

८१. भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसदि । अ० २०.१३.३

८२. सदा रण्वः पितुमतीव संसद् । ऋग्० ४.१.८

ऋग्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा, सेना या प्रजा ने कोई प्रशंसनीय कार्य किया है तो उसकी प्रशंसा संसद् और विदथ में की जाती थी।[८३]

ऋग्वेद और अथर्ववेद में एक मंत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि यदि संसद् ठीक ढंग से अपना कार्य नहीं कर रही है तो राजा को यह अधिकार है कि वह संसद् को भंग कर दे।[८४]

(३) **सात संसद्** – यजुर्वेद और अथर्ववेद में सात संसदों का उल्लेख है। अथर्ववेद का कथन है कि इन सात संसदों को सारे अधिकार हैं। 'विश्वाः श्रियः यस्मिन् अधि' अर्थात् सारी संपत्तियाँ जिसके अधिकार में हैं। साथ ही यह भी कहा गया है कि योग्य राजा के संरक्षण में ये सातों संसद् आनन्दित रहती है।[८५] यजुर्वेद का कथन है कि सात संसद् हैं। इनके अतिरिक्त एक और विभाग है, जिसे 'भूतसाधनी' अर्थात् लोक-कल्याण-विभाग या लोक-हित-कारक विभाग कहते हैं। साथ ही यजुर्वेद का कथन है कि इनके साथ हमारा सामंजस्य हो और सहभागित्व हो।[८६]

यजुर्वेद और अथर्ववेद के कथन से ज्ञात होता है कि संसद् सर्वाधिकार-संपन्न संस्था होती थी। इसके संरक्षण में सभी क्रिया-कलाप होते थे। सात संसद् का अभिप्राय यह ज्ञात होता है कि केन्द्रीय शासन के सात प्रमुख विभाग होते थे और उनके अलग-अलग अध्यक्ष होते थे। 'अष्टमी भूतसाधनी' से ज्ञात होता है कि लोक-कल्याण के लिए एक स्वतन्त्र विभाग होता था, जिसका कार्य जनता के हित की सुरक्षा थी। यह विभाग विशेष रूप से यह देखता था कि जनता को कोई कष्ट न हो और उसके जान-माल की सुरक्षा हो। संसद् के विषय में अन्य कोई विवरण उपलब्ध नहीं है।

६. सेना

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि विदथ के तीन विभाग थे - सभा, समिति और सेना। इनमें सभा और समिति के विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है, परन्तु सेना के विषय में विशेष सामग्री नहीं मिलती है।

---

८३. या ... सना नवा च चुच्युवे ।
ता संसत्सु प्र वोचत । ऋग्० ८.४५.२५
प्र ते महे विदथे शंसिषम् । अथर्व० २०.३०.१

८४. असुन्वामिन्द्र संसदं, विषूचीं व्यनाशयः ।
ऋग्० ८.१४.१५ । अथर्व० २०.२९.५

८५. यस्मिन् विश्वा अधि श्रियो
रणन्ति सप्त संसदः । अथर्व० २०.११०.२

८६. सप्त संसदो अष्टमी भूतसाधनी ।
संज्ञानमस्तु मेऽमुना । यजु० २६.१

अथर्ववेद का कथन है कि व्रात्य ब्रह्म के पीछे सभा, समिति और सेना चली।[८७] इससे स्पष्ट है कि सभा और समिति के अतिरिक्त सेना भी एक स्वतन्त्र संस्था थी। इसका साक्षात् संबन्ध सेना और सैनिकों से था। इसके अध्यक्ष और सदस्य भी सैनिक ही होते थे। राष्ट्र की सुरक्षा का उत्तरदायित्व इस संस्था पर होता था।

सेना-विषयक एक सूक्त चारों वेदों में आया है।[८८] इस सूक्त में कहा गया है कि इन्द्र अकेला ही सैकड़ों सेनाओं को जीतता था।[८९] इन्द्र का प्रमुख सहयोगी बृहस्पति होता था। वह उसका दाहिना हाथ होता था। सेना के सशस्त्र सैनिक मरुत् देवगण होते थे।[९०]

सेना का संगठन करना और सेना के नेतृत्व की व्यवस्था करना सेना नामक संस्था का काम था। इन्द्र का सेनापति के रूप में वर्णन है और कहा गया है कि वह सैकड़ों सेना की टुकड़ियों को लेकर विजय के लिए प्रस्थान करता है और शत्रुओं को नष्ट करता है।[९१]

अथर्ववेद के दो सूक्तों में अर्बुदि, न्यर्बुदि और त्रिषन्धि नाम के तीन सेनापतियों का उल्लेख है।[९२] ये तीनों देवसेना के सेनापति थे। इन दो सूक्तों में सेना का प्रस्थान, शत्रुसेना का संहार आदि का ५३ मंत्रों में विस्तृत वर्णन है।[९३]

सेनापति के रूप में इन्द्राणी का भी वर्णन है। वह स्त्री-सेना का नेतृत्व करती थी और सदा विजयश्री प्राप्त करती थी।[९४] तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि इन्द्राणी सेना का नेतृत्व ही नहीं करती थी, अपितु वह सेना के लिए देवता मानी जाती थी। वह सेना में शक्ति-संचार करती थी।[९५]

---

८७. तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् । अ० १५.९.२

८८. ऋग्० १०.१०३. १से १३ । यजु० १७.३३ से ४९ । साम० मंत्र १८४९ से १८७२ । अथर्व० १९.१३. १ से ११ । तैत्तिरीय सं० ४.६.४.१ से १५.

८९. शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः । ऋग्० १०.१०३.१

९०. इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा० ।
देवसेनानाम् .. जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् । ऋग्० १०.१०३.८

९१. शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि । अ० २०.५१.२

९२. अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः । अ० ११.९.४
त्रिषन्धेरियं सेना । अ० ११.१०.४

९३. अथर्व० ११.९.१ से २६ । ११.१०. १ से २७

९४. इन्द्राण्येतु प्रथमाऽजीताऽमुषिता पुरः । अथर्व० १.२७.४

९५. इन्द्राणी वै सेनायै देवता । सैवास्य सेनां सं श्यति । तैत्ति० सं० २.२.८.१

अथर्ववेद के एक मंत्र में सेना के २१ (त्रिषप्त, ३x७) भेदों का उल्लेख है।[९६] इसी वेद में सैन्य-शासन की हानि का भी उल्लेख है और कहा गया है कि इससे निरपराध जनता का वध होता है।[९७]

इससे ज्ञात होता है कि सेना का नियन्त्रण एक पृथक् स्वतन्त्र संस्था करती थी और वह राष्ट्रीय सुरक्षा की व्यवस्था करती थी।

●

९६. अमूः पारे पृदाक्वः त्रिषप्ता निर्जरायवः । अ० १.२७.१

९७. यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते । अ० १.२०.२

अध्याय १३

अर्थ - व्यवस्था (कोश)

१. कोश का महत्त्व

२. कोश - संचय के मुख्य साधन

(क) बलि (कर)

(ख) शुल्क

(ग) शत्रुविजय द्वारा प्राप्त धन

३. कर के विविध रूप

४. कर लेने के प्रकार

५. मुद्राएँ

६. कोश - संग्रह के संबद्ध अधिकारी

(क) भागदुघ

(ख) संग्रहीता (संग्रहीतृ)

(ग) गणक

अध्याय १३

अर्थ-व्यवस्था (कोश)

१. कोश का महत्त्व

संसार में समस्त कार्यों के संपादन के लिए धन की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार राज्य के संचालन के लिए भी धन की आवश्यकता होती है। सभी राजनीतिशास्त्रकारों ने राज्य के संगठन और उनके संचालन के लिए धन की आवश्यकता पर बल दिया है। आचार्य चाणक्य ने बहुत सुन्दर ढंग से अर्थ के महत्त्व का वर्णन किया है। संसार के सारे काम अर्थ के आधार पर ही चलते है।[१] धर्म अर्थ कामरूपी त्रिवर्ग में से धर्म और काम ये दोनों भी अर्थ के आधार पर चलते हैं।[२] प्रत्येक कार्य का आधार अर्थ ही है।[३] सभी संगठनों का आधार अर्थ है।[४] आचार्य चाणक्य ने राज्य और अर्थ के संबन्ध के विषय में स्पष्ट कहा है कि धर्म का आधार अर्थ है और अर्थ का आधार राज्य है।[५] इसका अभिप्राय यह है कि राज्य-व्यवस्था उत्तम होगी तो अर्थ-व्यवस्था भी उत्तम होगी और अर्थ-व्यवस्था उत्तम होगी तो धर्म-कर्म भी ठीक हो सकेंगे। अतएव चाणक्य का कथन है कि कोश अत्यन्त आवश्यक है। राजा इसके लिए संनिधाता (कोषाध्यक्ष) को नियुक्त करे और वह कोषागार (टेज़री, Treasury) बनवावे।[६] साथ ही चाणक्य का यह भी कथन है कि राजा आपत्तिकाल के लिए एक गुप्त खजाना (ध्रुवनिधि) भी बनवावे, जो अत्यन्त सुरक्षित स्थान में हो।[७]

महाभारत शान्तिपर्व में भी इसी बात का समर्थन किया गया है। महात्मा भीष्म ने कोश का महत्त्व बताते हुए कहा है कि राजा की जड़ ही कोश है। इसलिए राजा का परम कर्तव्य है कि वह प्रयत्नपूर्वक कोश की रक्षा करे, क्योंकि कोश ही राजशक्ति को बढ़ाता है।[८]

शान्तिपर्व में ही इसको और स्पष्ट करते हुए भीष्म पितामह ने कहा है कि राजा की

---

१. वृत्तिमूलम् अर्थलाभः । चाणक्य सूत्र ९०

२. अर्थमूलौ धर्मकामौ । चा० सूत्र ९१

३. अर्थमूलं कार्यम् । चा० सूत्र ९२

४. अर्थाधीन एव नियतसंबन्धः । चा० सूत्र १९१

५. धर्मस्य मूलमर्थः । अर्थस्य मूलं राज्यम् । चा० सूत्र २ और ३

६. संनिधाता कोशगृहं ... कारयेत् । अर्थशास्त्र पृ० ११५

७. जनपदान्ते ध्रुवनिधिम् आपदर्थम् अभित्यक्तैः पुरुषैः कारयेत् । अर्थशास्त्र पृ० ११५

८. कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः, कोशो वृद्धिकरो भवेत् ।। महाभारत शान्ति० ११९.१६

जड़ कोष और सेना है। इसमें भी कोष ही सेना का आधार है। सेना ही सारे धर्म-कर्मों की रक्षा का मूल है और धर्म प्रजा का मूल है।[९] इस प्रकार कोष के आधार पर ही सारी राज्य-व्यवस्था स्थित है। अतएव राजा को आदेश दिया गया हे कि प्रजा पर अनुग्रह करते हुए भी कर (Tax) अवश्य वसूल करे, क्योंकि वही लक्ष्मी (कोष) का मूल है।[१०] राजा के लिए एक अन्य उपदेश यह भी दिया गया है कि कोश ही धर्म, काम, लोक और परलोक सभी का साधक है, अतः कोशवृद्धि (धन-संचय) अवश्य करे। परन्तु यह कोश-वृद्धि धर्मानुसार ही करे, अधर्म से नहीं।[११]

आचार्य शुक्र ने शुक्रनीति में कोश का महत्त्व, कोश का उपयोग और कोश-संग्रह के प्रकार पर सुन्दर प्रकाश डाला है। कोश के महत्त्व के विषय में शुक्राचार्य का कथन है कि राष्ट्र की समृद्धि के लिए ये तीन बातें अत्यावश्यक हैं :– सेना, कोश और शत्रु का अभाव।[१२] कोश और सेना, ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। कोश का आधार सेना है अर्थात् सैन्य शक्ति के आधार पर ही कोश का संग्रह होता है और सेना का मूल या आधार कोश है अर्थात् कोश के द्वारा ही सेना का संग्रह होता है। अतः कोश के लिए सैन्य शक्ति और सैन्य शक्ति के लिए कोश की आवश्यकता है। इन दोनों के समन्वय से ही कोश की वृद्धि, राष्ट्र की वृद्धि और शत्रुनाश ये तीनों कार्य होते हैं।[१३]

अतः राजा का कर्तव्य है कि वह जिस - किसी भी प्रकार से हो धन-संग्रह करे और कोश-वृद्धि करे। इस कोश का उपयोग वह राष्ट्र-रक्षा, सैन्य-संग्रह और यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाकलाप में करे।[१४]

राजा के लिए यह भी निर्देश है कि वह कोश का उपयोग सेना, प्रजा-संरक्षण और धार्मिक कार्यों में ही करे। इससे उसे सुख प्राप्त होगा। यदि वह इसका उपयोग भोग-विलास

---

९. राज्ञः कोशबलं मूलं, कोशमूलं पुनर्बलम् ।
तन्मूलं सर्वधर्माणां, धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ।। महा० शान्ति० १३०.३५

१०. तस्माद् राजा प्रगृहीतः प्रजासु
मूलं लक्ष्म्याः सर्वशो ह्याददीत । महा० शान्ति १२०.४४

११. कोशेन धर्मः कामश्च, परलोकस्तथा ह्ययम् ।
तं च धर्मेण लिप्सेत, नाधर्मेण कदाचन । महा० शान्ति० १३०.५०

१२. अर्थभावो बलं कोशो, राष्ट्रवृद्ध्यै त्रयं त्विदम् । शुक्र० ४.२.१६

१३. बलमूलो भवेत् कोशः कोशमूलं बलं स्मृतम् ।
बलसंरक्षणात् कोश-राष्ट्र-वृद्धिररिक्षयः ।। शुक्र० ४.२. १४, १५

१४. येन केन प्रकारेण, बलं संचिनुयाद् नृपः ।
तेन संरक्षयेद् राष्ट्रं, बलं यज्ञादिकाः क्रियाः । शुक्र० ४.२.२

आदि कार्यों में करता है तो इसका परिणाम दुःखद होगा।[१५] साथ ही यह भी शिक्षा दी गई है कि धन-संग्रह न्याय से ही करे, अन्याय से नहीं। यदि वह अन्याय से कोश-वृद्धि करता है तो पापी होता है।[१६]

राजा प्रजा पर दंड लगाकर, भूमिकर (मालगुजारी), शुल्क (चुंगी) आदि से कोशवृद्धि करे। आपत्तिकाल में ही भूमिकर, शुल्क आदि में वृद्धि करे तथा तीर्थस्थानों पर यात्री-कर लगावे।[१७] धार्मिक राजा अधार्मिक राजा का धन (कोश) उचित और अनुचित सभी उपायों से हर सकता है।[१८] कोश-वृद्धि के लिए जो कर (Tax) लगाये जावें, उनका प्रकार यह होना चाहिए :– जिस प्रकार माली वृक्षों से फूल लेता है, किन्तु उन्हें नष्ट नहीं करता है, उसी प्रकार राजा प्रजा से कर ले एवं प्रजा की रक्षा करके, शत्रुओं को करदाता बनाकर, उनके धन से अपने कोश की वृद्धि करे।[१९] कर का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि प्रजा का उत्पीडन न हो और कर उनके लिए भारभूत न हो।

राजा को अपने कोश में इनता धन सुरक्षित रखना चाहिए कि वह, बिना कर लगाए भी, २० वर्ष तक सेना की भलीभांति सुरक्षा कर सके।[२०]

वेदों में कोश - ऋग्वेद और अथर्ववेद में कोश शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। अधिकांश स्थलों पर कोश को स्वर्ण-भंडार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद में 'कोशे हिरण्यये'[२१] 'कोशे आ हिरण्यये'[२२] 'दश कोशान् ।[२३] इन स्थानों पर कोश को स्वर्णागार या स्वर्ण-भंडार कहा गया है। सायण ने भी 'दश कोशान्' की व्याख्या की है – दश हिरण्यपूर्णान् कोशान् अर्थात् स्वर्ण से भरे दस कोश।

---

१५. बल-प्रजा-रक्षणार्थं, यज्ञार्थं कोशसंग्रहः ।
परत्रेह च सुखदो, नृपस्यान्यश्च दुःखदः ।। शुक्र० ४.२. ३

१६. अन्यायेनार्जितो यस्माद् , येन तत्पापभाक् च सः । शुक्र० ४.२.५

१७. दण्ड-भूभाग-शुल्कानाम् , आधिक्यात् कोशवर्धनम् ।
अनापदि न कुर्वीत, तीर्थ-देव-करग्रहात् ।। शुक्र० ४.२.९

१८. अधर्मशीलनृपतेः, सर्वतः संहरेद् धनम् ।
छलाद् बलाद् दस्युवृत्त्या, परराष्ट्राद् हरेद् धनम् ।। शुक्र० ४.२.७

१९. मालाकारस्य वृत्त्येव, स्वप्रजारक्षणेन च ।
शत्रुं हि करदीकृत्य तद् धनैः कोशवर्धनम् ।। शुक्र० ४.२.१८

२०. संरक्षणं भवेत् सम्यग् , यावद् विंशतिवत्सरम् । शुक्र० ४.२.१३

२१. कोशे हिरण्यये । ऋग्० ८.२०.८

२२. ऋग्० ९.७५.३

२३. ऋग्० ६.४७.२३

'दिव्या न कोशासः'[२४] में भी कोश को धन-संपत्ति का भंडार बताया गया है। दिव्य कोश या दैवी कोश धन-धान्य से परिपूर्ण भंडार के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद में कोश शब्द का १४ बार प्रयोग हुआ है। अधिकांश स्थलों पर यह निधि या खजाने के अर्थ में है। अथर्ववेद में शरीर को अयोध्या नगरी बताते हुए कहा गया है कि इसमें आत्मारूपी एक स्वर्णपूर्ण कोश है।[२५] इस स्वर्णपूर्ण कोश में जो ब्रह्मरूपी ज्योति है, उसको ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।[२६] ब्रह्म में ही सारे लोक और सारे कोश निहित हैं।[२७] उस ब्रह्म के ९ कोश हैं और वे नौ प्रकार से रखे हुए हैं।[२८] उक्त संदर्भो से ज्ञात होता है कि बहुमूल्य सामग्री के भंडार के लिए कोश शब्द का प्रयोग हुआ है।

एक अन्य मंत्र से ज्ञात होता है कि कोश में बहुमूल्य सामग्री रखी जाती थी और उसमें से निकाली जाती थी। मंत्र का कथन है कि बुद्धिरूपी कोश से तपस्या के द्वारा वेदज्ञानरूपी निधि निकाली गई और उसमें ही इसको पुनः रखा गया।[२९]

इस प्रकार कोश की उपयोगिता और उसके स्वरूप का वर्णन वेदों में प्राप्त होता है।

२. कोश - संचय के मुख्य साधन

वेदों में राज-कोश के संचय के लिए कुछ साधनों का संकेत है। इनमें मुख्यरूप से दो साधनों का उल्लेख है :– १. बलि, २.शुल्क। राजा प्रजा से राज्य-संचालन और राष्ट्र की सुरक्षा आदि के लिए जो कर लेता था, उसे बलि नाम दिया गया है। यह कर धन के रूप में (Cash) या धान्य आदि के रूप में (Kind) लिया जाता था। क्रय-विक्रय, यात्रा आदि पर जो कर (Tax) लगाया जाता था, उसको शुल्क नाम दिया गया है। राजकोश के संचय के लिए एक अन्य साधन का भी उल्लेख मिलता है। वह है - शत्रु पर विजय प्राप्त करने से उपलब्ध होने वाली धन-सामग्री। इस सामग्री का कुछ अंश योद्धाओं आदि को पुरस्कार के रूप दे दिया जाता था। शेष धन राजकोश में डाला जाता था।

---

२४. ऋग्० ९.८८.६

२५. तस्यां हिरण्ययः कोशः । अ० १०.२.३१

२६. तस्मिन् हिरण्यये कोशे ... तद्वै ब्रह्मविदो विदुः । अ० १०.२.३२

२७. यत्र लोकांश्च कोशान् च । अ० १०.७.१०

२८. तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः । अ० १३.४.१०

२९. यस्मात् कोशाद् उदभराम वेदं
तस्मिन् अन्तरव दध्म एनम् । अ० १९.७२.१

(क) बलि (कर)

राजा अपने अधीनस्थ प्रजा से राज्य-संचालन हेतु जो कर लेता था, उसे बलि कहते थे। यह धन और धान्य दोनों रूप में होता था। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर राजा को प्रजा से बलि (Tax) लेने का अधिकारी बताया गया है। अग्नि या तेजस्वी राजा ने अपनी शक्ति से प्रजा को कर-दाता बनाया।[३०] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र ने एक मात्र इस राजा को ही प्रजा से कर (बलि) लेने का अधिकारी बनाया है।[३१] अग्नितुल्य तेजस्वी राजा को सारी प्रजा, सपीपस्थ और दूरस्थ सभी, बलि (Tax) देते हैं।[३२]

अथर्ववेद में भी अनेक मंत्रों में बलि (कर) का उल्लेख हे। अथर्ववेद का एक सूक्त राजा के वरण से संबद्ध है। इसमें उल्लेख किया गया है कि राजा प्रजा से पर्याप्त मात्रा में बलि ग्रहण करे।[३३] इस मंत्र में राजा के लिए 'उग्रः' उग्र, तेजस्वी या प्रखर शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि तेजस्वी राजा ही प्रजा से कर ठीक ढंग से वसूल कर सकता है। यदि राजा तेजस्वी नहीं होगा, तो प्रजा से कर सरलता से नहीं प्राप्त किया जा सकेगा। साथ ही इस सूक्त में एक अन्य बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि ऐसे प्रतापी राजा का कर्तव्य है कि वह कर के रूप में जो कुछ एकत्र करता है, उसे उपयोगी कार्यों में विभक्त करे।[३४] कोशसंचय का अभिप्राय भी यही है कि जनहित के कार्यों में उसका विनियोग हो। अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में भी इसी बात की पुष्टि की गई है कि करदाताओं को सुख पहुँचाना राजा का कर्तव्य है। मंत्र का कथन है कि करदाताओं को सुख दो।[३५] करदाता के लिए 'बलिहार' शब्द का प्रयोग हुआ है।

अथर्ववेद के एक सूक्त में ब्रह्मौदन (आत्मिक बल) का महत्त्व बताया गया है। इसमें वर्णन किया गया है कि ब्रह्मौदन के प्रताप से राजा अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। वह पराजित शत्रुओं से तथा स्वजातीय लोगों से कर लेता है।[३६] एक अन्य मंत्र में भी प्रजा से कर लेने का उल्लेख है।[३७] अथर्ववेद के कांड १० के सूक्त सात और आठ में क्रमशः

---

३०. अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः । ऋग्० ७.६.५.

३१. अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् । ऋग्० १०.१७३.६

३२. तुभ्यं भरन्ति क्षितयो यविष्ठ,
बलिमग्ने अन्तित ओत दूरात् ।। ऋग्० ५.१.१०

३३. बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः । अ० ३.४.३

३४. ततो न उग्रो वि भजा वसूनि । अ० ३.४.४

३५. बलिहाराय मृडतात् । अ० ११.१.२०

३६. सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु । अ० ११.१.६

३७. इमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम् । अ० १९.४५.४

सर्वाधार परमात्मा और ज्येष्ठ ब्रह्म का वर्णन है। इन दोनों सूक्तों में बलि (कर) का उल्लेख है। सभी देवता उस परमात्मा की प्रजा हैं, अतः वे उसे बलि (कर) देते हैं।[३८] दूसरे मंत्र में कहा गया है कि इस संसार में एक महान् शक्ति ब्रह्म के रूप में विद्यमान है। सारे राजागण अपनी प्रजा से उसके लिए बलि-संचय करते हैं।[३९]

उपर्युक्त सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि बलि एक प्रकार का कर है, जिसे राजा अपनी प्रजा से राजकोष के लिए एकत्र करता है।

शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि राज्य की प्रजा अपने क्षत्रिय राजा को बलि (कर) देती थी।[४०] यह संचित धन राजकोष में जमा होता था। ऐतरेय ब्राह्मण में भी बलि का उल्लेख है। इसमें करदाता को 'बलिकृत्' कहा गया है। 'अन्यस्य बलिकृत्' अधीनस्थ व्यक्ति राजा को कर देता है।[४१] ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पंजिका के पाँचवें अध्याय की समाप्ति में राजा के द्वारा सोमपान का महत्त्व वर्णन किया गया है और कहा गया है कि सोमपान करने वाला प्रतापी राजा सब दिशाओं से सूर्य के तुल्य बलि (कर) ग्रहण करता है।[४२]

कर का स्वरूप और उपयोग — प्रजा की रक्षा के लिए राजा को पूरा प्रशासन व्यवस्थित करना पड़ता था। इसके लिए उसे धन-धान्य की आवश्यकता होती थी। इसके लिए उसे प्रजा से कर के रूप में धन-धान्य लेना होता था। राजा का उत्तरदायित्व होता था कि वह प्रजा को पूर्ण संरक्षण प्रदान करे और प्रजा का उत्तरदायित्व होता था कि वह राजा को कररूप में धन-धान्य प्रदान करे। कर कितना लिया जाए, इस विषय पर ऐकमत्य नहीं है। सामान्यतया आय का १/६ भाग अर्थात् सवा सोलह प्रतिशत अंश कर रूप में लिया जाता था। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि कर-ग्रहण की पद्धति प्रारम्भ होने पर यह कर १/१६ अर्थात् सोलहवां भाग या सवा छह प्रतिशत लिया जाता था। मंत्र का कथन है कि न्यायकारी राजा के ये राजसभा के सदस्य प्रजा से इष्टापूर्त का सोलहवाँ भाग संग्रह करते थे।[४३] मंत्र में इष्ट और आपूर्त दो शब्द हैं। इष्ट से अभिप्राय केवल यज्ञ नहीं है, अपितु अभीष्ट व्यवहार या पेशे है। इसमें सभी प्रकार के उद्योग-धन्धों का समावेश है। पूर्त या आपूर्त शब्द

---

३८. यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति । अ० १०.७.३९

३९. तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति । अ० १०.८.१५

४०. इमा विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति । शत० ब्रा० १.३.२.१५

४१. अन्यस्य बलिकृत् । ऐत० ब्रा० ७.५.२९

४२. आदित्य इव ... सर्वाभ्यो दिग्भ्यो बलिम् आवहति, उग्रं हास्य राष्ट्रम् ।
ऐत० ब्रा० ७.५.३४

४३. यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं
यमस्यामी सभासदः । अथर्व० ३.२९.१

का अर्थ भी धर्मार्थ कूप-तडागादि अर्थ ही न होकर अभिप्राय है - प्राकृतिक संपदा से होने वाली आय। इसमें वृक्ष-वनस्पति, वन, कृषि, आदि से होने वाली आय अभिप्रेत है। इस प्रकार शिल्प, व्यापार आदि से होने वाली आय तथा कृषि, वाटिका, वन आदि से होने वाली आय पर सोलहवाँ भाग कर रूप में लेने का विधान था।

अथर्ववेद कांड ३ सूक्त २९ के ८ मंत्रों में कर के उपयोग के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं। ये संक्षेप में हैं :–

(१) अवि :– (अवति इति अविः) अर्थात् कर प्रजा की रक्षा के लिए है।

(२) शितिपाद् :– शिति अर्थात् विनाश से बचाने वाला।

(३) स्वधा :– स्व अर्थात् राष्ट्र को धारण करने वाला । राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि के लिए।[४४]

(४) सर्वान् कामान् पूरयति :– प्रजा की सभी कामनाओं की पूर्ति के लिए। राष्ट्रीय सभी योजनाओं की पूर्ति-हेतु।

(५) आभवन् प्रभवन् भवन् :– प्रजा के अस्तित्व के लिए अर्थात् शान्ति और सुव्यवस्था के लिए, प्रजा के प्रभुत्व के लिए अर्थात् प्रजा को शक्तिशाली बनाने के लिए, प्रजा की भूति या ऐश्वर्य के लिए।

(६) आकूतिप्र :– आकूति अर्थात् संकल्पों को पूरा करने वाला।

(७) न उपदस्यति :– क्षीण नहीं होता है। कर राष्ट्र को क्षीणता और विनाश से बचाने के लिए है। इसका यह भी अभिप्राय है कि यह कर विनाश के लिए नहीं, अपितु संरक्षण के लिए है।[४५]

(८) लोकेन संमितम् :– जनता के द्वारा स्वीकृत । इसका अभिप्राय यह है कि कर का स्वरूप जनता की संमति से निर्धारित किया गया है।

(९) अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते :– निर्बल बलवान् को किसी प्रकार का शुल्क नहीं देता है। इसका अभिप्राय यह है कि बलवान् निर्बल को नहीं सता पाते हैं और जनता अत्याचारियों के भय से मुक्त रहती है।[४६]

---

४४. अविः ... शितिपात् स्वधा । अथर्व० ३.२९.१

४५. सर्वान् कामान् पूरयति, आभवन् प्रभवन् भवन् ।
आकूतिप्रः ... नोप दस्यति । अ० ३.२९.२

४६. अविं लोकेन संमितम् ।
यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे । अ० ३.२९.३

(१०) कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता :– काम ही देता है और काम ही लेता है। इसका अभिप्राय है कि कर कामना या स्वेच्छा से दिया जाता है और राजा भी कामना या सद्भावना से उसे ग्रहण करता है।[४७]

(११) मा आत्मना वि राधिषि :– राजा का कथन है कि मैं कर लेकर यदि उसका सदुपयोग नहीं करता हूँ तो मैं अपनी आत्मा का द्रोही होऊंगा।

(१२) मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि :– राजा का ही कथन है कि यदि मैं कर लेकर उसका दुरुपयोग करता हूँ तो मैं प्रजा का द्रोही बन जाऊंगा।[४८]

इन दोनों सूक्तों का अभिप्राय है कि राजा जिस उत्तरदायित्व की भावना से कर लेता है, उस उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह करे। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो आत्मा की आवाज न सुनने के कारण आत्मघाती होता है और दूसरी ओर प्रजा का अप्रिय हो जाता है। प्रजा उसके विरुद्ध खड़ी हो जाती है। वि+राध् का अर्थ पृथक् होना है, अतः अर्थ होता है कि कर का दुरुपयोग करने पर मेरी आत्मा नष्ट हो जाएगी, अर्थात् मैं मृतवत् हो जाऊंगा और प्रजा मेरा साथ छोड़ देगी।

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि कर राज्य की रक्षा के लिए था, अतः सजात अर्थात् राज-परिवार से संबद्ध लोगों से भी कर लिया जाता था।[४९]

अथर्ववेद के एक सूक्त में राजा के वरण का प्रसंग है। इसमें राजकीय आय के साधनों के विषय में 'बहुधा विरूपाः रेवतीः पथ्याः' कहा गया है। 'रेवतीः पथ्याः' का अभिप्राय है – धनागम या आय के स्रोत। 'बहुधा विरूपाः' का अर्थ है – ये आय के मार्ग अनेक प्रकार के हैं। ये विभिन्न रूपों वाले हैं। इनके विभिन्न रूपों को हम सामान्य कर, विशेष कर, सरल और कष्ट-साध्य आदि कह सकते हैं।[५०] कौटिल्य अर्थशास्त्र और महाभारत आदि में भी अनेक प्रकार के करों का उल्लेख है।

(ख) शुल्क

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि शुल्क (चुंगी) के रूप में भी कर वसूल किया जाता था। इनमें से कुछ शुल्कों के रूप ये हैं :–

---

४७. कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता ।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि । अ० ३.२९.७

४८. माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया
प्रतिगृह्य वि राधिषि । आ० ३.२९.८

४९. सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु । अ० ११.१.६

५०. पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः । अथर्व० ३.४.७

१. नदी, नालों और झरनों आदि से धन प्राप्त करना।[५१] यह शुल्क संभवतः नावों से, नावों पर बैठकर पार जाने वाले यात्रियों से, कृषि-कार्य हेतु नालों आदि के द्वारा जल लेने पर लगाया जाता था।

२. घी, दूध, जल से धन प्राप्त करना।[५२] इससे ज्ञात होता है कि घी और दूध की बिक्री करने वालों ग्वालों आदि से इनकी बिक्री पर कुछ कर लिया जाता था। जल से अभिप्राय है - नदी, नालों आदि से सिंचाई के निमित्त जो जल लिया जाता था, उस पर भी कुछ शुल्क निर्धारित था।

ऋग्वेद में दो स्थानों पर शुल्क शब्द का प्रयोग हुआ है। दोनों स्थलों पर शुल्क शब्द का अभिप्राय मूल्य है। एक स्थान पर 'महे शुल्काय' के द्वारा कहा गया है कि वरुण का तेज बड़े मूल्य या धन से दुर्लभ है।[५३] दूसरे स्थान पर कहा गया है कि हे इन्द्र! हम सौ, हजार या लाख के महाशुल्क (विशाल मूल्य) के बदले में भी तुम्हें नहीं दे सकते हैं।[५४] ऋग्वेद के इन दोनों प्रसंगों से शुल्क का अर्थ कर ज्ञात नहीं होता है।

परन्तु अथर्ववेद में शुल्क शब्द एक प्रकार के कर (Tax) के लिए प्रयुक्त हुआ है। राजा प्रजा से जो कर लेता था, उसके बदले में वह प्रजा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व लेता था। इसी प्रसंग में कहा गया है कि इस सुरक्षा-व्यवस्था के कारण कोई भी बलवान् निर्बल या असहाय से अनुचित रूप से शुल्क या कर नहीं ले सकता था।[५५]

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि राजा तटकर आदि के रूप में नदी आदि की यात्रा पर तथा घी-दूध आदि की बिक्री पर कुछ कर लगाता था। इस प्रकार नदी, घी, दूध आदि राजकीय आय के साधन थे। साथ ही अथर्ववेद में उल्लेख है कि जो ब्राह्मणों पर किसी प्रकार का कर लगाते थे, वे पापी होते थे।[५६] इससे ज्ञात होता है कि तटकर आदि के रूप में लिए जाने वाले शुल्क से ब्राह्मणों (ज्ञानियों, विद्वानों, संन्यासियों आदि) को मुक्त रखा जाता था।

---

५१. ये नदीनां संस्रवन्ति - उत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैः - धनं सं स्रावयामसि ।। अ० १.१५.३

५२. ये सर्पिषः संस्रवन्ति, क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिः ... धनं सं स्रावयामसि । अ० १.१५.४

५३. महे शुल्काय वरुणस्य नु त्विषे० । ऋग्० ७.८२.६

५४. महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय, न शताय शतामघ ।। ऋग्० ८.१.५

५५. यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे । अ० ३.२९.३

५६. ये वाऽस्मिन् शुल्कमीषिरे,
केशान् खादन्त आसते । अ० ५.१९.३

अथर्ववेद के इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि शुल्क शब्द चुंगी आदि के रूप में लिए जाने वाले कर के लिए है।

(ग) शत्रुविजय द्वारा प्राप्त धन

बलि और शुल्क के अतिरिक्त राजकीय आय का एक अन्य साधन भी था - युद्ध में पराजित राजाओं से धन-धान्य की प्राप्ति। ऋग्वेद और अथर्ववेद में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि राजा पराजित राजाओं का धन आदि ले लेता था। ऋग्वेद में एक मंत्र में कहा गया है कि हम युद्धों में शत्रु का धन-धान्य प्राप्त कर लें।[५७] राजा सोम के लिए कहा गया है कि वह शत्रुओं का धन हरण करने के लिए महायुद्धों में जाता है।[५८] ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि हम अपनी शक्ति से शत्रुओं को जीतें और उनका धन प्राप्त करें।[५९] इन्द्र के लिए कहा गया है कि उससे शत्रु भयभीत रहते हैं और वह शत्रुदेश की संपत्ति हर लेता है।[६०] अथर्ववेद का कथन है कि इन्द्र ने अपनी शक्ति से दस्यु राजा को मारा और उनका धन छीन लिया।[६१] धन जीतने वाले के लिए 'विदद्वसु' शब्द है।

उपर्युक्त संदर्भों से ज्ञात होता है कि राजकीय आय का एक साधन शत्रुविजय से प्राप्त धन भी था।

३. कर के विविध रूप

मनु ने कर (Tax) के ५ रूपों का उल्लेख किया है - बलि, कर, शुल्क, प्रतिभाग और दण्ड।[६२] इनका अन्तर इस प्रकार बताया गया है - प्रजा से राजा को प्राप्त होने वाला अन्न आदि छठा भाग 'बलि'। मासिक, त्रैमासिक, षाण्मासिक प्राप्तव्य राजभाग 'कर'। स्थल या जलादि मार्ग से व्यापार करने वालों से विक्रय-द्रव्यानुसार लिया जाने वाला धन या चुंगी

---

५७. सनेम वाजं समिथेषु - अर्यः । ऋग्० १.७३.५

५८. महे वाजाय धन्याय धन्वसि । ऋग्० ९.८६.३४

५९. वयं राजभिः प्रथमा धनानि,
अस्माकेन वृजनेना जयेम । ऋग्० १०.४२.१०

६०. आराच्चित् सन् भयतामस्य शत्रुः
अस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम् । ऋग्० १०.४२.६

६१. इन्द्रः पूर्भिदातिरद् दासमर्कैः,
विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् । अ० २०.११.१

६२. योऽरक्षन् बलिमादत्ते, करं शुल्कं च पार्थिवः ।
प्रतिभागं च दण्डं च, स सद्यो नरकं व्रजेत् ।। मनु० ८.३०७

(Custom Duty, Octroi) (आयात-निर्यात-कर) 'शुल्क'। फल, फूल, शाक आदि के रूप में लिया जाने वाला राजभाग 'प्रतिभाग'। जुर्माने के रूप में लिया जाने वाला राजभाग 'दण्ड' कहा जाता है। साथ ही मनु ने चेतावनी दी है कि यदि राजा कर लेकर प्रजा की रक्षा सुनिश्चित नहीं करता है तो वह नरक में जाता है अर्थात् महापापी माना जाता है।

अथर्ववेद में यद्यपि १/१६ वाँ भाग कर रूप में लेने का उल्लेख है, परन्तु सभी स्मृतियों आदि में छठा भाग लेने का विधान है। मनु का कथन है कि जो राजा प्रजा से बलि (Tax) रूप में छठा भाग लेकर प्रजा की रक्षा नहीं करता है, वह सारी प्रजा के पापों का भागी होता है।[६३] इसी भाव को दूसरे श्लोक में भी कहा है कि प्रजा की रक्षा न करने वाला और कर के धन का अपने लिए उपयोग करने वाला राजा अधोगति को प्राप्त होता है।[६४]

मनु का कथन है कि यदि राजा प्रजा की रक्षा करता है तो प्रजा के सारे धर्म का छठा भाग राजा को प्राप्त होता है। इस धर्मकार्य में वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, पूजा-पाठ सभी कुछ आता है। इन सारे पुण्यों का छठा भाग राजा को प्राप्त होता हैं। दूसरी ओर यदि राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता है तो सारे अधर्म (पाप) का भी छठा भाग राजा को प्राप्त होगा।[६५]

महाकवि कालिदास ने रघुवंश और अभिज्ञान शाकुन्तल में इस विषय में सुन्दर विचार रखे हैं। कालिदास का कथन है कि राजा प्रजा के कल्याण के लिए बलि (Tax) लेता है। ज़ैसे सूर्य पृथिवी से जल लेता है और उसके बदले में हजार गुना लाभप्रद वृष्टि करता है।[६६] शाकुन्तल में वर्णन है कि तपस्वी जो तपस्या करते हैं, उसका छठा भाग वे राजा को कर रूप में देते हैं। उनका यह दान अक्षय सुख का साधन होता है।[६७]

महाभारत का कथन है कि राजा प्रजा से आय का छठा भाग बलि (Tax) के रूप

---

६३. अरक्षितारं राजानं, बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य, समग्रमलहारकम् । मनु० ८.३०८

६४. अरक्षितारमत्तारं, नृपं विद्यादधोगतिम् । मनु० ८.३०९

६५. सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।
अधर्मादपि षड्भागो, भवत्यस्य ह्यरक्षतः ।। मनु० ८.३०४
यदधीते यद्यजते, यद् ददाति यदर्चति ।
तस्य षड्भागभाग् राजा, सम्यग् भवति रक्षणात् ।। मनु० ८.३०५

६६. प्रजानामेव भूत्यर्थं, स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुम् , आदत्ते हि रसं रविः ।। रघुवंश सर्ग १.१८

६७. तपःषड्भागमक्षय्यं, ददत्यारण्यका हि नः । शाकु० २.१३

में ग्रहण करके उसकी सुरक्षा करे। जो कर लेकर प्रजा की रक्षा नहीं करता है और उस धन का अपने लिए उपयोग करता है, वह राजा चोर है।[६८]

महाभारत में ही अन्यत्र कहा गया है कि राजा इन उपायों से अपने कोश की वृद्धि करे :– १. प्रजा से उनकी आय का छठा भाग कर रूप में ले। २. अपराधियों को आर्थिक दंड (जुर्माना) दे। ३. व्यापारियों आदि से विधिसंमत कर ले।[६९]

शुक्राचार्य का कथन है कि राजा इन उपायों से कोश की वृद्धि करे :– १. दण्ड– अपराधियों आदि पर आर्थिक दंड लगावे। २. पृथिवीकर - मालगुजारी वसूल करे। ३. शुल्क - चुंगी वसूल करे। ४. अधार्मिक राजा की संपूर्ण संपत्ति छीन ले। इसके लिए छल, बल आदि कोई भी उपाय कर सकता है।[७०] ५. शत्रु राजा का धन-हरण। आपत्ति के समय इन उपायों से भी धन-संग्रह करे :– १. तीर्थयात्रा पर कर, २. मन्दिर-दर्शन पर कर, ३. व्यापारियों से सूद-सहित लौटाने के वायदे पर ऋण लेना।[७१]

महाभारत में राजकीय आय के लिए कुछ अन्य उपायों का भी उल्लेख किया गया है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि इन करों को इकठ्ठा करने के लिए राजा अपने विश्वसनीय मंत्रियों या पुरुषों को नियुक्त करे। ये आय के साधन हैं :– सोने आदि की खान, नमक, अनाज आदि की मंडी, तटकर अर्थात् नावों आदि से पार उतराई का शुल्क, हस्तिसमूह या पशुमेला आदि पर कर।[७२]

महाभारत ने यह भी निर्देश दिया है कि केवल कोशवृद्धि के लिए अधार्मिक और अशास्त्रीय उपायों को न अपनावे। जो राजा अधिक धन का लोभी होकर अनुचित साधनों से प्रजा से अधिक कर लेता है, वह अपने ही हाथों से अपना विनाश करता है।[७३] उदाहरण

---

६८. बलिषड्भागमुद्धृत्य, बलिं समुपयोजयेत् ।
न रक्षति प्रजाः सम्यग्, यः स पार्थिवतस्करः ।। महा० शान्ति० १३९.१००

६९. बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम् ।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा, वेतनेन धनागमम् । महा. शान्ति० ७१.१०

७०. दण्ड-भूभाग-शुल्कानाम् , आधिक्यात् कोशवर्धनम् ।
अनापदि न कुर्वीत, तीर्थ-देव-कर-ग्रहात् ।। शुक्र० ४.२.९
अधर्मशीलनृपतेः, सर्वतः संहरेद् धनम् ।
छलाद् बलाद् दस्युवृत्त्या, परराष्ट्राद् हरेद् धनम् ।। शुक्र० ४.२.७

७१. शुक्रनीति ४.२.९, १०, ११

७२. आकरे लवणे शुल्के, तरे नागबले तथा ।
न्यसेदमात्यान् नृपतिः, स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान् ।। महा० शान्ति० ६९.२९

७३. अर्थमूलोऽपि हिंसां च, कुरुते स्वयमात्मनः ।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि, मोहात् संपीडयन् प्रजाः ।। महा० शान्ति० ७१.१५

के रूप में कहा गया है कि जैसे कोई दूध के लिए गाय का थन ही काट ले तो उसे दूध ही नहीं मिलेगा।[७४] जो राजा उपाय से राष्ट्र को सुरक्षित रखते हुए उससे उचित रूप में कर लेता है, उसका कोश सदा बढ़ता रहता है।[७५] राजा द्वारा सुरक्षित पृथ्वी राजा को सदा धन-धान्य और सुवर्ण से परिपूर्ण रखती है।[७६]

आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कर-संग्रह के विषय में बहुत विस्तार से विचार किया है। प्रमुख कर-संग्रह-कर्ता अधिकारी को समाहर्ता (Collector) नाम दिया है। आय के साधनों को सात भागों में बांटा है। इनके पारिभाषिक नाम दिए हैं :– दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज और वणिक् पथ (व्यापार-संबन्धी कार्य)।[७७] इनमें कुछ विशेष उल्लेखनीय आय के साधन ये हैं :– शुल्क (चुंगी), दण्ड (जुर्माना), तेल-घी आदि के विक्रेताओं से कर, द्यूत, वास्तुक (शिल्पी), बढ़ई, लुहार, सुनार आदि से कर लेना, खेती, धान्य का षष्ठ अंश, उपहार, व्यापारकर, तटकर, खनिजों पर कर, फल-फूल पर कर, स्थलमार्ग और जलमार्ग पर यातायात कर आदि।[७८]

इनके अतिरिक्त भी कुछ आय के साधन बताए हैं। जैसे - मूल (राजकीय अन्न आदि की विक्री से प्राप्त धन), भाग (उपज का षष्ठ अंश), व्याजी (कपटी व्यापारियों से दंड रूप में प्राप्त धन), परिघ (लाबारिस का धन), क्लृप्त (नियत कर), रूपिक (नमक कर), अत्यय (जुर्माने का धन) आदि।[७९]

कौटिल्य ने 'कोशाभिसंहरणम्' अध्याय में विभिन्न वस्तुओं पर अलग-अलग ढंग से कर वसूल करने का विधान किया है। राजा अर्थसंकट के समय इन उपायों से कोश की वृद्धि करे।[८०] इनमें कर के कुछ उपाय ये दिए गए हैं :– १. अन्न का १/३ या १/४ अंश जनपदों से ले। २. वन में होने वाले अन्न तथा रूई, जूट, ऊन, कपास, रेशम, ओषधि का १/६ अंश। ३. हाथी दांत, गाय आदि के चमड़े पर ५० प्रतिशत। ४. सोना, चांदी, रत्नों आदि व्यापारिक वस्तुओं पर लागत का २ प्रतिशत कर लिया जाए। ५. सूत, कपड़ा,

---

७४. ऊधश्छिन्द्यात् तु यो धेन्वाः, क्षीरार्थी न लभेत् प्रजाः । महा० शान्ति० ७१.१६

७५. अथ राष्ट्रमुपायेन, भुज्यमानं सुरक्षितम् ।
जनयत्यतुलां नित्यं, कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ।। महा० शान्ति० ७१.१८

७६. द्रोग्ध्री धान्यं हिरण्यं च, मही राज्ञा सुरक्षिता ।। महा० शान्ति० ७१.१९

७७. समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत । अर्थशास्त्र पृ० ११९

७८. शुल्कं दण्डः, सीता भागो बलिः करः, सुवर्ण-रजत-वज्र-मणि-मुक्ता० ।
पुष्प-फल०, स्थलपथो वारिपथश्च० इति आयशरीरम् । अर्थ० पृ० ११९-१२०

७९. मूलं भागो व्याजी ... इति आयमुखम् । अर्थ० पृ० १२०

८०. अर्थशास्त्र पृ० ५०२ से ५०५

तांबा, पीतल, जड़ी-बूटी और शराब पर २-१/२ प्रतिशत कर ले। ६. कांच के व्यापारी और बड़े कारीगरों से ५ प्रतिशत कर ले। ७. गेहूँ-धान आदि अन्न, तेल, घी, लोहा पर ३-१/२ कर ले। ८. नट, नर्तक, गायक और वेश्याओं से उनकी कमाई का ५० प्रतिशत राजकर ले।

कौटिल्य ने इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि जो वस्तुएँ राष्ट्रीय हित को हानि पहुँचाने वाली हों या अनावश्यक हों, उनका आयात न होने दे। उन वस्तुओं को जब्त कर लिया जाय या नष्ट कर दिया जाय। साथ ही जो वस्तुएँ राष्ट्र के लिए हितकर हों या दुर्लभ हों, उनपर चुंगी न लगाई जाय और ऐसी वस्तुओं का अधिक आयात किया जाय।[८१] कुछ वस्तुएँ जो देश के लिए आवश्यक हैं, जैसे शस्त्र-अस्त्र, लोहा, रत्न, अन्न, पशु आदि इनके निर्यात पर प्रतिबन्ध लगावे। यदि कोई अवैध ढंग से इनका निर्यात करे तो उस व्यापारी को निर्धारित दंड दिया जाय या उसकी वस्तु को जब्त कर लिया जाय।[८२]

अवैध शराब बनाने, बेचने और खरीदने वालों पर जुर्माना किया जाय।[८३] विदेशी व्यापारियों के सामान की पूरी जांच की जाय। उनके घटिया और बढ़िया माल का पूरा विवरण नोट किया जाय। माल घटिया होने पर चुंगी से आठगुना जुर्माना करे और बढ़िया माल छिपाने पर पूरा माल जब्त कर लिया जाय।[८४]

कौटिल्य के विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वस्तुओं की उपयोगिता, अनुपयोगिता, राष्ट्रीय हित आदि को ध्यान में रखकर कर का निर्धारण किया जाता था।

४. कर लेने के प्रकार

प्रजा से कर किस विधि से लिया जाय, जिससे प्रजा को कष्ट न हो और राज्य का प्रशासन भी ठीक ढंग से चल जाय, इस विषय पर अर्थशास्त्र और महाभारत में कुछ उपयोगी बातें दी गई हैं। कौटिल्य का मत है कि कर इस प्रकार से लिया जाय, जैसे वाटिका से पके हुए फल लेते हैं। यदि कच्चे फल की तरह प्रजा से अधिक कर लेने लगेंगे तो प्रजा क्रुद्ध हो जाएगी।[८५]

---

८१. राष्ट्रपीडाकरं भाण्डम् , उच्छिन्द्यादफलं च यत् ।
महोपकारम् उच्छुल्कं, कुर्याद् बीजं तु दुर्लभम् । अर्थ० पृ० २३१

८२. शस्त्रवर्मकवच-लोह-रथ-रत्न-धान्य-पशूनाम् अन्यतमा -
निर्वाह्यं निर्वाहयतो यथावघुषितो दण्डः पण्यनाशश्च । अर्थ० पृ० २३०

८३. षट्शतमत्ययमन्यत्र कर्तृ-क्रेतृ-विक्रेतृणां स्थापयेत् । अर्थ० पृ० २४५

८४. अर्थशास्त्र पृ० २३०-२३१

८५. पक्वं पक्वमिवारामात् , फलं राज्यादवाप्नुयात् ।
आत्मच्छेदभयादामं, वर्जयेत् कोपकारकम् ।। अर्थशास्त्र पृ० ५११

यही भाव महाभारत में दूसरे शब्दों में मिलता है। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा है कि हे युधिष्ठिर! तुम माली के समान बनो। कोयला बनाने वाले के तुल्य नहीं।[८६] इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार माली वृक्षों को सींचता है और रक्षा करता है, तब उनसे फल-फूल ग्रहण करता है। उसी प्रकार प्रजा की सुरक्षा करके कर लो। दूसरी ओर कोयला बनाने वाला पूरे वृक्ष को ही जला कर कोयला बनाता है, उसी प्रकार राज्य का शोषण करके कर न लो।

महाभारत शान्तिपर्व में ही अन्यत्र कर के विषय में कुछ अन्य विधियाँ दी गई हैं। इनमें से कुछ रोचक और मनोरंजक भी हैं। एक सर्वोत्तम विधि दी गई है कि जिस प्रकार भौंरा वृक्ष से पुष्प रस (पराग और मधु) ले लेता है और वृक्ष को हानि नहीं पहुंचाता, उसी प्रकार राजा प्रजा से कोमलता के साथ कर ले।[८७] अन्य विधि बताई है, जैसे ग्वाला, बछड़े का ध्यान रखते हुए, गाय का दूध दुहता है और थनों को हानि नहीं पहुंचाता, उसी प्रकार राजा प्रजा के हितों का ध्यान रखते हुए कर ले।[८८] एक अन्य विधि बताई है, जैसे जोंक धीरे-धीरे खून चूसती है, उसी प्रकार कोमलता से कर वसूल करे।[८९] एक अन्य विधि बताई है, जैसे व्याघ्री (बाघिन) अपने बच्चे को दांत से पकड़ कर ले जाती है और उसे काटती नहीं है, उसी प्रकार प्रजा को कष्ट न देते हुए प्रजा से कर वसूल करे।[९०]

एक अन्य मनोरंजक प्रकार बताया है कि चूहा सोते हुए आदमी के पैर से खून चूसना चाहता है तो वह पैर में बहुत धीरे से एक जगह दांत चुभा देता है। सोने वाला केवल पैर कँपा देता है। चूहा उस दांत लगी हुई जगह से धीरे - धीरे खून चूसता रहता है। इसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह कोमल उपायों से प्रजा से कर ले, जिससे उसे कष्ट अनुभव न हो।[९१]

महाभारत का कथन है कि यदि कर बढ़ाना भी हो तो धीरे-धीरे क्रमशः कर बढ़ावे। एक बार में अधिक कर न बढ़ावे।[९२] साथ ही यह भी निर्देश दिया है कि अकारण और असमय में कर की वृद्धि न करे। अनिवार्य परिस्थितियों में ही कर बढ़ावे।[९३]

---

८६. मालाकारोपमो राजन् , भव माऽऽङ्गारिकोपमः । महा० शान्ति० ७१.२०

८७. मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं, भ्रमरा इव पादपम् । महा० शान्ति० ८८.४

८८. वत्सापेक्षी दुहेच्चैव, स्तनांश्च न विकुट्टयेत् । शान्ति० ८८.४

८९. जलौकावत् पिबेद् राष्ट्रं, मृदुनैव नराधिपः । शान्ति० ८८.५

९०. व्याघ्रीव च हरेत् पुत्रान् , संदशेन्न च पीडयेत् । शान्ति० ८८.५

९१. यथा शल्यकवानाखुः, पदं धूनयते सदा ।
अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन, तथा राष्ट्रं समापिबेत् । शान्ति० ८८.६

९२. अल्पेनाल्पेन देयेन, वर्धमानं प्रदापयेत् ।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत् ।। महा० शान्ति० ८८.७

९३. न चास्थाने न चाकाले, करांस्तेभ्यो निपातयेत् ।। शान्ति० ८८.१२

महाभारत का यह भी कथन है कि दुर्व्यसनी, दुराचारी तथा अपराधी प्रवृत्ति के लोग प्रजा को कष्ट में डालते हैं, अतः इस प्रकार के लोगों को कठोर नियन्त्रण में रखे और इनसे अधिक कर वसूल करे। इस प्रकार के लोगों में गिनाया गया है :– शराब खाना खोलने वाले, शराब की दूकान वाले, वेश्याएँ, कुट्टनियाँ, वेश्याओं के दलाल, जुआरी, चोर, उचक्के, डाकू आदि बुरे पेशे वाले लोग तथा अन्य इसी प्रकार के असामाजिक तत्त्व। ये राष्ट्र को हानि पहुँचाते हैं तथा सामान्य जनता को पीडित करते हैं, अतः इन पर कठोर नियन्त्रण चाहिए।[९४]

५. मुद्राएँ

वैदिक साहित्य में मुद्रा-विषयक सामग्री अत्यल्प है। वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए मुद्रा एक अत्यन्त उपयोगी साधन है, अतः जनसाधारण की सुविधा के लिए मुद्राओं का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। वैदिक साहित्य में अधिकांश जो सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि क्रय-विक्रय मुख्यतया विनिमय सिद्धान्त के आधार पर था। वस्तुओं से वस्तुओं की विक्री होती थी। तथापि कुछ सन्दर्भ ऐसे हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वैदिक काल में कुछ मुद्राओं का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था।

निष्क :– ऋग्वेद और अथर्ववेद में निष्क शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। निष्क एक सुवर्ण का आभूषण था।[९५] इसे गले में पहना जाता था। गले में इस सुवर्ण के आभूषण को पहनने वाले को निष्कग्रीव कहते थे।[९६] ऋग्वेद में निष्क को 'यजत' शब्द के द्वारा बहुमूल्य और आदरणीय धातु कहा गया है। साथ ही इसे 'विश्वरूप' भी कहा गया हैं।[९७] विश्वरूप का अभिप्राय यह है कि निष्क सुवर्ण का अनेक प्रकार से उपयोग होता था। एक ओर इसके सुवर्ण आभूषण बनते थे, दूसरी ओर मुद्रा के रूप में भी इसका उपयोग होता था। अथर्ववेद में निष्क का मुद्रा के रूप में उल्लेख है। इसमें दो बार सौ निष्कों का उल्लेख है। साथ ही यह भी कहा गया है कि ये सोने के हैं।[९८] ऋग्वेद में भी सौ निष्कों का उल्लेख है।[९९] इससे

---

९४. पानागारनिवेशाश्च, वेश्याः प्रापणिकास्तथा ।
कुशीलवाः सकितवा, ये चान्ये के चिदीदृशाः ।।
नियम्याः सर्व एवैते, ये राष्ट्रस्योपघातकाः ।
एते राष्ट्रेऽभितिष्ठन्तो, बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ।। महा० शान्ति० ८८.१४,१५

९५. निष्कमिव प्रति मुञ्चताम् । अथर्व० १९.५७.५

९६. निष्कग्रीवः । ऋग्०५.१९.३ । अथर्व० ५.१७.१४

९७. निष्कं यजतं विश्वरूपम् । ऋग्० २.३३.१०

९८. शतं निष्कान् । अ० २०.१२७.३
शतं निष्का हिरण्ययाः । अ० २०.१३१.५

९९. शतं ... निष्कान् । ऋग्० १.१२६.२

ज्ञात होता है कि निष्क सोने का एक सिक्का था और इसका प्रचलन था। इसी आधार पर डा० मैकडानल और डा० कीथ ने भी अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया है कि निष्क एक सिक्का भी रहा होगा।[१००] गोपथ ब्राह्मण और लाट्यायन श्रौतसूत्र में भी निष्क का सुवर्ण मुद्रा के रूप में उल्लेख है।[१०१]

शतपथ ब्राह्मण में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि निष्क सोने का सिक्का था। वहाँ उल्लेख है कि उद्दालक आरुणि ने स्वैदायन आचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए एक सुवर्ण निष्क की शर्त रखी थी।[१०२]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस विषय पर बहुत विस्तृत विचार किया है और बताया है कि जातकग्रन्थों, महाभारत और पाणिनि ने निष्क को सुवर्ण मुद्रा माना है।[१०३] जातकग्रन्थों में 'सुवर्णनिष्कशत' (सुवण्णनिक्खसतम्) का उल्लेख है।[१०४] महाभारत में लखपति, करोड़पति के तुल्य 'शतनिष्क' 'सहस्रनिष्क' (सौ निष्क वाला, सहस्र निष्कवाला) का उल्लेख है।[१०५] पाणिनि ने इन्हें 'नैष्कशतिक' और 'नैष्कसहस्रिक' कहा है।[१०६]

डा० अग्रवाल ने यह भी उल्लेख किया है कि जिस प्रकार ब्रिटेन में पौंड सोने का सिक्का है और आधे पौंड का सिक्का भी सोने का है। उसीप्रकार संभवतः अर्धनिष्क और पादनिष्क (निष्क का आधा और चौथाई) के सिक्के भी परकाल में रहे होंगे। पतंजलि ने 'पादनिष्क' (प्रचलित नाम पन्निष्क) का उल्लेख किया है। निष्क के इस चौथाई सिक्के को 'सुवर्ण' कहते थे।[१०७] मनुस्मृति का कथन है कि ४ सुवर्ण या ३२० रत्ती के बराबर निष्क का तोल होता था।[१०८]

डा० भांडारकर ने यह सिद्ध किया है कि हिरण्य और सुवर्ण में अन्तर है। अनगढ़ हुण्ड या बार (Bar-Gold) को हिरण्य कहते थे और सोने के सिक्के (Coined gold) को सुवर्ण कहते थे।[१०९] कौटिल्य के अनुसार सुवर्ण का भार १ कर्ष अर्थात् ८० गुंजा (लगभग १५० ग्रेन) के बराबर होता था।

---

१००. वैदिक इन्डेक्स, १.४५५

१०१. गोपथ ब्रा० १.३.६ । लाट्या० ९.९.२०

१०२. शतपथ० ११.४.१.८

१०३. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २५० से २५४

१०४. पालिजातक भाग १ पृ० ३७५

१०५. महाभारत अनुशासन पर्व, १३.४३

१०६. शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् । अष्टा० ५.२.११९

१०७. पाणिनि० भारतवर्ष, पृ० २५२

१०८. चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः । मनु० ८.१३७

१०९. डा० भांडारकर, प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र, पृ० ५१

पंचविंश ब्राह्मण (या तांड्य ब्राह्मण) से ज्ञात होता है कि निष्क चांदी का भी होता था। इसमें व्रात्य द्वारा चांदी के निष्क पहनने का उल्लेख है।[११०]

इससे ज्ञात होता है कि निष्क सुवर्ण अलंकार के साथ ही मुद्रा रूप में भी प्रचलित था।

रुक्म :– ऋग्वेद और अथर्ववेद में रुक्म शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। रुक्म शब्द भी सुवर्ण अलंकार के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह छाती पर पहना जाता था। इसको पहनने वाले को रुक्मवक्षस् कहते थे। मरुत् देवों को 'रुक्मवक्षस्' कहा गया है।[१११] रुक्म से रथों आदि को सजाया जाता था। अतः रुक्म-युक्त को 'रुक्मिन्' कहते थे।[११२] अथर्ववेद में दो मंत्रों में ५ रुक्मों का उल्लेख है।[११३] इसके साथ ही ५ वस्त्र और ५ गाय आदि का उल्लेख है, इससे ज्ञात होता है कि रुक्म भी एक सिक्का रहा होगा। यह अशर्फी के तुल्य सोने का सिक्का रहा होगा। पाणिनि और कौटिल्य ने जिसे सुवर्ण का सिक्का कहा है, संभवतः रुक्म (सुवर्ण) उसी सुवर्ण का बोधक है। निष्क और रुक्म का अन्तर यही मानना चाहिए कि ४ सुवर्ण के तुल्य ४ रुक्म का एक निष्क होता है। मैत्रायणी संहिता में रुक्म को 'शतमान' कहा गया है।

शतमान :– शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र में सुवर्ण को शतमान कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि शतमान सुवर्णमुद्रा थी।[११४] सोने की दक्षिणा में शतमान सुवर्ण दिया जाता था। कात्यायन ने भी सुवर्ण के शतमान को दक्षिणा में देने का उल्लेख किया है।[११५] सायण और कर्काचार्य ने व्याख्या की है कि शतमान सौ रत्ती का सोने का सिक्का था।[११६] मैत्रायणी संहिता ने रुक्म को ही शतमान कहा है।[११७] वैदिक इन्डेक्स में प्रो० मैकडानल और कीथ ने भी इसे स्वीकार किया है।

शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि शतमान सिक्का सोने और चांदी दोनों का होता था। शतमान का अभिप्राय है - सौ रत्ती तोल का। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि सोने

---

११०. पंच० १७.१.१४

१११. रुक्मवक्षसः । ऋग्० २.३४.२ । ८.२०.२२ । अथर्व० ६.२२.२

११२. रथो न रुक्मी । ऋग्० १.६६.३

११३. पञ्च रुक्मा । अथर्व० ९.५.२५ । ९.५.२६

११४. तस्य त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा । शतपथ० ५.५.५.१६
हिरण्यं दक्षिणा सुवर्णं शतमानम् । शत० १३.२.३.२

११५. शतमानं दक्षिणा सौवर्णम् । का० श्रौत० २०.१.२२

११६. रक्तिका-शतमान, का. श्रौत० १५.६.३० की व्याख्या ।

११७. शतमानो रुक्मः । मैत्रा० २.२.२

और चांदी दोनों की दक्षिणा देनी चाहिए। यह दक्षिणा शतमान होनी चाहिए (अर्थात् १०० कृष्णल या १०० रत्ती), क्योंकि पुरुष की आयु सौ वर्ष होती है।[११८] सुवर्ण के शतमान को सौवर्णशतमान और चांदी के शतमान को राजत शतमान कहते थे। कात्यायन श्रौतसूत्र में सुवर्ण शतमान के साथ राजत शतमान का स्पष्ट उल्लेख है।[११९] मैत्रायणी संहिता में भी दोनों प्रकार के शतमान का उल्लेख है।[१२०] वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि कालक्रम से शतमान का अधिक संबन्ध चांदी के सिक्के से होने लगा। शतमान सिक्के की इकाई कृष्णल या रत्ती थी। सौ रत्ती तोल का चांदी का सिक्का १८० ग्रेन तोल में रहा होगा। सौ रत्ती वाले चांदी के वास्तविक सिक्के तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त हुए हैं।[१२१]

कृष्णल या रक्तिका :– कृष्णल को रक्तिका, रत्ती, गुंजा या चोंटली कहते हैं। यह रत्ती लता का लाल बीज होता है इसके ऊपर काला चिह्न होता है, अतः इसको कृष्णल कहते हैं। यह छोटा सा बीज है, जो माप के काम में आता था। तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता और काठक संहिता में कृष्णल या रत्ती तोल का उल्लेख आया है।[१२२] इससे ज्ञात होता है कि शतमान सिक्के की इकाई कृष्णल (रत्ती) रहा होगा।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि वाजपेय यज्ञ में एक कृष्णल या रत्ती दक्षिणा में दे।[१२३] सौ रत्ती तोल का चांदी का सिक्का शतमान लगभग १८० ग्रेन का रहा होगा। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में शतमान सिक्के की तोल ३२० रत्ती कही गई है।[१२४] परन्तु डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि तक्षशिला की खुदाई से सौ रत्ती वाले चांदी के सिक्के प्राप्त हुए हैं। इनकी तोल १७७.३ ग्रेन या ठीक सौ रत्ती के लगभग है। संभव है कालक्रम के अनुसार मनु आदि के समय में ये सिक्के कुछ भारी बनने लगे हों।[१२५]

याज्ञवल्क्य स्मृति का कथन है कि ३ मध्यम जौ के बराबर १ कृष्णल होता है और ५ कृष्णल (रत्ती) का १ माष (मासा) होता है। १६ मासे का १ सुवर्ण होता है और ४

---

११८. रजतं हिरण्यं दक्षिणा नानरूपतया शतमानं भवति, शतायुर्वै पुरुषः । शत० १३.२.३.२

११९. शतमानदक्षिणान् , मध्यमस्य राजतः । कात्या० श्रौत० २०.२.६

१२०. शतमानो रुक्मो रजतोऽधस्तात् स्यात् । मैत्रा० सं० २.२.२

१२१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० २५४-२५५

१२२. शतकृष्णलां निर्वपेत् । तैत्ति० सं० २.३.२.१
शतमानो रुक्मः, शतकृष्णलम् आयुष्कामः । मैत्रा० सं० २.२.२

१२३. तैत्ति० ब्रा० १.३.६.७

१२४. धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः । मनु० ८.१३७
शतमानं तु दशभिर्धरणैः पलमेव तु । याज्ञ० १.३६५

१२५. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० २५५

सुवर्ण का एक निष्क होता है।[१२६] तैत्तिरीय ब्राह्मण में हिरण्य कृष्णल का उल्लेख है।[१२७] इससे ज्ञात होता है कि कृष्णल (रत्ती) सिक्का सोना का भी होता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही कहा गया है कि शतमान में मान शब्द पण (कार्षापण) के बीसवें भाग के लिए है। कार्षापण प्राचीन समय में प्रचलित एक चांदी का सिक्का था। इसकी तोल ३२ रत्ती या लगभग ६० ग्रेन थी।[१२८]

मनु और याज्ञवल्क्य स्मृति में कृष्णल, सुवर्ण और निष्क की तोल प्रायः एक ही दी गई है। मनु के अनुसार ६ सफेद सरसों का १ मध्यम जौ, ५ मध्यम यवों का १ कृष्णल (रत्ती), ५ कृष्णल (रत्ती) का १ माष (मासा), १६ मासों का १ सुवर्ण (१ रुपया भर या ८० रत्ती भर), ४ सुवर्णों का १ निष्क (या १ अशर्फी)।[१२९]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में कतिपय सुवर्ण और चांदी के सिक्कों का प्रचलन था।

६. कोश-संग्रह से संबद्ध अधिकारी

वेदों में कोश-संग्रह से संबद्ध विषय का कहीं कोई प्रसंग नहीं आया है। यजुर्वेद और उससे संबद्ध संहिताओं में कुछ राजकर्मचारियों का उल्लेख है। इनमें से कुछ राजकीय कोश से संबद्ध अधिकारी ज्ञात होते हैं। ये कर्मचारी हैं :– भागदुघ, संग्रहीता और गणक। इनके वास्तविक अधिकारों और कर्तव्यों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

(क) भागदुघ :– यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में कतिपय व्यवसायों, उद्योगों और अधिकारियों का उल्लेख है। इसमें भागदुघ नामक राजकर्मचारी का उल्लेख है।[१३०] तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में भी भागदुघ का उल्लेख है।[१३१] यह राजा के रत्नियों में से एक होता था। राजा के निर्वाचन आदि में

१२६. यवो मध्यस्तु ते त्रयः ।
कृष्णलः, पञ्च ते माषः, ते सुवर्णस्तु षोडश । याज्ञ० १.३६३
निष्कं सुवर्णाश्चत्वारः । याज्ञ० १.३६५

१२७. तैत्ति० ब्राह्मण १.३.६.७

१२८. पाणिनि० भारत० पृ० २५६ से २६०

१२९. सर्षपाः षट् यवो मध्यः त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।
पञ्चकृष्णलो माषः, ते सुवर्णस्तु षोडश ।। मनु० ८.१३४
चतुःसौवर्णिको निष्को, विज्ञेयस्तु प्रमाणतः । मनु० ८.१३७

१३०. स्वर्गाय लोकाय कामदुघम् । यजु० ३०.१३

१३१. तैत्ति० सं० १.८.९.२ । काठक सं० १५.४ । मैत्रायणी सं० २.६.५ ।
४.३.८ । तैत्ति० ब्रा० १.७.३.५ । ३.४.८.१ । शतपथ ब्रा० १.१.२.१७ । ५.३.१.९

ये रत्नी अधिकारी के रूप में भाग लेते थे। तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के उक्त प्रसंगों की व्याख्या में सायण ने इसे कर वसूल करने वाला अधिकारी माना है।

भागदुघ का शाब्दिक अर्थ है – भाग या अंश दुहने वाला। जिस प्रकार गाय दुहने वाला गाय दुहकर दूध एकत्र करता है, उसी प्रकार पृथिवीरूप गाय का कररूपी दूध दुह कर संग्रह करने वाला अधिकारी भागदुघ होता था। यह कर-संग्रह-कर्ता एक राजकीय अधिकारी होता था। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इसे Collector of Revenue कहा है।[१३२] कौटिलीय अर्थशास्त्र में कर वसूल करने वाले अधिकारी को समाहर्ता कहा है। डा० जायसवाल का मत है कि भागदुघ को ही बाद में समाहर्ता नाम दिया गया।[१३३] यजुर्वेद में भागदुघ के लिए 'स्वर्गाय लोकाय' कहकर बहुत अधिक संमान दिया गया है और इसे स्वर्ग प्राप्त करने का पात्र समझा गया है।[१३४] तैत्तिरीय और मैत्रायणी संहिताओं में इसे 'अथैते रत्निनः' कहकर 'रत्निन्' अर्थात् रत्नधारी राज-निर्वाचक माना गया है। दोनों संहिताओं में भागदुघ के साथ ही रत्नियों में 'संग्रहीता' और 'क्षत्ता' का भी उल्लेख है।[१३५]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि समाहर्ता राज्य का बहुत बड़ा राजस्व अधिकारी होता था। यह सारे जनपदों से कर वसूल करने के नियम बनता था। राजस्वविभाग से संबद्ध सभी विभागाध्यक्षों और कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखता था। आर्थिक-अपराधों पर जुर्माना करता था और उसकी वसूली करता था।[१३६]

कौटिल्य के अनुसार संनिधाता (प्रमुख कोषाध्यक्ष) और समाहर्ता (प्रमुख राजस्व-अधिकारी) बहुत उच्च अधिकारी होते थे। इनके वेतन से इनका ज्येष्ठता-क्रम ज्ञात किया जा सकता है। मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज आदि को ४८ हजार पण प्रतिवर्ष। समाहर्ता, संनिधाता और आयुधाध्यक्ष आदि को २४ हजार पण प्रतिवर्ष, अर्थात् मंत्री आदि का आधा वेतन। इसका आधा वेतन मंत्रिपरिषद् के सदस्यों और राजकुमार आदि को।[१३७]

(ख) संग्रहीता :– यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में 'संग्रहीता' नामक अधिकारी का

---

१३२. Hindu Polity, Page 202

१३३. वही, पृ० २०२

१३४. यजु० ३०.१३

१३५. अथैते रत्निनः । संग्रहीतुः, क्षत्तुः, भागदुघस्य । मैत्रा० ४.३.८
क्षत्तुर्गृहे । संग्रहीतुर्गृहे । भागदुघस्य गृहे । तैत्ति० सं० १.८.९.२

१३६. कौटिलीय अर्थशास्त्र पृ० २९७, ४६३, ५०३

१३७. अर्थशास्त्र, पृ० ५१२-५१३

संकेत प्राप्त होता है।[१३८] इस मंत्र में इसे नमस्कार कहा गया है, इससे ज्ञात होता है कि यह संमाननीय अधिकारी होता था। संग्रहीता का अर्थ है :– संग्रह करने वाला या कर वसूल करने वाला। तैत्तिरीय ब्राह्मण में संग्रहीता का अर्थ 'कोशवृद्धिकारी' किया गया है।[१३९] इससे ज्ञात होता है कि यह राजस्व से संबद्ध अधिकारी था। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने संग्रहीता को Master of Treasury अर्थात् कोषाधिपति माना है और कहा है कि इसे ही बाद में 'संनिधाता' नाम दिया गया है।[१४०] कौटिल्य ने कोषाधिकारी को संनिधाता कहा है।[१४१]

तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता और काठक संहिता में भी संग्रहीता (संग्रहीतृ) शब्द का प्रयोग मिलता है।[१४२] यहां पर यह शब्द राजा के रत्नियों में से एक अधिकारी के लिए प्रयुक्त हुआ है। सायण ने तैत्तिरीय संहिता की व्याख्या में इसे राजा का कोषाध्यक्ष बताया है।[१४३] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में भी 'संग्रहीता' का उल्लेख है।[१४४]

उक्त संदर्भों से ज्ञात होता है कि संग्रहीता कोश से संबद्ध उच्च अधिकारी होता था।

(ग) गणक :– यजुर्वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण में गणक का उल्लेख है।[१४५] यजुर्वेद में ग्रामणी के साथ गणक का उल्लेख है और उसके अभिनन्दन का विधान है।[१४६] इससे ज्ञात होता है कि गणक का स्थान भी ग्रामणी के तुल्य आदरणीय था। गणक का अर्थ गणना करने वाला है। संभवतः यह कोश से संबद्ध आय-व्यय का विवरण रखने वाला कोई अधिकारी रहा होगा। गणक का अर्थ गणना करने वाला ज्योतिषी भी है। गणक के विषय में विस्तृत विवरण अप्राप्य है, अतः इसके कार्य आदि के विषय में कुछ कहना संभव नहीं है।

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में राजकोश से संबद्ध कुछ अधिकारी होते थे। बाद में इनकी संख्या में वृद्धि हुई और इनके कार्यों का स्पष्ट निर्धारण हुआ।

---

१३८. संग्रहीतृभ्यश्च वो नमः । यजु० १६.२६

१३९. तैत्ति० ब्रा० ३.८.५

१४०. Hindu Polity, Page 202

१४१. कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० ११५

१४२. तैत्ति० सं० १.८.९.२ । मैत्रा० सं० २.६.५. । ४.३.८ । काठक० १५.४

१४३. तैत्ति० सं० १.८.९.२

१४४. तैत्ति० ब्रा० १.७.३.५ । १.७.९.६ । ऐत० ब्रा० २.२५.६ ।
शतपथ ब्रा० ५.३.१.८ । ५.४.३.२३

१४५. यजु० ३०.२० । तैत्ति० ब्रा० ३.४.१५.१

१४६. ग्रामण्यं गणकम् ... तान् महसे । यजु० ३०.२०

अध्याय १४

न्याय और दंड-विधान

१. न्याय की आवश्यकता

२. न्याय का स्वरूप

३. दंड-विधान

(क) दंड की उपयोगिता

(ख) दंड का स्वरूप

४. अपराध और दंड

(१) यातुधान

(२) रक्षस् , राक्षस

(३) चोर, स्तेन आदि

(४) असत्यवादी, पिशुन आदि

(५) अत्रिन् , क्रव्याद् आदि

(६) अघशंस आदि

अध्याय १४

न्याय और दंड-विधान

१. न्याय की आवश्यकता

मनु का कथन है कि इस संसार में पूर्णतया पवित्र मनुष्य दुर्लभ है।[१] काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मात्सर्य ये ६ मनुष्य के प्रबल शत्रु हैं। इनके वशीभूत होकर मनुष्य अपने अधिकार - क्षेत्र का अतिक्रमण करके अधिक से अधिक भूमि और धन पर अधिकार करना चाहता है। इसके कारण पारस्परिक कलह उत्पन्न होते हैं। सबल निर्बलों के अधिकार का हरण करते लगते हैं, अतः मात्स्य-न्याय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक मानव को अपने अधिकार के उपयोग के लिए सुविधा प्राप्त होनी चाहिए, अतः न्याय-व्यवस्था की आवश्यकता है।

२. न्याय का स्वरूप

न्याय का प्रयोजन है - निष्पक्ष न्याय करना, अपराधी को दण्ड देना और निरपराध को दंड से मुक्त करना। इसका उत्तरदायित्व मुख्य रूप से राजा पर होता है। राजा प्रजा से कर लेता है और उसके बदले में प्रजा को संरक्षण देना, न्याय देना, उसका उत्तरदायित्व होता है। काठक संहिता में न्यायाधीश या न्यायकर्ता के लिए 'अध्यक्ष' शब्द आया है और कहा है कि राजन्य (क्षत्रिय राजा) अध्यक्ष वैश्य को दण्ड देने का अधिकारी है।[२] साथ ही यह भी कहा है कि - राजा को चाहिए कि वह न्याय-संबन्धी निर्णय के लिए अपने परामर्शदाताओं में ब्राह्मण (विद्वान्) पुरोहित को रखे।[३] अथर्ववेद में न्यायाधीश के लिए 'बृहत् अधिष्ठाता' शब्द आया है।[४] इस सूक्त में वरुण देवता को न्यायाधीश राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया है और कहा गया है कि वह देवता भी है और मनुष्य भी।[५]

वरुण के विषय में कहा गया है कि उसके असंख्य दूत हैं। वे सारे संसार में फैले हुए हैं। राजा वरुण सारे संसार के सभी मनुष्यों के छोटे से छोटे कार्यों को भी देखता है। मनुष्य का उठना, बैठना, चलना, गुप्त बात करना, छिपकर काम करना, सब कुछ राजा

---

१. दुर्लभो हि शुचिर्नरः । मनु० ७.२२

२. राजन्येनाध्यक्षेण वैश्यं घ्नन्ति । काठक सं० २७.४

३. तस्माद् ब्रह्मपुरोहितं क्षत्रम् । काठक सं० २७.४

४. बृहन् एषामधिष्ठाता । अ० ४.१६.१

५. स दैवो वरुणो यश्च मानुषः । अ० ४.१६.८

वरुण को ज्ञात हो जाता है। पलक मारना, आंख खोलने तक की छोटी क्रियाएँ उसके रिकार्ड में नोट हो जाती हैं।[६]

वेदों में गुप्तचर के लिए 'स्पश्' शब्द है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में अनेक मन्त्रों में वरुण के इन गुप्तचरों का उल्लेख है और उनके द्वारा संसार के सारे समाचार ज्ञात करने का उल्लेख है।[७]

शतपथ ब्राह्मण में राजा को अभिषेक के समय दंड से आघात करके बताया गया है कि वह न्यायाधीश का कार्य करता है। वह औरों को दंड देने का अधिकारी है, परन्तु उसे भी दंड दिया जा सकता है। उसे मृत्युदंड से मुक्त किया गया है।[८]

ऋग्वेद और तैत्तिरीय संहिता में न्यायाधिकारी के लिए 'मध्यशी' शब्द आया है। साथ ही उसे उग्र अर्थात् निर्णय में कठोर कहा गया है।[९] सायण ने मध्यमशी का व्याख्या की है - मध्यस्थता करने वाला राजा।[१०] अन्यत्र इसकी व्याख्या की गई है - पक्षपातशून्यः' निष्पक्ष निर्णय देने वाला। काठक संहिता में न्यायाधिकारी के लिए 'मध्यमेष्ठ' शब्द है और कहा है कि प्रजा राजा को अपना न्यायाधिकारी बनाती है।[११]

न्याय का क्या स्वरूप है, इस विषय पर ऋग्वेद और अथर्ववेद के कुछ मंत्रों से विशेष प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद का कथन है कि सत्य और असत्य में विवाद हुआ। राजा न्याय करता है। वह सत्य की रक्षा करता है और असत्य को मारता है अर्थात् असत्य पक्ष को दंडित करता है।[१२] वह अपराधी (रक्षस्) को दंड देता है और झूठ बोलने वाले को कड़ी सजा देता है। दोनों को जेल (प्रसिति) में डालता है।[१३]

---

६. दिवः स्पशः प्र चरन्तीदमस्य,
सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् । अ० ४.१६.४
यस्तिष्ठति चरति ... राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः । अ० ४.१६.२
संख्याता अस्य निमिषो जनानाम् । अ० ४.१६.५

७. ऋग्० १.२५.१३ । ४.४.३ । ६.६७.५ । ७.६१.३ । ७.८७.३ ।
१०.१०.८ । अ० ४.१६.४

८. तस्माद् राजा दण्ड्यः, यदेनं दण्डवधम् अतिनयन्ति । शत० ५.४.४.७

९. उग्रो मध्यमशीरिव । ऋग्०१०.९७.१२ । तैत्ति०सं० ४.२.६.४

१०. मध्यमस्थाने वर्तमानो राजा । सायण

११. क्षत्रमेव विशो मध्यमेष्ठं करोति । काठक सं० २१.१०

१२. सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते । तयोर्यत् सत्यं यतरद् ऋजीयः,
तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् । ऋग्० ७.१०४.१२

१३. हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तम् ,
उभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ।। ऋग्०७.१०४.१३

अथर्ववेद ने भी न्याय का यही स्वरूप दिया है। झूठ बोलने वाले को दंडित किया जाय और जो सत्यवादी है या निरपराध है, उसको दण्ड से मुक्त किया जाय।[१४] जो झूठा है, अपराधी है, उसको किसी भी हालत में न छोड़ा जाय। अपराधी सैकड़ों बन्धनों में बांधा जाय।[१५] इसका अभिप्राय यह है कि अपराधी को दंड देना और निरपराध को दोषों से मुक्त करना ही न्याय है।

पाणिनि ने न्याय शब्द का अर्थ 'अध्रेष' लिखा है।[१६] अध्रेष का अर्थ है - जो परम्परा से प्राप्त आचार या विधि है, उसका अस्खलन या अनिराकरण न्याय है, अर्थात् परम्परागत पद्धति को ध्यान में रखते हुए निर्णय देना 'अध्रेष' न्याय है। गोपथ ब्राह्मण में ध्रेष और अध्रेष दो प्रकार के न्याय का वर्णन है।[१७] दोनों में अन्तर यह है कि एक परम्परागत पद्धति पर आश्रित है और दूसरा स्वविवेक पर निर्भर है। न्याय में दोनों की उपयोगिता है। स्मृतिकारों ने भी स्वीकार किया है कि न्याय करते समय लोकाचार, देश, काल आदि का भी ध्यान रखना चाहिए। याज्ञवल्क्य का कथन है कि दण्ड देते समय देश, काल, बल, आयु, कर्म और आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखना चाहिए।[१८] बृहत्पराशर और वृद्ध हारीत स्मृतिकारों का भी यही मत है।[१९] मनु का कथन है कि देश, कुल और जाति की परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए ही निर्णय करना चाहिए।[२०]

वेदों में न्यायाधीश के अधिकार और कर्तव्य, न्याय-पद्धति, साक्ष्यविधि, न्यायपालिका का स्वरूप, न्यायपालिका के अधिकारी आदि विषयों पर अधिक विवरण नहीं प्राप्त होता है। स्मृतिग्रन्थों में इस विषय पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

३. दंड-विधान

(क) दण्ड की उपयोगिता — मनु, याज्ञवल्क्य और विष्णु स्मृतियों में तथा

---

१४. छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं
यः यत्यवादी-अति तं सृजन्तु । अ० ४.१६.६

१५. शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं
मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः । अ० ४.१६.७

१६. अष्टा० ३.३.३७

१७. अध्रेषं नियन्ति, ध्रेषं न्येति । गोपथ पूर्व० ३.२ और ३.३

१८. ज्ञात्वाऽपराधं देशं च, कालं बलमथापि वा ।
वयः कर्म च वित्तं च, दण्डं दड्येषु पातयेत् ।। याज्ञ० १.३६८

१९. बृ० परा० १२.८४ । वृद्ध हा० ४. १८७-१८८

२०. तद्देश-कुल-जातीनाम् , अविरुद्धं प्रकल्पयेत् । मनु० ८.४६

महाभारत में दण्ड की उपयोगिता और उसके महत्त्व पर बहुत अधिक लिखा गया है। मनु का कथन है कि ईश्वर ने राजा के कार्यों की सफलता और जीवों की रक्षा के लिए दंड की सृष्टि की थी।[२१] दंड के भय से ही सारे जीव अपने-अपने कर्मों को करते हैं।[२२] दंड ही राजा है, पुरुष है और नेता है।[२३] दंड ही राज्य को चलाता है, वही प्रजा पर शासन करता है और उसकी रक्षा करता है। दंड सदा जागता रहता है, वही धर्म है।[२४] शास्त्र के अनुसार ही दंड का प्रयोग करना चाहिए। धन-लोभ या प्रमाद से किया गया दंड धन-जन को हानि पहुँचाता है।[२५] मनु ने दंड के अभाव का चित्रण करते हुए लिखा है कि यदि दंड न हो तो बलवान् निर्बलों को सताने लगेंगे। उन्हें इसी प्रकार कष्ट देंगे, जैसे लोहे की छड़ में बींधकर मछलियों को पकाया जाता है। बलवान् निर्बलों की संपत्ति लूटकर मालिक बन बैठेंगे। किसी का किसी वस्तु पर स्वमित्व नहीं रह जाएगा।[२६]

महाभारत शान्तिपर्व में भी इस विषय पर बहुत विस्तार से वर्णन है।[२७] दंड का उद्देश्य है - दुष्टों का निग्रह अर्थात् दमन।[२८] दंड का ही दूसरा नाम व्यवहार है और इस व्यवहार का ही नाम वेद है।[२९] सारा राजकाज और प्रशासन दंड पर ही टिका हुआ है।[३०] दंडनीति ही संसार को रोके हुए है। इस दंड के अनेक रूप हैं। इसको ही लक्ष्मी, वृत्ति, सरस्वती आदि कहते है।[३१] दंड का अधिकार-क्षेत्र बहुत व्यापक है। जो अपने धर्म का पालन नहीं करता है, उसे राजा अवश्य दंड दे, चाहे वह माता, पिता, भाई, स्त्री या पुरोहित (मंत्री) ही क्यों न हो।[३२]

---

२१. मनु० ७.१४

२२. मनु० ७.१५

२३. मनु० ७.१७

२४. दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा, दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति, दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ।। मनु० ७.१८

२५. मनु० ७.१९

२६. मनु० ७.२० और २१

२७. महा० शान्ति० अध्याय १२१ और १२२

२८. दुष्टानां निग्रहो दण्डः । महा० शान्ति० १२२.४०

२९. यश्च दण्डः स दृष्टो नो, व्यवहारः सनातनः ।
व्यवहारश्च दृष्टो यः, स वेद इति निश्चितम् ।। शान्ति० १२१.५६

३०. दण्डे सर्वं प्रतिष्ठितम् । शान्ति० १२१.१

३१. दण्डनीतिर्जगद्धात्री दण्डो हि बहुविग्रहः । शान्ति० १२१.२४

३२. माता पिता च भ्राता च, भार्या चैव पुरोहितः ।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो, यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।। शान्ति० १२१.६०

इससे स्पष्ट है कि प्रशासन के लिए दंड-व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है।दंड के भय से ही बलवान् निर्बलों का शोषण नहीं कर पाते। अन्यथा राज्य में पूर्ण अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

(ख) दंड का स्वरूप — चारों वेदों में दंड शब्द का प्रयोग डंडे के अर्थ में है। न्यायविधि के रूप में उसका प्रयोग नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में दण्ड-विधान के रूप में दंड शब्द का प्रयोग मिलता है। राजा भी दंडनीय होता है। उसे केवल मृत्युदंड से मुक्त किया जाता हैं।[३३] आचार्य यास्ककृत निरुक्त में दण्ड शब्द का प्रयोग मिलता है। अपराधी व्यक्ति को 'दण्ड्य' कहते हैं। वह दंड पाने का अधिकारी है। यास्क ने इसी प्रसंग में दंड शब्द की निरुक्ति 'दम्' धातु से की है और आचार्य औपमन्यव को उद्धृत किया है कि 'दण्डः दमनात्'।[३४] दमन का अर्थ है– अपराधी को अपराध के लिए दंड (Punishment) दिया जाय। गौतम स्मृति में भी दम् धातु से दण्ड शब्द की निष्पत्ति मानी गई है। गौतम का कथन है कि जो अदान्त अर्थात् नियन्त्रण में नहीं हैं, उन्हें नियन्त्रण में लाया जाय।[३५] महाभारत ने 'दुष्टानां निग्रहः दण्डः' अर्थात् दुष्टों या अपराधियों को नियन्त्रण में रखना ही दंड कहा है।[३६]

स्मृतियों में सभी प्रकार के विवादों को 'व्यवहार' नाम दिया गया है। इन विवादों या अपराधों के लिए विशेष प्रकार की दंड-व्यवस्था है। याज्ञवल्क्य स्मृति और उसकी टीका मिताक्षरा में सभी प्रकार के झगड़े विवाद या मुकदमों को 'व्यवहार' नाम दिया गया है।[३७] मनु ने १८ प्रकार के व्यवहारों (मुकदमों) का उल्लेख किया है।[३८] वेदों में इस प्रकार विवादों का कोई विस्तृत विवरण नहीं मिलता है।

४. अपराध और दंड

ऋग्वेद और अथर्ववेद में अपराध और दंड से संबद्ध तीन सूक्त हैं। ऋग्वेद में मंडल ७ सूक्त १०४ में २५ मंत्र है। यही सूक्त अथर्ववेद में भी पूरा जैसे का तैसा दिया गया है। कांड ८ सूक्त ४ मंत्र २५। अथर्ववेद में एक अन्य सूक्त कांड ८ सूक्त ३ मंत्र २६ हैं। मुख्यरूप से इन सूक्तों में ही अपराध और दंड का उल्लेख है। इन सूक्तों में हन् धातु

३३. तस्माद् राजा दण्ड्यः, यदेनं दण्डवधम् अतिनयन्ति । शत० ५.४.४.७

३४. दण्ड्यः पुरुषः, दण्डम् अर्हतीति वा । दण्डः दमनाद् इत्यौपमन्यवः । निरुक्त २.२

३५. दण्डो दमनाद् इत्याहुः, तेनादान्तान् दमयेत् । गौतम० अ० ११

३६. महा० शान्ति० १२२.४०

३७. व्यवहारः, तस्य पदं विषयः । मिता. याज्ञ० २.६

३८. मनु० ८.४ से ७

का बहुत प्रयोग हुआ है। हन् धातु का हत्या करना अर्थ है, परन्तु इसका प्रयोग शरीरिक दंड अर्थ में भी होता है - दण्डेन हन्ति, डंडे से मारता है। इसी प्रकार पत्थर से मारना, बाण से मारना आदि अर्थों में भी हन् धातु का प्रयोग होता है। अतः अपराध के अनुसार ही हन् धातु का अर्थ समझें। यहाँ कुछ प्रमुख अपराधी, अपराध और दंडों का ही उल्लेख प्रस्तुत है।

(१) यातुधान — यातु शब्द का विकृत रूप जादू हैं। यातु का अर्थ है – छल, कपट, माया, पाखंड एवं सभी धोखा देने वाले कार्य। अतः यातुधान का अर्थ होता है - छली, कपटी, मायावी, धोखेबाज आदि। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इनके लिए अनेक प्रकार के दंडों का उल्लेख है। यातुधान की स्त्री को यातुधानी कहते हैं। अथर्ववेद में यातुधान के कुछ लक्षण बताए हैं :– (१) झूठ से काम चलाना। सत्य से असत्य से ढक देना।[३९] अर्थात् सभी प्रकार का झूठा व्यवहार करने वाला। (२) 'मिथुना शपातः' परस्पर गाली-गलोज करते हैं। अशिष्ट आचरण करते है।[४०] (३) वाचः तृष्टम् – कटुवाणी बोलते हैं।[४१] झगड़ा करते हैं और मर्मवेधी बातें कहते हैं। (४) आदमी और पशुओं का मांस खाते हैं।[४२] (५) विषं गवाम् , आ वृश्चन्ताम् - ये गायों तथा अन्य पशुओं को विष देकर मार डालते हैं। ये गायों और अन्य पशुओं को काटते हैं तथा उनका वध करते हैं।[४३] (६) वाचा स्तेनः – बात का झूठा। कही हुई बात से मुकर जाने वाला।[४४] (७) दुरेवाः – कुकर्म करने वाला।[४५] कुमार्ग पर चलकर दूसरों को कष्ट देने वाला। (८) अदेवीः मायाः – धोखा देकर दूसरों को लूटने वाला। दूसरों को धोखा देकर अपनी श्रीवृद्धि करने वाला।[४६] (९) असुतृपः – दूसरों के प्राण लेकर अपनी तृप्ति करने वाला।[४७] अर्थात् दूसरों को हानि पहुँचा कर अपना स्वार्थ सिद्ध

---

३९. ऋतं यो अनृतेन हन्ति । अ० ८.३.११

४०. मिथुना शपातः । अ० ८.३.१२

४१. वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभा । अ० ८.३.१२

४२. यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते,
यो अश्व्येन पशुना यातुधानः । अ० ८.३.१५

४३. विषं गवां यातुधाना भरन्ताम् ,
आवृश्चन्ताम् अदितये दुरेवाः । अ० ८.३.१६

४४. अ० ८.३.१४

४५. अ० ८.३.२४

४६. अ० ८.३.२४

४७. अ० ८.३.१३

करने वाला। (१०) अचितम् – हृदयहीन।[४८] मानवीय सद्भावना से रहित (Heartless)। इन दुर्गुणों से युक्त व्यक्ति को यातुधान कहा गया है।

इनको अनेक प्रकार के दंड देने का विधान है। अपराध जितना जघन्य हो, उतना ही कड़ा दंड होना चाहिए। यदि अपराध साधारण है या मध्यम कोटि का है तो उसी प्रकार साधारण या मध्यम कोटि का दंड दिया जाना चाहिए।

यातुधानों के लिए इन दंडों का विधान है :– (१) आग से जला दो।[४९] (२) इनकी चमड़ी उधेड़ लो। जला दो। इनकी हड्डी-पसली तोड़ दो या जंगली जानवर इन्हें खा जावें।[५०] (३) इन्हें तेज आयुध से मार डालो।[५१] (४) इनके हाथ काट दो। बाण आदि से इनकी छाती बींध दो।[५२] (५) इन्हें मारकर गिद्ध आदि पक्षियों को डाल दो।[५३] (६) इन्हें जलती हुई आग में फेंक दो।[५४] (७) इन्हें तीन प्रकार के बन्धन में डालो।[५५] अर्थात् इन्हें शारीरिक और आर्थिक दंड दिया जाय तथा कैद में डाला जाय। (८) यातुधानों को नष्ट कर दो।[५६] इन्द्र ने यातुधानों को नष्ट किया। (९) यातुधानों को वज्र से मार दो।[५७] (१०) यातुधान स्त्री या पुरुष कोई भी हो, उसका वध कर दो।[५८]

(२) रक्षस् (राक्षस) — वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में रक्षस् के कुछ लक्षण ये दिए गए हैं। रक्षस् को ही राक्षस भी कहते हैं। (१) भंगुरावतः - ये टेढ़े, कुटिल, दुष्ट या मक्कार होते हैं।[५९] (२) वृजिनः – ये दुश्चरित्र या ठग होते हैं।[६०] (३) अशुचि – ये अपवित्र,पापी

---

४८. अ० ८.३.२१

४९. अर्चिषा यातुधानान् उप स्पृश । अ० ८.३.२

५०. अ० ८.३.४

५१. विध्य शर्वा । अ० ८.३.५

५२. विध्य हृदये । बाहून् प्रति भङ्धि । अ० ८.३.६

५३. अ० ८.३.७

५४. अ० ८.३.८

५५. त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एतु । अ० ८.३.११

५६. इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरः । ऋग् ० ७.१०४.२१

५७. अस्यतम् अशनिं यातुमद्भ्यः । ऋग् ० ७.१०४.२५

५८. जहि पुमांसं यातुधानम् उत स्त्रियं मायया शाशदानाम् । ऋग् ० ७.१०४.२४

५९. रक्षसो भंगुरावतः । ऋग्० ७.१०४.७

६०. वृजिनम् । ऋग् ० ७.१०४.१३

होते हैं। गंदे रहते हैं।[६१] (४) नक्तं तन्वं गूहमानाः – ये रात में उल्लू की तरह छिपकर काम करते हैं अर्थात् चोरी करते हैं या डाका डालते हैं।[६२] (५) ये यज्ञ में विघ्न डालते हैं।[६३]

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी राक्षसों के कुछ लक्षण ये दिए गए हैं :– (१) ये यज्ञ को दक्षिण दिशा से नष्ट करते हैं।[६४] (२) ये बहुत कटुभाषी होते हैं और पागल की तरह अशिष्ट बोलते हैं। [६५] (३) ये खून पीते हैं, अर्थात् दूसरों का खून पीने वाले होते हैं।[६६]

राक्षसों के लिए इन दंडों का विधान है :–

(१) राक्षसों को अग्नि में जलाओं और इन्हें पीडित करो।[६७] (२) इनका वध कर दो।[६८] (३) इनको घातक शस्त्र से मार डालो।[६९] (४) इनको पत्थरों से मार डालो।[७०] (५) ये जहाँ भी हों वहाँ से पकड़े जावें और इन्हें पत्थरों आदि से पीस दिया जाय।[७१] (६) इनको घातक अस्त्रों से मार दिया जाय।[७२] (७) प्रजा में से ढूढ़ कर इनको निकाला जाय और इनके तीन अंग - हाथ, पैर, सिर काट दिये जायें।[७३] (८) लोगों को विष देकर मारने वाले इन राक्षसों का वध कर दो।[७४] (९) इनको दूर भगाया जाय, अर्थात् नगर आदि से बाहर निकाला जाय।[७५]

(३) चोर, स्तेन, स्तेयकृत् , तस्कर, मलिम्लु, मलिम्लुच् — वेदों में चोर और डाकू के लिए इन शब्दों का प्रयोग है। अथर्ववेद में वर्णन है कि ये लोगों का सामान

---

६१. रक्षाः शुचिरस्मि । ऋग् ० ७.१०४.१६

६२. जिगाति खर्गलेव नक्तम् , तन्वं गूहमाना । ऋग् ० ७.१०४.१७

६३. ऋग् ० ७.१०४.१८

६४. दक्षिणतो वै देवानां यज्ञं रक्षांसि-अजिघांसन् । गोपथ० २.१.१८

६५. यां वै दृप्तो वदति, याम् उन्मत्तः, सा वै राक्षसी वाक् । ऐत० २.७

६६. रक्षसां ह्येष भागो यदसृक् । शत० ३.८.२.१४

६७. इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतम् । ऋग् ० ७.१०४.१

६८. हतं द्रुहो रक्षसो भंगुरावतः । ऋग् ० ७.१०४.७

६९. तं हन्तु महता वधेन । ऋग् ० ७.१०४.१६

७०. ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षसः । ऋग् ० ७.१०४.१७

७१. गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन । ऋग् ० ७.१०४.१८

७२. रक्षोभ्यो वधमस्यत । ऋग् ० ७.१०४.२५

७३. रक्षः परिपश्य विक्षु, तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा । अ० ८.३.१०

७४. रक्षसो जहि । अ० ८.३.२३

७५. अग्ने रक्षांसि सेधति । अ० ८.३.२६

ही नहीं चुराते, अपितु गाय, घोड़ों को भी चुराते हैं और मनुष्यों आदि पर प्रहार करके उन्हें जान से भी मार डालते हैं।[७६] पृथिवी सूक्त में वर्णन है कि नगर मार्ग आदि को चोरों और शत्रुओं से रहित किया जाय।[७७] तैत्तिरीय संहिता में 'मलिम्लु-सेना' अर्थात् डाकुओं की टुकड़ी या झुंड का भी उल्लेख है।[७८] अथर्ववेद में मलिम्लुच् (डाकू) के लिए 'पलीजक' शब्द भी आया है।[७९] पलीजक का अर्थ गन्दा या गन्दा रहने वाला है।

चोर और डाकुओं के लिए इन दंडों का विधान है :–

(१) इनको मृत्युदंड दिया जाय। ये शरीर से न रहें।[८०] (२) इनको वज्र (घातक अस्त्र) से मार दिया जाय या पत्थर आदि से पीस दिया जाय।[८१] (३) इनको मारकर भगाया जाय।[८२] (४) चोर की गर्दन और उसका सिर काट दिया जाय।[८३] (५) चोर के हाथ-पैर काट दो। उसे पत्थर आदि से पीस दो। उसे सूखे स्थाणु (खंभे) पर लटका कर फांसी दे दो।[८४]

(४) असत्यवादी, पिशुन, मृध्रवाच् — वेदों में झूठ बोलने वाले, चुगली करने वाले तथा कटु या मर्मवेधी वचन कहने वालों के लिए विविध दंडों का निर्देश है :–

(१) झूठ बोलने वाले को कैद में डाला जाय।[८५] (२) कोई भी झूठ बोलने वाला बन्धन (जेल जाने) से न बचे।[८६] (३) असत्य बोलने वाले को आग से जलाया जाय।[८७] (४) असत्य बोलने वाले का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया जाय। अर्थात् उसे मरवा दिया जाय।[८८] (५) झूठे आरोप लगाने वाले को सांप से कटवा दो या उनका धन छीनकर निर्धन

---

७६. अथर्व० ८.४.१०

७७. पन्थानम् .. अनमित्रम् अतस्करम् । अ० १२.१.४७

७८. तैत्ति० सं० ६.३.२.६

७९. मलिम्लुचं पलीजकम् । अ० ८.६.२

८०. रिपु स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु ।
नि प्र हीयतां तन्वा तना च । अ० ८.४.१०

८१. जम्भयामसि ... स्तेनम् । अ० ४.३.४
स्तेनः ... संपिष्टो अयायति । अ० ४.३.५

८२. स्तेनो धावतु तस्करः । अ० १९.४७.७

८३. स्तेनः ... प्र गीवाः प्र शिरो हनत् । अ० १९.४९.९

८४. प्र पादौ .. प्र हस्तौ न यथाशिषत् ।
संपिष्टो अपायति । शुष्के स्थाणावपायति । अ० १९.४९.१०

८५. छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तम् । अ० ४.१६.६

८६. मा ते मोचि-अनृतवाक् । अ० ४.१६.७

८७. सत्यं धूर्वन्तम् अचितं न्योष । अ० ८.३.२१

८८. असन् अस्त्वासत इन्द्र वक्ता । ऋग् ० ७.१०४.८

बना दो।[८९] (६) झूठ बोलने वाले को मृत्युदंड दिया जाय।[९०] (७) चुगलखोरों (पिशुन) का घातक शस्त्र से वध किया जाय।[९१] (८) कटु और असत्य बोलने वाले (मृध्रवाच्) को मारा जाय अर्थात् कठोर दंड दिया जाय।[९२]

(५) अत्रिन्, क्रव्याद्, किमीदिन् — वेदों में अत्रिन् शब्द खाऊ या भक्षक के लिए है। यह समाज के शोषक वर्ग के लिए भी है। जनता को लूटकर खाने वालों को भी 'अत्रिन्' कहा गया है। इनके लिए कहा गया है कि तीक्ष्ण आयुधों से प्रहार करके इन्हें नष्ट किया जाय।[९३] इनको कठोर सजा दी जाय।[९४] इनको आग से जलाया जाय।[९५]

कच्चा मांस खाने वाले तथा मृत पशुओं आदि को खाने वाले को क्रव्याद् कहते हैं। इनको ब्रह्मद्वेषी अर्थात् ज्ञान का द्वेषी और घोर चक्षु वाला कहा गया है। इनको कठोर दंड देने का विधान हैं।[९६] भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक न करने वाले, सबकुछ खाने वाले को किमीदिन् कहते हैं। इनको अपराधी माना जाय और दंड दिया जाय।[९७]

(६) अघशंस, दुर्हार्द्, दुष्कृत्, जाल्म, मूरदेव, चक्षुर्मन्त्र (१) अघशंस — अघशंस का अर्थ है - पाप की प्रवृत्ति वाला व्यक्ति। यह पापी, निन्दक, शत्रु, उपद्रवी कोई भी व्यक्ति हो सकता है। इनके लिए इन दंडों का विधान है :– (क) इनको अग्नि में तपाया या जलाया जाय।[९८] (ख) इनको आग में जलाया जाय।[९९] (ग) पृथिवी के वातावरण को नष्ट करने वाले अघशंसों को घातक अस्त्रों से मारा जाय।[१००]

---

८९. अहये वा तान् प्रददातु सोम,
आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे । ऋग् ० ७.१०४.९

९०. हन्त्यासद् वदन्तम् । ऋग् ० ७.१०४.१३

९१. शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधम् । ऋग् ० ७.१०४.२०

९२. मृध्रवाचः ... जघान । अ० २०.७३.६

९३. तपुर्वधेभिः, अत्रिणो नि पर्शाने विध्यतम् । ऋग् ० ७.१०४.५

९४. नि शिशीतम् अत्रिणः । ऋग् ० ७.१.१

९५. विश्वं समत्रिणं दह । ऋग् ० १.३६.१४

९६. ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे, तपुः । ऋग् ० ७.१०४.२

९७. द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने । ऋग् ० ७.१०४.२

९८. अघशंसं ... तपुर्वयस्तु । ऋग् ० ७.१०४.२

९९. अघशंसं .. दहन्तु । अ० ८.३.१९

१००. वधं, सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम् । ऋग् ० ७.१०४.४

(२) दुर्हार्द् — कुटिल विचार वाले या दुर्भावनायुक्त व्यक्ति को दुर्हार्द् कहते हैं। ये दूसरों को सताना चाहते हैं। इनके लिए दंड-विधान है - आग की लपटों में जलाया जाय।[१०१]

(३) दुष्कृत् — दुराचारी और कुकर्म करने वाले को दुष्कृत् कहते हैं। इनके लिए दंड-विधान है – (क) इनको घोर अंधकार वाली कालकोठरी में डाला जाय।[१०२] (ख) इनको कड़ा दंड दिया जाय।[१०३]

(४) जाल्म — यह नीच, कुकर्मी व्यक्ति के लिए है। संभवतः 'जालिम, जुल्म' आदि शब्द इससे संबद्ध हैं। इनके लिए दंड-विधान है– इनका पेट फाड़ दिया जाय या इनका वध कर दिया जाय।[१०४]

(५) मूरदेव — जो मूर अर्थात् मूढ या जड़ को देवता मानते हैं अर्थात् जड़ के उपासक, भूत-प्रेत आदि को मानने वाले। साथ ही जड़ देवों को प्रसन्न करने के लिए बलि आदि देने वाले भी मूरदेव हैं। इनके लिए दंड-विधान हैः- (क) इनकी गर्दन काट दो।[१०५] (ख) इन्हें आग की लपटों में जला दो।[१०६]

(६) चक्षुर्मन्त्र — बुरी निगाह वाले, बुरी दृष्टि से दखने वाले, आँख से टोना करने वाले को चक्षुर्मन्त्र कहते हैं। इनके लिए दंड-विधान है– इनकी हड्डी-पसली तोड़ दी जाय।[१०७]

●

---

१०१. दुर्हार्दम् अभिदासन्तम् .. अर्चिषा जातवेदो वि निक्ष्व । अ० ८.३.२५

१०२. दुष्कृतः ... अनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् । ऋग् ० ७.१०४.३

१०३. परि बाधस्व दुष्कृतम् । ऋग् ० ६.१६.३२

१०४. आस्तां जाल्म उदरं संस्रयित्वा० । अ० ४.१६.७

१०५. विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु । ऋग्० ७.१०४.२४

१०६. आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व । अ० ८.३.२

१०७. चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि । अ० २.७.५

अध्याय १५

दूत और गुप्तचर-व्यवस्था

१. दूत की आवश्यकता

२. कौटिल्य आदि का मत

३. दूतों और चरों की योग्यता

४. दूत के कर्तव्य

५. गुप्तचरों के कार्य

६. देवदूत

७. राजदूत

८. दूत की योग्यता और उनके क्रियाकलाप

९. गुप्तचर-व्यवस्था और उसके कार्यकलाप

अध्याय १५

दूत और गुप्तचर-व्यवस्था

१. दूत की आवश्यकता

राजा और राज्य-प्रशासन के साथ ही दूतों और गुप्तचरों की आवश्यकता अनुभव की गई। सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने इनकी आवश्यकता और उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। दूसरे राष्ट्रों से संबन्ध रखने के लिए दूतों की आवश्यकता पड़ी। उनके माध्यम से ही राजा अन्य राष्ट्रों से संधि-विग्रह, राजनीतिक और आर्थिक आदि संम्बन्ध स्थापित करता था। दूत के माध्यम से ही राजा अन्य राष्ट्रों में अपने शत्रु और मित्रों का पता लगाता था तथा वहाँ की गोपनीय बातों की भी जानकारी प्राप्त करता था। गुप्तचर-व्यवस्था अपने राज्य की आन्तरिक स्थिति के आकलन के लिए अत्यावश्यक थी। इनके द्वारा राजा चोर, डाकू और अवांछानीय तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करता था। प्रजा राजा से प्रसन्न है या अप्रसन्न; शासन के किन आदेशों से जनता में प्रसन्नता या अप्रसन्नता है; जनता की आर्थिक सामाजिक और शैक्षिक स्थिति कैसी है; न्याय और दंड-व्यवस्था का आकलन आदि की प्रामाणिक सूचना गुप्तचरों द्वारा ही प्राप्त होती थी, अतः दूतों और चरों की आवश्यकता सदा अनुभव की गई।

दूत शब्द का प्रयोग वैदिक काल से प्रचलित है। दूत सन्देश-वाहक होता है। वह सन्देशों का आदान-प्रदान करता है। एक राजा का सन्देश दूसरे राजा तक पहुंचाता है और दूसरे राजा का सन्देश अपने राजा तक पहुँचाता है। अतएव राजशास्त्रप्रणेताओं ने दूत को राजा का मुख और चर को राजा का नेत्र कहा है।[१] सन्देश-वाहन के द्वारा दूत राजा का मुख है और राज्य के अन्दर घटित होने वाली सभी घटनाओं को देखना, सुनना और समझना तथा राजा तक पहुंचाने के कारण चर राजा के नेत्र हैं। राजा गुप्तचररूपी आंखों से राज्य की सभी छोटी और बड़ी घटनाओं को देखता है। राजा के सो जाने पर भी दूत और चर अपना कार्य करते रहते हैं, अतः कहा गया है कि राजा के ये दोनों प्रकार के दूत सदा सक्रिय रहते हैं और कभी भी नहीं सोते हैं।[२]

---

१. दूतमुखा वै राजानः । कौटिल्य, पृ० ६०
चारचक्षुर्नरेन्द्रस्तु० । कामन्दकीय नीति० १३.३१

२. अस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः । ऋग् ० ९.७३.४
स्वपन्नपि हि जागर्ति चारचक्षुर्महीपतिः । काम० १३.२९

वेदों में दूतों को प्रतिष्ठित और यशस्वी कहा गया है।[३] इससे ज्ञात होता है कि दूत का स्थान आदरणीय होता था।

२. दूत, चर विषयक कौटिल्य आदि का मत

मनु, कौटिल्य, शुक्राचार्य और कामन्दक आदि ने दूतकार्य और चर-व्यवस्था पर विस्तृत प्रकाश डाला है। उन्होंने दूतों और चरों की योग्यता, उनकी नियुक्ति, उनके कर्तव्य आदि का विस्तृत वर्णन किया है। उसमें से कुछ अत्यन्त उपयोगी सामग्री यहाँ दी जा रही है।

३. दूतों और चरों की योग्यता

दूत या राजदूत की योग्यता के विषय में मनु का कथन है कि वह सभी शास्त्रों का ज्ञाता, चेष्टाओं से हृदयस्थ भावों को जानने वाला, सच्चरित्र, चतुर, कुलीन, राजा का भक्त, पवित्र, स्मरणशक्ति वाला, देश-काल का ज्ञाता, दर्शनीय, निर्भय और उच्च कोटि का वक्ता होना चाहिए।[४] कामन्दक ने दूत के गुण बताए हैं – निर्भय होकर बोलने वाला, स्मरणशक्तियुक्त, वाग्मी, शस्त्र और शास्त्र दोनों में निपुण और अनुभवी व्यक्ति ही दूत हो सकता है।[५] महाभारत (शान्ति० ८५.२८) में भी दूत के ये ही गुण बताए गए हैं।

चर या गुप्तचर की योग्यता के विषय में कामन्दक का कथन है कि वह अनुक्त बातों ने को भी अपने बुद्धिबल से भाँप लेने वाला, आकृति से बातों को जानने वाला, स्मरणशील, मृदुभाषी, शीघ्र काम करने वाला, कठिन श्रम करने का अभ्यासी, चतुर और प्रत्युत्पन्नबुद्धि होना चाहिए।[६]

---

३. दूतेव हि ष्ठो यशसा जनेषु । ऋग् ० १०.१०६.२

४. दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इंगिताकारचेष्टज्ञं, शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् । मनु० ७.६३
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः, स्मृतिमान् देशकालवित् ।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी, दूतो राज्ञः प्रशस्यते । मनु० ७.६४

५. प्रगल्भः स्मृतिमान् वाग्मी, शस्त्रे शास्त्रे च निष्ठितः ।
अभ्यस्तकर्मा नृपतेर्दूतो भवितुमर्हति ।। काम० १३.२

६. तर्केङ्गितज्ञः स्मृतिमान् मृदुर्लघुपरिक्रमः ।
क्लेशायाससहो दक्षश्चारः स्यात् प्रतिपत्तिमान् ।। काम० १३.२६

४. दूत के कर्तव्य

दूत के कुछ प्रमुख कर्तव्य ये हैं :– १. दूत राजा का प्रतिनिधि होता है।[७] परराष्ट्र में राजा की ओर से संधि और विग्रह की बात करना। २. परराष्ट्र में राजा का सन्देश पहुँचाना और दूसरे राजा का सन्देश अपने राजा तक पहुँचाना। ३. प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने राजा का सन्देश उसी रूप में शत्रु राजा तक पहुँचाना। ४. परदेश में भी अपने मित्र बनाना। ५. शत्रुपक्ष के कार्यकर्ताओं में फूट डालना। ६. शत्रुपक्ष की आन्तरिक न्यूनताओं और रहस्यों को जानना और अपने राजा तक पहुँचाना। ७. परदेश में अपने गुप्तचरों के कार्यकलाप का निरीक्षण करना। ८. अपने राजा की विजय के लिए परदेश में अनुकूल स्थिति बनाना। ९. दूसरों के कटु वचनों को भी सहन करना। १०. मद्यपान, स्त्रीप्रसंग आदि दुर्व्यसनों से बचना। ११. अपने राजा के रहस्यों को किसी भी स्थिति में प्रकट न करना।[८]

दूत राजा का प्रतिनिधि होता है, अतः उसे पूर्ण सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए। किसी भी स्थिति में उसका वध नहीं किया जाना चाहिए। दूत को अवध्य कहा गया है।[९] दूत किसी वर्ण का हो, वह अवध्य है। वाल्मीकि-रामायण और महाभारत में भी दूत को अवध्य कहा गया है।[१०]

कौटिल्य ने दूतों की तीन श्रेणियाँ बताई हैं :– १. निसृष्टार्थ, २. परिमितार्थ, ३. शासनहर। निसृष्टार्थ उच्च श्रेणी का दूत होता था। उसे अमात्य स्तर के अधिकार प्राप्त थे। उसके कार्य थे – राजा का सन्देश ले जाना, अन्य राजा का सन्देश लाना, राजा की ओर से संधि-विग्रह आदि की बात करना। वह एक प्रकार से सर्वाधिकारप्राप्त दूत होता था। परिमितार्थ दूत की योग्यता और कार्यक्षमता अमात्य की तीन-चौथाई होती थी। वह किसी विशेष उद्देश्य के लिए भेजा जाता था। परिमित+अर्थ अर्थात् सीमित उद्देश्य की पूर्ति करना उसका कार्य होता था। शासनहर दूत सामान्य दूत होता था। उसका कार्य केवल राजा का सन्देश पहुँचाना आदि था।[११]

---

७. दूतमुखा वै राजानः । उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं वक्तारः । कौटि० पृ० ६०
प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः ।
उपजापः सुहृद्भेदो दण्डगूढातिसारणम् ।।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य चाश्रयः । कौटि० पृ० ६३

८. कौटि० पृ० ५९ से ६३

९. तेषाम् अन्तावसायिनोऽप्यवध्याः । किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणाः । कौटि० पृ० ६०

१०. रामायण, सुन्दर० ५२, १३ । महाभारत, शान्ति० ८५.२७

११. उद्धृतमन्त्रो दूतप्रणिधिः । अमात्यसम्पदोपेतो निसृष्टार्थः ।
पादगुणहीनः परिमितार्थः । अर्धगुणहीनः शासनहरः । कौटि० पृ० ५९

५. गुप्तचरों के कार्य

कौटिल्य ने गुप्तचरों के लिए गूढपुरुष शब्द का प्रयोग किया है।[१२] उन्होंने गुप्तचरों के भी दो वर्ग किए हैं :– १. संस्था - एक ही स्थान पर रह कर कार्य करने वाले अर्थात् स्थान-विशेष से संबद्ध। २. संचार - दूर दूर तक घूम कर कार्य करने वाले अर्थात् किसी स्थान-विशेष पर न रहकर सर्वत्र भ्रमणशील।

कौटिल्य ने कार्यविशेष के आधार पर गुप्तचरों के ९ भेद किए हैं। इनमें प्रथम पांच संस्था वर्ग में आते हैं और शेष चार संचार वर्ग में। इनके नाम हैं :– १. कापाटिक, २. उदास्थित, ३. गृहपतिक, ४. वैदेहक, ५. तापस, ६. सत्रिन् , ७. तीक्ष्ण, ८. रसद, ९. परिव्राजिका या भिक्षुकी।[१३]

इनकी योग्यता आदि के विषय में कहा है कि ये दूसरे के मर्म को जानने वाले, बोलने में अति चतुर, प्रगल्भ (दबंग), वशीकरण, इन्द्रजाल, व्याकरण, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, सामुद्रिक विद्या आदि जानने वाले हों। गुप्तचर विभाग में पुरुष और नारी दोनों की नियुक्ति होती थी। गुप्तचर विभाग की नारियां शकुनशास्त्र, कामशास्त्र, नृत्य-गीत आदि में निपुण हों। वे सभी प्रकार के छल-प्रपंच जानती हों। गुप्तचर विभाग के नर और नारी प्रधान मंत्री, अमात्य, सेनापति आदि से लेकर छोटे से छोटे अधिकारी के यहाँ नियुक्त होते थे और अपना भेद न देते हुए सभी संबद्ध अधिकारियों का भेद लेकर राजा तक पहुँचाते थे। ये ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, भिक्षुक, तपस्वी, तपस्विनी, शूद्रा, विधवा आदि सभी वर्गों से होते थे।[१४]

कौटिल्य और कामन्दक के अनुसार गुप्तचर विभाग का कार्य केवल अपराधों का पता चलाना ही नहीं था, अपितु प्रजा के सभी प्रकार के सुख-दुःख का पता चलाना, राजकीय व्यवस्था का जनसाधारण पर प्रभाव, राजकीय व्यवस्था के प्रति जनता की प्रतिक्रिया, अशान्ति और उपद्रवों के कारणों का पता लगाना, प्रजा में शान्ति और आर्थिक समृद्धि का आकलन तथा प्रजा के कष्ट उत्पीडन आदि का पता चलाना भी गुप्तचर विभाग का कार्य था। अतएव

---

१२. गूढपुरुषान् उत्पादयेत् । कौटि० पृ० ३५

१३. कौटि० पृ० ३५

१४. कौटि० पृ० ३९ - ४३
एवं शत्रौ च मित्रे च मध्यमे चापवपेत् चरान् ।
उदासीने च तेषां च तीर्थेष्वष्टादशस्वपि । कौटि० पृ० ४२
चारसंचारिणः संस्था गूढाश्चागूढसंज्ञिताः । कौटि० पृ० ४३

कामन्दक ने कहा है कि दूत का कार्य तो संधि-विग्रह से संबद्ध है, पर गुप्तचर विभाग का कार्य प्रजा की दिनचर्या से संबद्ध है। यही दोनों में अन्तर है।[१५]

कामन्दक का यह कथन अत्यन्त उचित है कि गुप्तचर जनता के सभी समाचारों को एकत्र करें, जैसे सूर्य अपनी किरणों से भूमि के जल को। वे सुशिक्षित और विविध शिल्पों एवं कलाओं में प्रवीण हों। वे विविध प्रकार के रूप बनाकर प्रजा के प्रत्येक क्षेत्र में विचरण करें।[१६]

कौटिल्य ने गुप्तचर विभाग के लिए यह भी निर्देश दिया है कि संस्था और संचार वर्ग के गुप्तचरों को एक-दूसरे वर्ग के व्यक्तियों की जानकारी न हो। संस्था और संचार वर्ग के गुप्तचर पृथक् पृथक् अत्यन्त गोपनीय ढंग से अपने रहस्य एकत्र करके सीधे राजा तक पहुँचावें। वे अपने संवाद के संप्रेषण के लिए सांकेतिक भाषा और संकेतलिपि का प्रयोग करें।[१७] कौटिल्य ने यह भी निर्देश दिया है कि उच्च अधिकारियों, सेनापति एवं युवराज आदि के भेद जानने के लिए रसोइया, नौकर-चाकर आदि के रूप में गुप्तचरों की नियुक्ति करें। सभी महत्त्वपूर्ण अधिकारियों की अन्तरंग बातों को जानने के लिए महिला गुप्तचरों की भी नियुक्ति करें और वे नर्तकी, गायिका या कलाकार के रूप में घरों के अन्दर जाकर स्त्रियों के द्वारा गुप्त बातों को ज्ञात करें।[१८] गुप्तचरों के विभिन्न स्रोतों से प्राप्त समाचार यदि एक ही हों तो राजा उस पर विश्वास करे। यदि वे परस्पर विरोधी हों तो राजा ऐसे गुप्तचरों को नौकरी से हटा दे या उनको चुपचाप पिटवा दे।[१९]

शुक्राचार्य का यह भी कथन है कि राजा का कर्तव्य है कि वह गुप्तचर विभाग की सुरक्षा की व्यवस्था करे, जिससे जनता या अधिकारी वर्ग उन्हें तंग न कर सकें।[२०]

६. देवदूत

वेदों में कुछ ऐसे भी देव हैं, जिन्हें देवदूत की उपाधि से अलंकृत किया गया है। देवों में अग्नि देव को सर्वश्रेष्ठ दूत होने का श्रेय प्राप्त है। यज्ञ में प्रदत्त हवि को अग्नि ही

---

१५. दूते संधानमायत्तं चरे चर्या प्रतिष्ठिता । काम० १३.३४

१६. समापिबन्तो जगतां मतानि, जलानि भूमेरिव सूर्यपादाः ।
अनेकशिल्पाध्ययनप्रवीणाः, चाराश्चरेयुर्बहुलिंगिरूपाः ।। काम० १३.५०

१७. संज्ञालिपिभिश्चरसंचारं कुर्युः । न चान्योन्यं संस्थास्ते वा विद्युः । कौटि० पृ० ४१

१८. कौटि० पृ० ४०-४१

१९. त्रयाणाम् एकवाक्ये संप्रत्ययः । तेषाम् अभीक्ष्णविनिपाते तूष्णींदण्डः प्रतिषेधो वा ।
कौटि० पृ० ४२

२०. प्रकृतिभ्योऽधिकृतेभ्यो गूढचारं सुरक्षयेत् । शुक्र० १.३४०

दूत के रूप में सभी देवों को पहुँचाता है, अतः उसका बहुत महत्त्व है। दूत का कार्य है – अपने स्वामी के सन्देश को यथास्थान पहुँचाना। यज्ञ में अग्नि समस्त हव्य पदार्थों को जलाकर भस्मसात् कर देता है और उनके सारभाग को सूक्ष्मरूप में सभी देवों को यथास्थान पहुँचा देता है, अतः उसे आदर्श दूत के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यजुर्वेद का कथन है कि हव्य-वाहक होने के कारण अग्नि दूत है और वह पुरोधा या पुरोहित है।[२१] ऋग्वेद और अथर्ववेद में अनके मन्त्रों में अग्नि को दूत कहा गया है।[२२] अग्नि को सूर्य का दूत कहा गया है।[२३] अग्नि विशः (जनता) का भी दूत है।[२४] अग्नि सभी देवों का दूत है।[२५]

वेदों में अग्नि के अतिरिक्त कुछ पशु-पक्षियों आदि को भी देवों का दूत गिनाया गया है। ऋग्वेद में बादलों को वर्षा ऋतु का दूत बताया गया है।[२६] यमराज के दो कुत्तों को यम का दूत कहा गया है।[२७] अथर्ववेद में मृत्यु को यम का दूत बताया गया है।[२८] कबूतर को निर्ऋति (विपत्ति) का दूत कहा गया है।[२९] एक अन्य मंत्र में कपोत और उल्लू को निर्ऋति (विपत्ति, संकट) का दूत वर्णन किया गया है।[३०] ऋग्वेद के एक मंत्र में सूर्य को सारे संसार का दूत (स्पश्) बताया गया है।[३१]

इससे ज्ञात होता है कि अग्नि सूर्य आदि देवों के तुल्य पशु-पक्षियों आदि को भी संवाद-संप्रेषण के माध्यम के कारण दूत कहा जाता था। इस प्रकार वेदों में दूत और दूतकर्म का पर्याप्त विशद वर्णन प्राप्त होता है।

७. राजदूत

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि वेदों में दूतों के माध्यम से सन्देश-संप्रेषण का उल्लेख है। राज्य-संचालन में दूत-व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख वेदों में प्राप्त नहीं होता है।

---

२१. अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहम्० । यजु० २२.१७

२२. ऋग्० १.१२.१ । ८.४४.३ । अथर्व० १.७.६ । ३.१.२ । ३.२.१

२३. होता यद् दूतो अभवद् विवस्वतः । ऋग्० १.५८.१

२४. अग्ने दूतो विशामसि । ऋग्० १.३६.५

२५. दूतो विश्वेषां भुवत् । ऋग्० ४.९.२

२६. आविर्दूतान् कृणुते वर्ष्यान् । ऋग्० ५.८३.३

२७. श्वानौ ... यमस्य दूतौ । ऋग्० १०.१४. ११ - १२

२८. मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः । अ० १८.२.२७

२९. कपोतः ... दूतो निर्ऋत्याः । अ० ६.२७.१

३०. यौ ते दूतौ निर्ऋते० । अ० ६.२९.२

३१. तं सूर्यं ... स्पशं विश्वस्य० । ऋग् ० ४.१३.३

वेदों में कतिपय सन्दर्भ ऐसे हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजा अपना सन्देश दूतों के माध्यम से दूसरे राजा तक पहुँचाता था।

यहाँ उल्लेखनीय है कि वेद में सन्देश-वाहन के लिए केवल दूत ही नहीं, अपितु दूती का भी उल्लेख है। दूत द्वारा वहन किए जाने वाले सन्देश को दूत्य और दूत के कार्य को दूत्य कर्म कहा गया है।

ऋग्वेद में देवदूती सरमा (देवशुनी, कुतिया, बुद्धि) और पणि राजा का संवाद वर्णित है।[३२] इन्द्र ने देवदूती सरमा के द्वारा पणियों को सन्देश भेजा कि वे पहाड़ों में छिपाये हुए धन को और गायों को इन्द्र को दे दे, अन्यथा देवगण युद्ध करके यह सब सामान छीनकर ले जाएंगे। पणियों के राजा ने सरमा का स्वागत किया और उसे भगिनी कहा। पूरा सन्देश सुनने के बाद पणिराजा ने कहा कि हमारे पास भी शस्त्रास्त्र हैं, बिना युद्ध के कौन तुम्हें गाय आदि देगा। साथ ही यह भी कहा कि तुम हमारी भगिनी हो, तुम यहीं रुक जावो और इन्द्र के पास लौटकर न जावो। परन्तु सरमा ने उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी और यह कहकर लौट आई कि इन्द्र आदि देवगण तुम्हारे ऊपर आक्रमण करेंगे और जीतकर इन गायों को ले जायेंगे।

इस संवाद से ज्ञात होता है कि राजा अपना सन्देश भेजने के लिए दूत या दूती रखते थे। दूत निर्भीक होकर दूसरे राजा को वह सन्देश पहुँचाते थे। भय या लालच देने पर भी दूत शत्रुराजा के पक्ष में नहीं जाता था। दूत अपने स्वामी का भक्त बना रहना अपना परम कर्तव्य समझता था। वह निर्भय होकर अपने राजा के प्रताप का वर्णन करता था तथा किसी प्रभोभन में नहीं फंसता था।

दूती के द्वारा दूत्य कर्म करना यह वैदिक ऋषियों की उदात्तता का परिचायक है।[३३] इससे नारी के साहस, गौरव, दक्षता और कार्यपटुता का ज्ञान होता है।

शतपथ ब्राह्मण में भी कुछ ऐसे सन्दर्भ आये हैं, जिनसे दूत की उपयोगिता का ज्ञान होता है। एक सन्दर्भ में कहा गया है कि देवता और असुर दोनों ही प्रजापति की संतान हैं। दोनों ही अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहते थे। दोनों के मध्य में पृथिवी गायत्री के रूप में उपस्थित हुई। दोनों को ज्ञात था कि पृथिवी जिसके पक्ष में होगी, उसी की विजय होगी। पृथिवी को अपनी ओर करने के लिए दोनों ने अपने अपने दूत भेजे। देवों का दूत अग्नि हुआ और सहराक्षस असुरों का दूत। अग्नि अपने कार्य में सफल हुआ। अतः पृथिवी देवों के पक्ष में आगई और देव विजयी हुए।[३४]

---

३२. ऋग्वेद, मंडल १० सूक्त १०८, मंत्र १ से ११

३३. यस्येदं दूतीरसरः पराकात् । ऋग् ० १०.१०८.३

३४. अग्निरेव देवानां दूत आस, सहरक्षा ... असुराणाम् । शत० १.४.१.३४

शतपथ ब्राह्मण के दूसरे सन्दर्भ में कहा गया है कि देवों और असुरों ने वाणी (वाक्) की उपेक्षा की और उसे यज्ञ में भाग नहीं दिया। वाणी ने क्रुद्ध होकर सिंहनी का रूप धारण किया और देवों तथा असुरों को पकड़कर मारना शुरू किया। भयभीत होकर दोनों ने वाणी के पास अपने दूत भेजे। देवों का दूत अग्नि हुआ और राक्षसों का सहराक्षस। अग्नि अपने कार्य में सफल हुआ और वह वाणी (वाक्) को समझाकर देवों के पक्ष में कर सका।[३५]

इससे ज्ञात होता है कि किसी भी राजा की सफलता सुयोग्य दूत पर निर्भर होती है। कुशल दूत असाध्य कार्यों को भी साध्य और सुकर बना देता है।

८. दूत की योग्यता और उनके क्रियाकलाप

वेदों में दूत-कर्म के लिए पुरुष और महिला दोनों की नियुक्ति वर्णित है। देवों में अग्नि सबसे सफल देवदूत है और नारी के रूप में सरमा सफल दूती है। दोनों ने अपना कार्य बहुत उत्तमता से संपादित किया है।

तैत्तिरीय संहिता में दूत का एक भेद प्रहित भी माना है।[३६] सायण ने दूत और प्रहित का अन्तर किया है। दूत परवृत्तान्तज्ञापन-दक्ष अर्थात् राजा आदि का सन्देश दूसरे तक पहुँचाने में दक्ष होता है। प्रहित केवल सन्देशवाहक होता है। ऋग्वेद में प्रहितः अर्थात् भेजा, क्रियापद के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।[३७]

वेदों में दूतों के गुण-कर्म के विषय में विस्तृत सामग्री प्राप्त होती है। मन्त्रों में दूत शब्द के जो विशेषण दिए गए हैं, उनसे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वैसे पृथक रूप में दूत के गुण-कर्मों का कोई स्वतंत्र विवेचन नहीं है। जो स्फुट सामग्री प्राप्त होती है, उसके आधार पर दूत के ये कतिपय गुण-कर्म ज्ञात होते हैं।

यजुर्वेद के एक मन्त्र में दूत के ये गुण बताए गए हैं :—[३८]

१. **उशिक्** - मेधावी होना चाहिए। २. **हव्यवाह्** - हव्य के तुल्य सन्देश का वाहक हो। ३. **चनोहितः** - चनस् का अर्थ मनुष्य या प्रजा है। वह जनता का हितकारी हो। ४. **धिया समृण्वति** - बुद्धि या सूझबूझ से युक्त हो। ऋग्वेद के एक मन्त्र में दूत के इन

---

३५. वाक् चुक्रोध । अग्निरेव देवानां दूत आस, सहरक्षा ... असुराणाम् ।
... सैवं देवान् उपाववर्त । शत० ३.५.१. २१ - २२

३६. नमो दूताय च प्रहिताय च । तैत्ति० ४.५.७

३७. यस्य दूतः प्रहित एष एतत् । ऋग्० १०.१६५.४

३८. स हव्यवाडमर्त्य उशिग् दूतश्चनोहितः ।
अग्निर्धिया समृण्वति । यजु० २२.१६

गुणों का उल्लेख है[३९] :– **१. विशां मन्द्र :-** प्रजा का हर्षवर्धक हो। **२. गृहपति :-** अग्नि के तुल्य अपने गृह अर्थात् स्वराष्ट्र के हितों का रक्षक हो। राज्य और प्रजा दोनों के हर्ष की वृद्धि करे और उनके हितों का संरक्षण करे। इसी प्रसंग में ऋग्वेद में दूत के साथ इन देवों का भी उल्लेख है - मित्र, वरुण और अर्यमा।[४०] दूत मित्र के तुल्य सारे जीवों का हितैषी हो; वरुण के तुल्य उदार हो और अर्यमा के तुल्य न्यायकारी हो। आगे मंत्र में कहा गया है कि ऐसा दूत जिसके पास होता है, वह सारे संसार को जीत लेता है। एक अन्य मंत्र में दूत के गुण का उल्लेख है कि - **मही बृहती शंतमा गीः** - अर्थात् दूत की वाणी बहुत संतुलित एवं शान्तमुद्रा में हो। महान् और गंभीर सन्देश को भी वह बड़ी शान्ति से प्रस्तुत करे।[४१]

एक अन्य मंत्र में दूत के दो गुणों का उल्लेख है :- १. **क्षपावान्** - क्षपा अर्थात् पृथ्वी का रक्षक। दूत का कार्य संधिविग्रह है, अतः वह अपने राजा की भूमि का रक्षक होता है। २. **अतन्द्रः** - तन्द्रा या आलस्य से रहित हो। दूत में आलस्य, प्रमाद या दीर्घसूत्रता आदि दुर्गुण नहीं होने चाहिएं।[४२] ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में दूत के इन गुणों का उल्लेख है :– १. **श्रेष्ठः** - ज्ञान आदि में वह श्रेष्ठ हो। २. **यविष्ठः** - अत्यन्त युवा हो अर्थात् शरीर से हृष्ट-पुष्ट हो। ३. **न निन्दिम** - निन्दनीय न हो अर्थात् समाज में प्रतिष्ठित हो। ४. **महाकुल** :- कुलीन हो, उच्चकुल में उत्पन्न हुआ हो। कुलीनता के साथ गंभीरता, शालीनता, निर्लोभ एवं अलोलुपता आदि गुण आते हैं, अतः महाकुलः विशेषण दिया गया है। ५. **भ्रातः** - भ्राता या बन्धु के तुल्य दूसरे की सहायता करने वाला हो।[४३]

कुछ अन्य मंत्रों में भी दूत के गुणों का उल्लेख है। १. दूत सन्देशवाहक होता है।[४४] २. **आशुम्** - वह शीघ्र कार्य करने वाला हो। ३. **केतुम्** - ध्वजा के तुल्य हो, अर्थात् समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति हो।[४५] ४. **दूत्यानि विद्वान्** - दूतकर्म को जानने वाला हो, अर्थात् इस विषय का विधिवत् प्रशिक्षण प्राप्त किया हो। ५. **संचिकित्वान्** - प्रबुद्ध, विद्वान् , सतत सावधान, चौकन्ना हो। दूत को सदा सावधान रहना चाहिए। ६. **विदुष्टर** :- अधिक

---

३९. मन्द्रो होता गृहपतिरग्ने दूतो विशामसि । ऋग्० १.३६.५

४०. मित्रो वरुणो अर्यमा सं दूतं प्रत्नमिन्धते ।
विश्वं सो अग्ने जयति० । ऋग् ० १.३६.४

४१. मही बृहती शंतमा गीर्दूतो न गन्तु । ऋग्० ५.४३.८

४२. स हि क्षपापान् .. अतन्द्रो दूतः । ऋग् ० ७.१०.५

४३. श्रेष्ठः, यविष्ठः, दूत्यम् , न निन्दिम, महाकुलः, भ्रातः । ऋग् ० १.१६१.१

४४. दूतमिव वाचमिष्ये । ऋग् ० ४.३३.१

४५. आशुं दूतम् .. केतुम् । ऋग् ० ४.७.४

विद्वान् या अधिक सुशिक्षित हो।[४६] इसी भाव को एक अन्य मन्त्र में भी कहा गया है।[४७] ७. **विश्ववेदसम्** - सर्ववित् अर्थात् सभी विषयों की जानकारी रखता हो। ८. **यजिष्ठम्** - अत्यन्त संमाननीय, समाज में अत्यन्त आदरणीय हो।[४८]

दूत की अन्य विशेषताएँ बताई गई हैं : १. **अजिरः** - चुस्त, फुर्तीला और साहस वाला हो। २. **अयःशीर्षा** - सिर पर सुनहरी टोप आदि धारण करने वाला हो। ३. **मदेरघुः** - प्रसन्नचित्त रहते हुए अति शीघ्र कार्य करने वाला हो।[४९] ४. **दूडभः** - दूत अवध्य होता है। उसकी हिंसा या उसका वध नहीं किया जा सकता है। ५. **प्रावीः** - स्वच्छन्दरूप से सर्वत्र विचरण करने में समर्थ एवं अग्रगामी हो।[५०] ६. **उशन्तौ दूतौ, न दभाय** - दूसरों का हित करने की इच्छा वाला हो। साथ ही किसी का अहित न करने वाला हो। ७. **गोपा** - जनता का रक्षक हो।[५१] ८. **जन्य** - दूत जनहितकारी हो, जनता का हित करने वाला हो। ९. **हव्य** - आदरणीय, ससंमान बुलाए जाने योग्य। दूत सभी प्रतिष्ठित स्थानों पर सादर आमन्त्रित करने योग्य होता है ।[५२] १०. **यशसा जनेषु** - दूत समाज में यशस्वी होता है। उसका सर्वत्र संमान होता है और वह समाज में संमाननीय व्यक्तियों में गिना जाता है।[५३]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि दूत के लिए उच्चकोटि की योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं। गुण और योग्यता के आधार पर दूतों को तीन वर्गों में परिगणित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वे दूत रखे जा सकते हैं, जो कुलीन, शुद्ध आचार-विचार-युक्त और विद्वत्ता आदि में अत्युत्कृष्ट हों। द्वितीय श्रेणी में उन्हें रखा जा सकता है, जो हृष्ट-पुष्ट, गंभीर, सुन्दर व्यक्तित्व वाले, प्रसन्नचित्त, जन-हितैषी, न्यायप्रेमी और परिहितचिन्तक हों। तृतीय श्रेणी में उन्हें रखा जा सकता है, जो यथोक्तवादी, क्षिप्रकारी, आलस्य आदि से रहित, निर्भीक और मृदुभाषी हों। योग्यता और कार्यपटुता के आधार पर ये श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं।

९. गुप्तचर-व्यवस्था और उसके कार्यकलाप

संस्कृत साहित्य में गुप्तचरों के लिए चर और चार शब्द प्रचलित हैं। वैदिक साहित्य

---

४६. दूत्यानि विद्वान् , संचिकित्वान् , दूतः, विदुष्टरः । ऋग् ० ४.७.८

४७. दूत्यं चिकित्वान् , विद्वान् । ऋग् ० ४.८.४

४८. दूतं वो विश्ववेदसं .. यजिष्ठम्० । ऋग्० ४.८.१

४९. अजिरो दूतः, अयःशीर्षा मदेरघुः । ऋग्० ८.१०१.३

५०. दूडभो विक्षु प्रावीः .. दूतः । ऋग्० ४.९.२

५१. उशान्ता दूता न दभाय गोपा । ऋग्० ७.९१.२

५२. दूतेव हव्या जन्या पुरुत्रा । ऋग्० २.३९.१

५३. दूतेव हि ष्ठो यशसा जनेषु । ऋग्० १०.१०६.२

में चर और चार शब्दों का प्रयोग प्राप्त नहीं होता है। वेदों में गुप्तचर के लिए स्पश् शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। वरुण आदि देवों के गुप्तचरों का जो वर्णन वेदों में हुआ है, उसके आधार पर वैदिक गुप्तचर-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि देवों के गुप्तचर (स्पश्) सारे संसार में फैले हुए हैं। ये न कहीं रुकते हैं और न कभी आंख बंद करते हैं।[५४] ये सदा सर्वत्र विचरण करते हैं और संसार की सभी घटनाओं की सूचना अपने स्वामी को देते हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ ये न रहते हों। अतः कोई सुकर्म या दुष्कर्म इनसे छिपाया नहीं जा सकता है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक युग में गुप्तचर-व्यवस्था ज्ञात थी और शासन-व्यवस्था में इसका उपयोग होता था।

ऋग्वेद के एक मंत्र में वर्णन किया गया है कि राजा वरुण सुवर्णालंकार से अलंकृत होकर गद्दी पर बैठा है और उसके चारों ओर गुप्तचर बैठे हुए हैं।[५५] ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में राजा वरुण के गुप्तचरों का वर्णन करते हुए गुप्तचरों के इन गुणों और कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। १. **स्मदिष्टाः** - सन्देशवाहक, जिनके द्वारा कोई सन्देश भेजा जाता है। २. **उभे पश्यन्ति** - ये धरती और आसमान सब जगह की घटनाओं पर दृष्टि रखते हैं। ३. **ऋतावानः** - सत्यवादी एवं ईमानदान हों। ४. **कवयः** - ज्ञानी एवं निष्णात हों। ५. **प्रचेतसः** - बड़ी सूझबूझ वाले हों।[५६]

अथर्ववेद में भी वरुण के गुप्तचरों का विस्तृत वर्णन किया गया है और कहा गया है कि वरुण को अपने गुप्तचरों के द्वारा संसार की प्रत्येक घटना की पूरी जानकारी तुरन्त मिलती रहती है।[५७] चोरी-छिपे भी जो काम किया जाता है, या दो व्यक्ति जो गुप्त मन्त्रणाएं करते हैं या व्यक्ति अज्ञात रूप में जो काम करते हैं, वे सारी सूचानाएँ राजा वरुण तक पहुंच जाती हैं।[५८] अपराधी व्यक्ति कहीं भी चला जाए, वह वरुण के पाश से नहीं बच सकता है। वरुण के गुप्तचर सर्वत्र फैले हुए हैं और वे हजारों आँखों से संसार की सभी घटनाएँ देखते हैं। इस मंत्र में स्पश् के लिए सहस्राक्ष (हजार आंखों वाला) शब्द का प्रयोग हुआ

---

५४. न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते
देवानां स्पश इह ये चरन्ति । ऋग्० १०.१०.८ । अ० १८.१.९

५५. वरुणो .. परि स्पशो नि षेदिरे । ऋग्० १.२५.१३

५६. परि स्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा, उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके ।
ऋतावानः कवयो यज्ञधीराः, प्रचेतसो य इषयन्त मन्म ।। ऋग्० ७.८७.३

५७. सर्वं देवा इदं विदुः । अथर्व० ४.१६.१

५८. राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः । अ० ४.१६.२

है।[५९] पृथिवी और अन्तरिक्ष में जो कुछ भी घटना हो रही है, उसको राजा वरुण अपने गुप्तचरों द्वारा देख रहा है।[६०]

अथर्ववेद के ही एक अन्य मंत्र में गुप्तचरों के ये गुण-कर्म बताए गए हैं :– १. **मधुजिह्वाः** - मधुरभाषी, सबसे प्रेम से बोलने वाले। २. **असश्चत** :- अप्रतिहतगति अर्थात् जो सब जगह जा सकते हैं या जिन्हें कहीं जाने से रोका नहीं जा सकता है। ३. **न निमिषन्ति** - सदा सावधान, कभी न सोने वाले। ४. **भूर्णयः** - कर्मठ, सदा चुस्ती से काम करने वाले। ५. **पाशिनः**- पाशधारी, जिनके पास अपराधी को बांधने के लिए बेड़ियाँ आदि हैं।[६१] यह मंत्र ऋग्वेद में भी है।

ऋग्वेद के ही एक अन्य मंत्र में गुप्तचरों के कुछ अन्य गुण-कर्मों का उल्लेख है। ये हैं :– १. **इषिरासः** - प्रसन्नचित्त, सदा प्रसन्न मुद्रा में रहने वाले या हँसमुख। २. **अद्रुहः** - किसी से व्यक्तिगत द्वेष न रखने वाले। अपने व्यक्तिगत द्वेष के करण किसी को अपराध में न फँसाने वाले। ३. **स्वञ्चः** - शुद्ध आचार-विचार वाले, सच्चरित्र, दुर्व्यसनों से मुक्त। ४. **सुदृशः** - देखने में सुरूप एवं सब बातों को सूक्ष्म दृष्टि से देखने वाले। ५. **नृचक्षसः** - प्रत्येक व्यक्ति को बारीकी से देखने वाले या जिनमें व्यक्तियों की परख करने की क्षमता है।[६२]

ऋग्वेद के कुछ अन्य मन्त्रों में गुप्तचरों के इन गुणों का वर्णन है :- १. **अदब्धाः** - अक्षत, अधृष्य, जिन्हें डराया-धमकाया न जा सके, दबंग। २. **अमूराः**- विद्वान्, सब बातें समझने वाले।[६३] ३. **अनिमिषं रक्षमाणाः** - सदा जनता की रक्षा में तत्पर। जनता की अपराधियों आदि से सदा रक्षा करने वाले।[६४] ४. **पायुर्विशः** - प्रजा का रक्षक। जनता के हित में तत्पर। ५. **अघशंस से रक्षकः** - अपराधी तत्त्वों से जनता के रक्षक। जिससे जनता पर अपराधी तत्त्व हाबी न हो सकें।[६५] ६. **अभिशस्तिपावाः** - राजा को निन्दा या बदनामी से बचाने वाला। जिन कार्यों से राजा की निन्दा या बदनामी हो सकती है, उनकी पूर्वसूचना देने वाला।[६६] ७. **कूलादिव०** - दूर बैठकर घटना चक्र को देखने वाला। जिस प्रकार नदी

---

५९. दिवः स्पशः ... सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् । अ० ४.१६.४

६०. सर्वं तद् राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी० । अ० ४.१६.५

६१. मधुजिह्वा असश्चतः । अस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः,
पदे पदे पाशिनः सन्ति सेतवे । अ० ५.६.३. । ऋग्० ९.७३.४

६२. इषिरासो अद्रुहः, स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षसः । ऋग्० ९.७३.७

६३. स्पशो अदब्धासो अमूराः । ऋग्० ६.६७.५

६४. स्पशो ... अनिमिषं रक्षमाणाः । ऋग्० ७.६१.३

६५. स्पशः - पायुर्विशः, अदब्धः, अघशंसो .. माकिः आ दधर्षीत् ।
ऋग्० ४.४.३

६६. भवा नो दूतो अभिशस्तिपावा । ऋग्० ७.११.३

के किनारे पर बैठकर नौका आदि की गति देखी जाती है, उसी प्रकार छिपकर या अप्रत्यक्ष रूप से बातों का पता लगाने वाला।[६७]

ऋग्वेद में वरुण के अतिरिक्त अग्नि, मित्र-वरुण, सोम आदि के भी गुप्तचर बताए गए हैं।[६८] एक मंत्र में सूर्य को सारे संसार का गुप्तचर कहा गया है।[६९] अथर्ववेद के एक मंत्र में रुद्र के गुप्तचरों को पद-पद पर विद्यमान बताया गया है और उनके पास अपराधियों को बाँधने के लिए बेड़ियों के होने का उल्लेख है।[७०]

यम-यमी सूक्त में भी उल्लेख है कि देवों के गुप्तचर प्रत्येक स्थान पर विद्यमान हैं। वे सतत जागरूक रहते हुए प्रत्येक शुभ और अशुभ कार्यों को देखते हैं और उनकी सूचना अपने स्वामी तक पहुँचाते हैं।[७१] अतः प्रत्येक शुभ और अशुभ कर्मों का फल संबद्ध व्यक्ति को अवश्य मिलता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक काल में दूत और गुप्तचर-व्यवस्था पर पर्याप्त चिन्तन हुआ था। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अन्य विद्याओं के तुल्य इस विषय पर भी केवल सूत्र रूप में सामग्री मिलती है। दूतों और गुप्तचरों की नियुक्ति, उनके वेतन, कार्य, विशेषाधिकार और व्यवस्था संबन्धी विषयों पर वैदिक साहित्य में विस्तृत विवेचन प्राप्त नहीं होता है।

●

---

६७. कूलादिव स्पशः । ऋग्० ८.४७.११

६८. ऋग्० ४.४.३ । ६.६७.५ । ९.७३. ४ से ७

६९. तं सूर्यं ... स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति । ऋग्० ४.१३.३

७०. पदे पदे पाशिनः सन्ति सेतवे । अ० ५.६.३

७१. न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते,
देवानां स्पश इह ये चरन्ति । ऋग्० १०.१०.८

अध्याय १६

राज्य की सुरक्षा और सैन्य-व्यवस्था

१. राज्य के दो प्रकार के शत्रु

२. आभ्यन्तर शत्रु और उनका दमन

३. बाह्य - शत्रुनाशन और सैन्य - व्यवस्था

४. सेना का स्वरूप

५. सेना के अंग

६. नारी सेना

७. सेना, सैनिक और अधिकारी

(१) सेनापति

(२) पदाति-सेनाध्यक्ष

८. सेना के ६ भेद

९. सेना के ८ भेद

१०. युद्ध कार्य

११. युद्ध के प्रकार

१२. युद्धों में माया का प्रयोग

१३. योद्धाओं का वेश

१४. युद्ध का काल

१५. सैनिकों का वेतन और भत्ता

१६. विजयी और पराजित राजा के आचरण

अध्याय १६

राज्य की सुरक्षा और सैन्य-व्यवस्था

१. राज्य के दो प्रकार के शत्रु

प्रत्येक राज्य में शान्ति-व्यवस्था को भंग करने वाले कुछ शत्रु रहते हैं। ये राज्य में अव्यवस्था और अशान्ति उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। राजा कर्तव्य है कि वह इन शत्रुओं को नष्ट करे और राष्ट्र में शान्ति-व्यवस्था को सुरक्षित करे। इन शत्रुओं को हम दो भागों में बांट सकते हैं - १. आभ्यन्तर शत्रु २. बाह्य शत्रु। आभ्यन्तर शत्रु वे हैं जो अपने ही राष्ट्र के हैं। ये शत्रु दूसरों की संपत्ति, भूमि, भवन आदि का हरण करते हैं, स्त्रियों की मान-मर्यादा को आघात पहुंचाते हैं, दूसरों की प्रतिष्ठा को क्षति पहुंचाते हैं और राजकीय संपत्ति आदि को हानि पहुंचाते हैं। बाह्य शत्रु वे हैं, जो दूसरे राष्ट्र से संबन्ध रखते हैं। ये शत्रु देश पर आक्रमण करते हैं, जन-संहार करते हैं, गुप्तचरों द्वारा जनता में असन्तोष उत्पन्न करते हैं और राज्य में अशान्ति एवं अव्यवस्था फैलाते हैं। इन दोनों प्रकार के शत्रुओं का दमन करना राजा का कर्तव्य है।

२. आभ्यन्तर शत्रु और उनका दमन

आभ्यन्तर शत्रु समाज की व्यवस्था को बिगाड़ने वाले व्यक्ति हैं। इनमें चोर, डाकू, व्यभिचारी, आततायी, समाज के शोषक आदि आते हैं। वेदों में चोर के लिए स्तेन और तायु शब्द हैं। पापी के लिए अघशंस, डाकू के लिए तस्कर, बटमार के लिए परिपन्थिन्, परस्त्रीगामी के लिए जार, परपुरुषगामिनी के लिए पुंश्चलू और पुंश्चली, पशु-चोर के लिए पशुतृप् , समाजशोषक के लिए अराति, अरावन् , अत्रिन् आदि शब्द हैं। अनेक मन्त्रों में इनको नष्ट करने की प्रार्थनाएं की गई हैं। चोरी करने वाला समाज का शत्रु है, उसका पतन हो।[१] पापियों और दुर्विचार वालों को शस्त्रों से मार दो।[२] धूर्त पापियों को विष देकर मार डालो।[३] चोरों का सिर और गर्दन काट दो।[४] गाय आदि को मारने वाले को सीसे की गाली से मार दो।[५] चोर के हाथ-पैर काट दो।[६] शोषकों को सताकर निर्बल कर दो।[७] जो विद्वानों पर आक्रमण करें, उनको नीचा दिखाओ।[८] यजुर्वेद में स्तेन (चोर), तस्कर (डाकू), मलिम्लु

(क) राज्य के दो प्रकार के शत्रु आदि

१. ऋग्० ७.१०४.१० २. ऋग्० १.९४.९ ३. ऋग्०१०.८७.२३
४. अ० १९.४९.९ ५. अ० १.१६.४ ६. अ० १९.४९.१०
७. अ० ८.४.१ ८. अ० ३.१९.३

(दुर्व्यसनी), अघायु (पापी) और निन्दकों को नष्ट करने तथा भस्मसात् करने का उल्लेख है।[९]

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि आभ्यन्तर शत्रुओं को समूल नष्ट करने का विधान है। इसके लिए राजा को उत्तरदायी बनाया गया है। राजा इनको नष्ट करे या नियन्त्रित करे। राजा की ओर से इसके लिए क्या व्यवस्था की जाती थी, इसका विवरण अप्राप्त है। राजकृतों में ग्रामणी (ग्रामप्रधान) का उल्लेख है।[१०] ज्ञात होता है कि ग्राम पंचायत या ग्रामणी क्षेत्रीय स्तर पर इन अपराधों को रोकने की व्यवस्था करते थे। यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में रुद्र के गणों का निर्देश है। इनके लिए कहा गया है कि ये मार्गों की रक्षा का कार्य करते थे और जीवनभर सैनिक का कार्य करते थे।[११] ये मनुष्यों के स्वामी एवं अधिपति हैं।[१२] ये तीर्थों पर सुरक्षा के लिए धनुष-बाण, तलवार आदि लेकर घूमते हैं।[१३] इससे ज्ञात होता है कि गण-सैनिकों को सामान्य सुरक्षा का काम दिया जाता था और वे मार्गों में चोरी, डकैती आदि को रोकते थे तथा तीर्थ आदि स्थानों पर सुरक्षा की व्यवस्था करते थे। अथर्ववेद में संकेत है कि कुछ सैनिक (पुरुष) आन्तरिक सुरक्षा के कार्य में लगाए जाते थे। इनको शत्रुनाशक (सपत्नहा), बलिष्ठ (प्राणसंशित) और सैनिक तेजस्विता वाला (पुरुषतेजाः) कहा गया है।[१४] यहां यह स्मरण रखना उचित होगा कि वर्तमान पुलिस शब्द पुरुष शब्द का ही विकसित रूप है। अशोक के अभिलेखों में पुलिस के लिए 'पुरिस' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक अन्य मंत्र में इनको अग्नि के तुल्य तेजस्वी (अग्नितेजाः) और पृथिवी की रक्षा के लिए अनुप्राणित (पृथिवीसंशित) कहा गया है।[१५]

वेदों में अनेक स्थलों पर उल्लेख है कि पापी, मायावी, धूर्त और चोरों आदि को नष्ट कर दो, जला दो या बन्धन में डाल दो।[१६] इससे ज्ञात होता है कि कुछ राजकर्मचारी या पुलिस आदि इस कार्य के लिए नियुक्त किए जाते थे।

छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन है कि असत्यवादी को पकड़ कर लाया जाता था और उसकी अग्निपरीक्षा की जाती थी। लोहे की गर्म छड़ या कुल्हाड़ी (परशु) उसके हाथ में

---

९. यजु० ११.७७ से ८०

१०. ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये । अ० ३.५.७

११. ये पथां पथिरक्षयः । आयुर्युधः । यजु० १६.६०

१२. ये भूतानामधिपतयः । यजु० १६.५९

१३. ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः । यजु० १६.६१

१४. सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः । अ० १०.५.३५

१५. सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः । अ० १५.५.१

१६. ऋग्० १०.८७.२३, १०.८७.२०, १०.८७.२, १०.८७.२४ आदि ।

दी जाती थी। यदि असत्यवादी होता था तो उसका हाथ जल जाता था, यदि सत्यवादी होता था तो उसका हाथ नहीं जलता था।[१७] इससे ज्ञात होता है कि अपराधियों को राजा द्वारा दंड दिया जाता था।

प्राचीन चर-व्यवस्था के द्वारा भी अपराधियों को पता लगाया जाता था और उन्हें अपराध के अनुसार दंड दिया जाता था।

३. बाह्य-शत्रु-नाशन और सैन्य-व्यवस्था

बाहरी शत्रु संगठित रूप में राज्य पर आक्रमण करते थे। उनसे अपने राज्य की सुरक्षा के लिए सेना की आवश्यकता पड़ती थी। वेदों में सेना का संगठन, संचालन, युद्ध-क्रिया, शस्त्र-अस्त्रों का प्रयोग, युद्ध में शत्रुओं का संहार और विजय-प्राप्ति आदि से संबद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि राष्ट्र-सुरक्षा, सेना की आवश्यकता, सेना का प्रशिक्षण, शस्त्रास्त्रों का निर्माण आदि के प्रति भी जागरूक थे, अतएव चारों वेदों में सैकड़ों मन्त्र सैन्य-व्यवस्था से संबद्ध प्राप्त होते हैं।

इन्द्र के लिए कहा गया है कि उसने सैकड़ों सेनाओं को एक साथ जीता।[१८] 'आशुः शिशानः०' यह सूक्त चारों वेदों में आया है। इसमें कहा गया है कि इन्द्र के पास योद्धा सैनिकों का गण है।[१९] इन्द्र के पास तामस आदि दिव्य अस्त्र हैं, जिससे शत्रुओं को मूर्छित कर देता है।[२०] इन्द्र की सेना सदा विजयी होती है।[२१] एक भी शत्रु को जीवित न छोड़ो।[२२] शत्रुओं की सेना को सहस्त्रों प्रकार से नष्ट कर दो।[२३] इन्द्र शत्रुसेना को बेहोश कर दे और वह पराजित होकर लौट जावे।[२४]

उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए सेना की नितान्त आवश्यकता थी। इन्द्र ने सैकड़ों सेनाओं को एक साथ जीता, इससे स्पष्ट होता है कि शत्रु अपनी सेना

---

१७. सोऽनृताभिसन्धो ... परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति, स दह्यते ।
छान्दोग्य उप० ६.१६. २,३

१८. शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः । ऋग्० १०.१०३.१; यजु० १७.३३; अथर्व० १९.१३.२; साम० १८४९

१९. स युध इन्द्रो गणेन । ऋग्० १०.१०३.३

२०. अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् । ऋग्० १०.१०३.१२

२१. दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्यः । ऋग्० १०.३.७

२२. मामीषां कं चनोच्छिषः । यजु० १७.४५

२३. यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः । अ० ८.८.१

२४. इन्द्रः सेनां मोहयतु .. पुनरेतु पराजिता । अ० ३.१.६

को अनेक भागों में विभक्त करके आक्रमण करते थे। साथ ही अनेक शत्रु संगठित होकर भी किसी एक राजा पर आक्रमण कर देते थे। अतः राजा का कर्तव्य होता था कि वह इन सभी शत्रुओं से सदा सावधान रहे।

४. सेना का स्वरूप

वेदों में देवसेना का स्पष्ट उल्लेख है।[२५] शत्रुसेना के रूप में असुर सेना या अनार्य सेना का वर्णन है। देवसेना का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि देवसेना अपने ध्वज लेकर युद्ध के लिए प्रस्थान करती थी। उनके पास धनुष, बाण, तूणीर, रथ और अश्व होते थे। वे विजय-ध्वनि करते हुए चलते थे। देवसेना के आगे मरुतों का गण युद्धवेष में चलता था। उनके पास धूमास्त्र आदि प्रक्षेपास्त्र होते थे। उनके द्वारा वे शत्रुओं को मूर्छित कर देते थे। वे शत्रुओं को निर्दयता से मारते थे और सदा विजयी होते थे।[२६]

कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक काल में राजाओं के पास स्थायी सेना नहीं होती थी और वे आवश्यकतानुसार सेना का संगठन कर लेते थे। परन्तु वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि राजाओं के पास स्थायी सेना होती थी। ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णन है कि २० जनराजाओं का राजा सुश्रवस् से युद्ध हुआ। इसमें इन्द्र ने सुश्रवस् का पक्ष लेकर जनराजाओं के साठ हजार निन्यानवे सैनिकों का वध किया और सुश्रवस् को विजयी बनाया।[२७] जिस युद्ध में साठ हजार से अधिक सैनिक मारे गए, उस युद्ध में दोनों पक्षों के सैनिकों की संख्या कम से कम एक या दो लाख रही होगी। इतनी बड़ी सेना का होना सिद्ध करता है कि ये सैनिक स्थायी और सुप्रशिक्षित होंगे। एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र ने वृत्रासुर के दस हजार सैनिकों को मारा। यह भी स्थायी सेना के संगठन का संकेत करता है।[२८]

अथर्ववेद में राजकर्ताओं का उल्लेख है। उसमें 'राजानो राजकृतः' कहा गया है। साथ ही रथकार (बढ़ई), कर्मार (लोहार), सूत (सारथि) और ग्रामणी (ग्रामप्रधान) का भी उल्लेख

---

२५. देवसेनानाम् अभिभञ्जतीनां
जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् । ऋग्० १०.१०३.८

२६. ऋग्० १०.१०३ सूक्त; यजु० १७. ३३ से ४९; अथर्व० १९.१३.१ से ११;
सामवेद मंत्र १८४९ से १८७२

२७. त्वमेतां जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ।
ऋग्० १.५३.९; अथर्व० २०.२१.९

२८. दश वृत्राण्यप्रति .. नि सहस्राणि बर्हयः ।
ऋग्० १.५३.६; अथर्व० २०.२१.६

है।[२९] राजकर्ताओं को दो श्रेणी में विभक्त किया गया है - १. राजानः (राजपरिवार वाले) और २. अराजानः (राजपरिवार से भिन्न, रथकार आदि)। इसी श्रेणी में सेनानी (सेनापति) भी आते हैं। अतएव यजुर्वेद में सेनानी और पत्ति-पति (पैदल सेना का स्वामी) को नमस्कार कहा गया है।[३०] यजुर्वेद में दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं :- आशुषेण और श्रुतसेन।[३१] आशु सेना का अभिप्राय ज्ञात होता है कि वह सेना जो आवश्यकतानुसार तुरन्त कार्यक्षेत्र पर पहुंचे और तुरन्त कार्यवाही करे। यह प्रायः (Rapid Action Force) के तुल्य सद्यः कार्यवाही के लिए होगी। इस मंत्र में साथ ही आशुरथ का भी प्रयोग है, इससे ज्ञात होता है कि आशुसेना के साथ ही आवश्यक कार्य क्षेत्र पर रथी योद्धा भी पहुंचते थे। सेना का दूसरा अंग श्रुतसेना ज्ञात होता है, जो अपनी कुशलता के लिए विख्यात होता था। यह संभवतः स्थायी सेना होती थी, जो युद्धों में भाग लेती थी। ऋग्वेद में महासेना का भी उल्लेख है। इनके विषय में कहा गया है कि ये महासेनाएं शत्रु को अपने अस्त्रों से भून डालती थीं।[३२] इससे ज्ञात होता है कि सेना के भी दो आकार होते थे - एक छोटी सेना और दूसरी बड़ी सेना।

ऋग्वेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद में सेना के लिए सेना, पृतना, अनीक, पृत् , आदि शब्द प्राप्त होते हैं।[३३] अथर्ववेद में सेना के लिए वाहिनी शब्द का भी प्रयोग है।[३४] इसमें वाहिनी को किरीटधारी बताया गया है। सेना के इन विविध भेदों का क्या स्वरूप था, यह कहीं पर स्पष्ट नहीं किया गया है।

५. सेना के अंग

कौटिल्य और शुक्रनीति ने सेना के चार अंगों का वर्णन किया है, अतः सेना को चतुरंगिणी कहा है। सेना के चार अंग हैं - पदाति (पैदल सेना), अश्व (घोड़े), गज (हाथी) और रथ।[३५] शुक्रनीतिकार ने इनका अनुपात दिया है कि अश्वारोही (घुड़सवार) से चौगुनी

---

२९. ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये । अ० ३.५. ६ और ७

३०. नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमः । यजु० १६.२६
पत्तीनां पतये नमः । यजु० १६.१९

३१. नम आशुषेणाय चाशुरथाय च । यजु० १६.३४
श्रुतसेनाय च नमः । यजु० १६.३५

३२. तपन्ति शत्रुं ... महासेनासो अमेभिः । ऋग्० ७.३४.१९

३३. ऋग्० २.४८.३; ६.४६.८; १.१२९.२

३४. वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी । अथर्व० १०.१.१५

३५. चतुरंगबलो यायात् । कौ० अर्थ० पृ० ७२९

पैदल सेना, अश्वारोही से चतुर्थांश हाथी, हाथी से आधे रथ और रथ से दुगुने बृहन्नालीक (तोप) रखें।[३६] अर्थात् यदि १०० अश्वारोही हैं तो ४०० पदाति, २५ गजारोही, १२ रथी एवं २५ तोप।

(क) गज और गजारोही सेना — वेदों में सेना के चारों अंगों का वर्णन प्राप्त नहीं होता है। युद्धों में हाथी और गजारोही का उल्लेख नहीं है। केवल तीन अंगों का ही उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में हाथी को जंगली पशु कहा गया है।[३७] राजा हाथी की सवारी करते थे।[३८] यजुर्वेद का कथन है कि हाथी हिमालय पर होते हैं और ये पाले जाते हैं।[३९] अथर्ववेद में हाथी की तेजस्विता का उल्लेख है। हाथी के समान तेजस्वी हों। हाथी पशुओं में श्रेष्ठ है। असुर हाथी पालते थे और उनका उपयोग करते थे।[४०] हाथी का उल्लेख होने पर भी सेना में हाथी के उपयोग का कहीं उल्लेख नहीं है। हाथी का युद्ध में उपयोग वैदिक काल के बाद प्रारम्भ हुआ है। सिकन्दर और राजा पोरुष के युद्ध में हाथी का उपयोग हुआ था। उस समय की एक मुद्रा में राजा पोरुष को हाथी पर आसीन दिखाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि सिकन्दर-पोरुष के युद्ध से पूर्व युद्ध में गज-सेना का उपयोग होने लगा था।

(ख) अश्व और अश्वारोही सेना — चारों वेदों में अश्व का सैकड़ों मन्त्रों में उल्लेख है और उसकी तीव्र गति की प्रशंसा है। अश्व को युद्ध के लिए उपयोगी बताया गया है। अश्वारोही के लिए 'सादिन् ' शब्द है। इस विषय पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है कि युद्धों में अश्व का उपयोग होता था या नहीं? कुछ विद्वान् वैदिक काल में अश्वारोही सेना के अस्तित्व का समर्थन नहीं करते हैं।

ऋग्वेद आदि के कतिपय मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि अश्व का युद्ध के लिए उपयोग होता था और अश्वारोही सेना थी। ऋग्वेद का कथन है कि अश्व युद्ध में शत्रुओं को नष्ट करता है।[४१] ओषधियों के लिए कहा गया है कि वे रोगों को इसी प्रकार जीत लेती हैं, जैसे अश्व युद्धों को।[४२] योद्धा के लिए कहा गया है कि वह अतिद्रुत गति से उछलते हुए घोड़ों से

---

३६. शुक्रनीति ४.७.१९ से २०

३७. मृगा इव हस्तिनः खादथा वना । ऋग्० १.६४.७

३८. याहि राजेवामवाँ इभेन । ऋग्० ४.४.१

३९. हिमवते हस्ती । यजु० २४.३०

४०. येन हस्ती वर्चसा संबभूव । अ० ३.२२.३
यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः । अ० ३.२२.४

४१. अत्यो न वाजी तरतीदरातीः । ऋग्० ९.१६.१५

४२. अश्वा इव सजित्वरीः, वीरुधः० । ऋग्० १०.९७.३ । यजु० १२.७७

युद्ध में विजयी होता है।[४३] एक मन्त्र में हंसों के तुल्य ही घोड़ों के पंक्तिबद्ध होकर गमन का वर्णन है।[४४] ऋग्वेद में अश्वसेना और पदाति सेना का संकेत करते हुए कहा गया है कि हम अश्वसेना से शत्रुओं की अश्वसेना को और अपने योद्धाओं से शत्रुओं के योद्धाओं को जीतें।[४५]

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और तैत्तिरीय संहिता में एक मन्त्र आया है, जिसमें स्पष्टरूप से सेना के तीन अंगों अर्थात् पदाति, अश्व और रथ का वर्णन है। इसमें कहा गया है कि हमारे सैनिकों का मनोबल ऊंचा हो, हमारे घोड़ों की गति उत्कृष्ट हो और हमारे रथ विजयी हों।[४६]

यजुर्वेद में अश्वारोही के लिए अश्वसाद शब्द आया है और अथर्ववेद में सादिन्।[४७] अथर्ववेद में अश्वारोही सेना का स्पष्ट निर्देश है। अथर्ववेद के दो सूक्तों में युद्ध का विस्तृत वर्णन है।[४८] इसमें सेना के अंगों का भी वर्णन है। (क) पदाति सेना के दो रूपों का वर्णन है :- १. कवची एवं अकवच, अर्थात् कवचधारी और कवचरहित। २. वर्मी और अवर्म। कवच और वर्म यद्यपि एक ही अर्थ बताते हैं - अंगरक्षक आवरण या आयुध। यजुर्वेद में इनका अन्तर बताया गया है कि - वर्म पूर्णतया लोहे का आवरण होता था और कवच चमड़े आदि का भी हो सकता था। (ख) रथी और अरथ - अर्थात् रथारोही और रथहीन। (ग) सादी और असाद - सादिन् अर्थात् अश्वारोही और असाद अर्थात् अश्वहीन। इस मंत्र से स्पष्ट होता है कि वेदों में सेना के तीन अंगों अर्थात् पदाति, अश्वारोही और रथारोही का वर्णन है।[४९]

ऋग्वेद में अश्वसेना के लिए 'अश्विय' शब्द आया है। इन्द्र शत्रुओं की अश्वसेना को

---

४३. शूरो नाज्म पतयद्भिरेवैः । ऋग्० १.१५८.३

४४. हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते .. अश्वाः । ऋग्० १.१६३.१०

४५. अर्वद्भिरग्ने अर्वतो नृभिर्नॄन्
वीरैर्वीरान् वनुयामा त्वोताः । ऋग्० १.७३.९

४६. उद्धर्षय मघवन् आयुधानि, उद् सत्वनां मामकानां मनांसि ।
उद् वृत्रहन् वाजिनां वाजिनानि, उद् रथानां जयतां यन्तु घोषाः ।
ऋग्० १०.१०३.१० । यजु० १७.४२ । साम० १८५८ । तै० सं० ४.६.४.४

४७. अरिष्ट्यै अश्वसादम् । यजु० ३०.१३ । सादिनः । अथर्व० ११.१०.२४

४८. अथर्व० ११. ९ और १०

४९. यश्च कवची यश्चाकवचः । अथर्व० ११.१०.२२
ये वर्मिणो येऽवर्माणः । अथर्व० ११.१०.२३
ये रथिनो ये अरथाः, असादा ये च सादिनः । अ० ११.१०.२४

जीतता है और उनका धन, गाय, हिरण्य आदि भी जीतता है।[५०] अतः यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वैदिक काल में अश्वसेना का युद्धों में उपयोग होता था।

(ग) पदाति या पैदल सेना — वेदों में पदाति या पैदल सेना के लिए पत्ति शब्द का प्रयोग है और इसके अध्यक्ष के लिए 'पत्तिपति' शब्द है। यजुर्वेद में पदाति सेना के अध्यक्ष के लिए संमानार्थ नमः (नमस्कार) कहा गया है।[५१] यजुर्वेद में पदाति सेना के कुछ विभागों का उल्लेख है। यथा - गण, व्रात, गृत्स आदि। इनके प्रमुख को गणपति, व्रातपति और गृत्सपति कहा गया है।[५२] गण व्रात आदि में सैनिकों की कितनी संख्या आदि होती थी, इसका कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है।

महाभारत और शुक्रनीति में पदाति सेना के विभिन्न अंगों का वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत के आदिपर्व में सेना के संगठनों का वर्णन है। पदाति सेना की सबसे छोटी टुकड़ी को 'पत्ति' नाम दिया गया है। इसमें १ हाथी, १ रथ, ३ अश्वारोही और ५ पैदल सैनिक होते थे। तीन पत्तियों के समूह को 'सेनामुख', ३ सेनामुखों का एक गुल्म और तीन गुल्मों का एक गण होता था।

३ गणों की १ वाहिनी, ३ वाहिनी की १ पृतना, ३ पृतना की १ चमू, ३ चमू की १ अनीकिनी और १० अनीकिनी की एक अक्षौहिणी सेना होती थी। इस प्रकार जहां पत्ति में केवल १ रथ, १ हाथी, ३ घोड़े और ५ पैदल होते थे, वे क्रमशः बढ़ते हुए अक्षौहिणी में २१,८७० गुना हो जाते हैं। अतः अक्षौहिणी में २१,८७० रथ, २१,८७० हाथी, ६५,६१० घोड़े और १,०९,३५० पैदल सैनिक होते थे।[५३]

वैदिक संहिताओं में पत्ति, गृत्स, व्रात, गण, वाहिनी, पृतना, चमू और अनीक शब्द सैन्य-व्यवस्था से संबद्ध मिलते हैं, परन्तु इनका क्या स्वरूप था, यह कहीं पर स्पष्ट नहीं किया गया है। महाभारत और शुक्रनीति के पत्ति आदि नामों से इनका कितना सामंजस्य है, यह कहना कठिन है। वेदों में अक्षौहिणी नाम का उल्लेख नहीं है। वेदों में सेना में हाथी का उल्लेख नहीं है, अतः हस्तिसेना के अभाव के कारण सेना का चतुरंग रूप न होकर त्रि-अंग स्वरूप ही मानना उचित है।

वेदों में पत्ति शब्द पदाति (पैदल) सेना के लिए आया है। यह स्थल-सेना के लिए

---

५०. समिन्द्रो गा अजयत् सं हिरण्या,
समश्विया मघवा यो ह पूर्वीः । ऋग्० ४.१७.११

५१. पत्तीनां पतये नमः । यजु० १६.१९

५२. नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च०, नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च०,
नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च० । यजु० १६.२५

५३. महाभारत, आदिपर्व, १. १९ से २२

भी सामान्य रूप में प्रयुक्त हुआ है। स्थल-सेनाध्यक्ष के लिए पत्ति-पति और गणपति शब्दों का प्रयोग यजुर्वेद में प्राप्त होता है। शिव को पत्तिपति और गणपति कहा गया है।[५४] यह गणपति ही परकाल में गण+ईश = गणेश हो गया है। गृत्स शब्द संभवतः सेनामुख शब्द के अर्थ में है। गण और व्रात के साथ इसका प्रयोग है।[५५] गृत्स का सामान्य अर्थ कुशल है। यहां पर यह 'युद्ध में कुशल' अर्थ का द्योतक है। इसी प्रकार व्रात शब्द समूह या संघ का बोधक है। यहां पर सैनिक -संघ का द्योतक है। इस प्रकार सेना की सबसे छोटी इकाई पत्ति, उससे बड़ी गृत्स, उससे बड़ी व्रात और उससे बड़ी इकाई गण होती थी, तदनन्तर वाहिनी आदि बड़ी इकाइयाँ होती थीं।

शुक्रनीति के अनुसार पदाति सेना के ये छोटे भेद किए गए हैं। ५ या ६ सैनिकों की टुकड़ी को 'पत्ति' और इसके मुखिया को 'पत्तिपाल'।३० पैदल सैनिकों की टुकड़ी को 'गुल्म' और इसके प्रमुख को 'गुल्मपति या गौल्मिक'। १०० सैनिकों के अधिकारी को 'शतानीक' कहते थे। इससे अधिक सैनिकों के अधिकारी को 'अनुशतिक'। १ सहस्र सैनिकों के अध्यक्ष को 'साहस्रिक' और १० हजार सैनिकों के अध्यक्ष को 'आयुतिक या महान् आयुतिक' कहते थे।[५६]

शतानीक आदि का कार्य होता था - व्यूहरचना आदि की शिक्षा देना। पहरा देने वालों की ड्यूटी लगाने वाले को 'सेनानी', पहरा बदलने वाले को 'पत्तिप' और पहरा देने वालों के काम के निरीक्षक को 'गौल्मिक या गुल्मप' कहते थे।[५७]

(घ) रथ और रथारोही सेना — वेदों मे रथसेना का बहुत महत्त्व वर्णित है। रथारोही को रथिन्, रथेष्ठ, रथेष्ठा, रथयावन् आदि कहा गया है। राष्ट्रीय प्रार्थना 'आ ब्रह्मन्॰' मंत्र में रथी को विजयी कहा गया है और क्षत्रिय को धनुर्धारी महारथी होने का निर्देश है।[५८] यजुर्वेद में रथसेना का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि बृहस्पति रथ से शत्रुओं को नष्ट करते हुए और सेनाओं को जीतते हुए सर्वत्र निर्बाध भ्रमण करे।[५९] इसी प्रकार ऋग्वेद में कहा गया है कि रथ में जुते हुए घोड़े शत्रुसेना को कुचल कर नष्ट करते हैं।[६०]

---

५४. पत्तीनां पतये नमः । नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च० । यजु० १६. १९ से २५
गणानां त्वा गणपतिं हवामहे । यजु० २३.१९

५५. यजु० १६.२५

५६. पञ्चानामथवा षण्णामधिपः पदगामिनाम् ।...
साहस्रिकस्तु संयोज्यस्तथा चायुतिको महान् ।। शुक्र० २.१३७-१३८

५७. शुक्रनीतिसार, अध्याय २ श्लोक १३९ से १४२

५८. राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् । जिष्णू रथेष्ठाः । यजु० २२.२२

५९. बृहस्पते परि दीया रथेन० । यजु० १७.३६

६०. अश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः । ऋग्० ६.७५.७

वेदों में रथ के निर्माण आदि के विषय में विस्तृत सामग्री प्राप्त होती है। रथ बनाने वाले को रथकार कहते थे। रथ का निर्माण कुशल कारीगरी का सूचक होता था, अतः उसे दक्षता की श्रेणी में रखा गया है। यजुर्वेद में रथकार को मेधावी कहा गया है।[६१] रथ आदि के निर्माण में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती थी, अतः तक्षन् (बढ़ई) के कार्य को धैर्य का कार्य कहा गया है।[६२] हस्तशिल्प को संमानजनक कार्य मानने के कारण यजुर्वेद में तक्षा (बढ़ई) और रथकार को नमस्कार कहा गया है।[६३]

युद्ध में योद्धा रथ पर बैठकर युद्ध करता था, अतः योद्धा को रथिन्, रथी, रथेष्ठ, रथेष्ठा आदि कहा गया है। युद्ध में रथ पर आयुध, खाद्यसामग्री आदि रखी जाती थी, अतः ऐसे रथ को रथवाहन नाम दिया गया है।[६४] रथ अपनी सुन्दरता आदि के लिए प्रसिद्ध थे। सुन्दर रथ को सुरथ कहते थे।[६५] कुछ रथ विशेष सुखदायी होते थे, उन्हें 'सुखं रथम्' या सुखद रथ कहा गया है।[६६] कुछ रथ सोने से मढ़े हुए और अति भव्य होते थे, उन्हें हिरण्यरथ कहा गया है।[६७]

वेदों में रथ के निर्माण के विषय में कहा गया है कि रथ में दो पहिये होते थे, इन्हें चक्र कहते थे।[६८] ऐसे भी रथ होते थे, जिनमें तीन पहिए होते थे। अश्विनीकुमारों के रथ में तीन चक्र थे। इसमें तीन बैठने की सीट थी और यह मन से भी अधिक तीव्र गति वाला था।[६९] सामान्यतया रथों में दो व्यक्ति बैठते थे - एक योद्धा और दूसरा सारथि। अतः उनमें दो सीट होती थी। अश्विनी कुमारों के रथ में तीन सीट थीं। दो अश्विनीकुमारों के लिए और एक सारथि के लिए।

रथ के चक्र के तीन भाग होते थे - १. नेमि या धुरी, रथचक्र की नाभि, पुट्ठी, २. अर या अरा , नाभि और परिधि को जोड़ने वाले लकड़ी के डंडे, ३. परिधि - चक्र का बाहरी घेरा। रथ का चक्र जिस कीली पर घूमता था, उसे अक्ष कहते थे। यह चक्र की नाभि में डाला जाता था। इसके आश्रय से ही चक्र घूमता था।

---

६१. मेधायै रथकारम् । यजु० ३०.६

६२. धैर्याय तक्षाणम् । यजु० ३०.६

६३. नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च । यजु० १६.२७

६४. रथवाहनं हविरस्य नाम० । ऋग्० ६.७५.८

६५. या सुरथा । ऋग्० १.२२.२

६६. सुखं रथम् । ऋग्० १.२०.३

६७. स नो हिरण्यरथम्० । ऋग्० १.३०.१६

६८. चक्रं रथस्य । ऋग्० १.३०.१९

६९. मनसो यो जवीयान् , त्रिबन्धुरो .. त्रिचक्रः । ऋग्०१.१८३.१

साधारणतया रथ में दो घोड़े जोते जाते थे।[७०] कुछ रथों में रासभ (खच्चर) भी जोते जाते थे। अश्विनीकुमारों के रथ में रासभों के जोतने का वर्णन है।[७१]

रथ चलाने वाले को सारथि कहते थे। चाबुक के लिए कशा शब्द है। सारथि कशा से घोड़ों को हांकता था। रास के लिए रश्मि और अभीशु शब्द हैं। सारथि रास को हाथ में पकड़ता था और उनके द्वारा घोड़ों को नियन्त्रित करता था।[७२]

रथ पर बैठकर युद्ध करने वाले कुशल योद्धा को रथी कहते थे।[७३] दक्षता के आधार पर रथी योद्धाओं को तीन श्रेणी में बांटा गया है - रथी, रथीतर, रथीतम। सामान्य को रथी, मध्यम को रथीतर और उत्तम को रथीतम। अतएव इन्द्र को रथीतम कहा गया है।[७४] रथीतम को ही महारथ या महारथी उपाधि दी जाती थी।[७५]

यजुर्वेद में आशुषेण और आशुरथ का भी उल्लेख है।[७६] आपातकालीन स्थिति में जिस सेना का उपयोग किया जाता था, उसे आशुसेना कहा जाता था। इसी प्रकार तुरन्त आवश्यकता पड़ने पर जिस रथ और रथारोही सेना को भेजा जाता था, उसे आशुरथ कहते थे। यह Rapid Action Force सद्यः सक्रिय सेना के रूप में प्रयोग के लिए होती थी।

६. नारी-सेना

वेदों में कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वैदिक काल में नारी-सेना का अस्तित्व था और उस समय कुछ स्त्रियाँ युद्धों में भी भाग लेती थीं। ऋग्वेद में वर्णन है कि अनार्य नमुचि राजा ने इन्द्र के विरुद्ध युद्ध में नारी-सेना को आयुधों से सुसज्जित करके भेजा था।[७७] इससे ज्ञात होता है कि अनार्य राजा युद्धों में उपयोग के लिए स्त्रियों को सेना में भर्ती करते थे। मंत्र में आगे कहा गया है कि इन्द्र ने विचार किया कि यह अबलाओं की सेना मेरा क्या बिगाड़ कर सकेगी? नमुचि ने इस आशा से स्त्रियों की सेना को आगे किया था कि इन्द्र स्त्रियों को देखकर हथियार नहीं चलाएगा और हमारी विजय हो जाएगी। परन्तु

---

७०. योजा न्विन्द्र ते हरी । ऋग्० १.८२. १ से ५

७१. युञ्जाथां रासभं रथे । ऋग्० ८.८५.७

७२. सुषारथिरश्वानिव .. अभीशुभिर्वाजिन इव । यजु० ३४.६

७३. अद्भुतस्य रथीः । ऋग्० १.७७.३

७४. रथीतमं रथीनाम् । यजु० १५.६१

७५. शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् । यजु० २२.२२

७६. नम आशुषेणाय चाशुरथाय च । यजु० १६.३४

७७. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे ।
किं मा करन् अबला अस्य सेनाः । ऋग्० ५.३०.९

इन्द्र ने अपनी चतुरता दिखाते हुए स्त्री सेना की दो सुन्दर नायिकाओं को बन्दी बना लिया, जिससे स्त्रीसेना हतप्रभ हो गई और इन्द्र ने नमुचि को जीत लिया। ऋग्वेद में एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि इन्द्र ने यह नियम बना रखा था कि जो पुरुष स्त्रियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए पुरुषों को भेजता है, उसे युद्ध नहीं माना जाएगा और उन योद्धाओं की सम्पत्ति छीन ली जाएगी तथा उसे दूसरो में बांट दिया जाएगा।[७८]

ऋग्वेद आदि में कई अन्य ऐसे प्रसंग आए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि अनार्य ही नहीं, अपितु आर्यों की भी सेना में नारी भाग लेती थीं और सेनापति तक का पद संभालती थीं। स्वयं इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी के लिए कहा गया है कि वह सेना का नेतृत्व करते हुए आगे चलती थी। वह विजयिनी होकर लौटती थी। शत्रु उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाते थे।[७९] इन्द्राणी के लिए कहा गया है कि वह धनुष धारण करके शत्रुसेना को काटती हुई आगे बढ़ती थी।[८०]

यजुर्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि स्त्री सहस्रवीर्या है अर्थात् उसमें अनन्त सामर्थ्य है। वह अजेय है और शत्रुसेना को जीतने वाली है।[८१] इन्द्राणी के लिए कहा गया है कि वह शत्रुओं का वध करने वाली है और सदा विजय प्राप्त करती है।[८२]

तैत्तिरीय संहिता में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि इन्द्राणी सेना की देवता है। वह सेना में प्राण फूंकती है।[८३] इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्राणी को देवता के रूप में प्रतिष्ठित करने पर निर्बल सेना में भी स्फूर्ति आ जाती है और सेना विजयिनी हो जाती है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सेना का नेतृत्व नारियों को भी दिया जाता था।

ऋग्वेद में एक प्रसंग आता है कि राजा खेल की पत्नी विश्पला की टांग युद्ध में कट गई थी और अश्विनीकुमारों ने उसकी कटी टांग के स्थान पर लोहे की हल्की टांग लगा दी थी, जिससे वह फिर चलने योग्य हो गई।[८४] इससे युद्ध में नारियों के भाग लेने और शल्यक्रिया द्वारा अंग-प्रत्यर्पण भी सिद्ध होता है।

---

७८. स्त्रीभियों अत्र वृषणं पृतन्याद्
अयुद्धो अस्य वि भजानि वेदः ।। ऋग्० १०.२७.१०

७९. इन्द्राण्येतु प्रथमाऽजीताऽमुषिता पुरः । अथर्व० १.२७.४

८०. विषूच्येतु कृन्तती, पिनाकमिव बिभ्रती । अथर्व० १.२७.२

८१. अषाढासि सहमाना सहस्वाराती:
सहस्व पृतनायतः । सहस्रवीर्यासि० । यजु० १३.२६

८२. असपत्ना सपत्नघ्नी, जयन्त्यभिभूवरी । ऋग्० १०.१५९.५

८३. इन्द्राणी वै सेनायै देवता । सैवास्य सेनां सं श्यति । तैत्ति० २.२.८.१

८४. सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै
धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम् । ऋग्० १.११६.१५

७. सेना, सैनिक और अधिकारी

वेदों में सेना को उसके कार्यों के अनुसार अनेक भागों में बांटा गया है। यजुर्वेद में सेना के ३ भागों का उल्लेख है - १. अभीत्वरी - सामने से आक्रमण करने वाली, २. आव्याधिनी - भाले आदि आयुधों से प्रहार करने वाली, ३. उगणा - उत्कृष्ट गण वाली। वह प्रशिक्षित सेना जो अचानक हमला करती है।[१] यजुर्वेद में अन्य सेना के इन भागों का उल्लेख है। १. विविध्यन्ती - प्रक्षेपास्त्रों को फेंकने वाली सेना।[२] २. तृंहती - मारक सेना। संहारक अस्त्रों से युक्त सेना।[३] ३. धावत् - दौड़ने वाली सेना। इसका उपयोग दूरस्थ स्थानों तक समाचार पहुंचाने में किया जाता था। इस सेना का ही एक भाग 'कृत्स्नायतया धावत् था। जिसका काम शत्रुओं पर धनुष आदि लेकर दौड़ते हुए प्रहार करना था।[४]

आव्याधिनी आदि सेनाओं के सैनिकों को व्याधिन्, निव्याधिन्, धावत् आदि नाम दिए गए हैं।[५] आव्याधिनी आदि के अध्यक्षों को आव्याधिनीपति आदि नाम दिए हैं।[६] इसी प्रकार गण, व्रात और गृत्स नामक सेना की टुकड़ियों के अध्यक्षों को गणपति, व्रातपति और गृत्सपति नाम दिए गए हैं।[७] पदाति सेना के अध्यक्ष के लिए पत्तिपति शब्द है।[८] संपूर्ण सेना के अध्यक्ष के लिए सेनानी शब्द है।[९] यजुर्वेद में सेनानी के लिए 'सेनानि' शब्द भी है।[१०]

सेना की छोटी टुकड़ियों के लिए भी वेद में शब्द आए हैं। १. शतिन् - सौ सैनिकों की टुकड़ी, २. सहस्रिन् - एक हजार सैनिकों की टुकड़ी। इनके अध्यक्षों को 'शतिनस्पति' और 'सहस्रिणस्पतिः' कहा गया है।[११] यजुर्वेद में सेना के कुछ अधिकारियों के लिए आशापाल, शतानीक आदि शब्द आए हैं।[१२]

(ख) सेना, सैनिक आदि

१. याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत । यजु० ११.७७
२. नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च । यजु० १६.२४
३. तृंहतीभ्यश्च वो नमः । यजु० १६.२४
४. नमः कृत्स्नायतया धावते । यजु० १६. २०
५. व्याधिने । निव्याधिने । यजु० १६.१८, २०
६. आव्याधिनीनां पतये नमः । यजु० १६.२०
७. गणपतिभ्यः, व्रातपतिभ्यः, गृत्सपतिभ्यः । यजु० १६.२५
८. पत्तीनां पतये नमः । यजु० १६.१९
९. यः सेनानीः । ऋग्०७.२०.५
१०. नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च । यजु० १६.२६
११. सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः । यजु० १५.२२
१२. आशापालाः । यजु० २२.१९ । शतानीकाय । यजु० ३४.५२

यजुर्वेद में अस्त्र-शस्त्रों के संग्रहकर्ताको 'संग्रहीता' नाम दिया गया है। वह Store Keeper का काम करता था। वह युद्ध में बिखरे हुए शस्त्रास्त्रों को एकत्र कर स्टोर में रखता था।[१३]

युद्ध करने वाले सैनिकों को योधः और सेन्यः कहते थे।[१४] अधिक दक्ष योद्धा को 'योधीयान्' कहते थे।[१५] सैनिकों को उनके कार्य के अनुसार तीन भागों में विभक्त किया गया है - शूर, भीरु और धावत् या विमुख।[१६] युद्ध में शक्ति का प्रदर्शन करने वाले और मुँह न मोड़ने वाले को शूर, कायर को भीरु और युद्ध से भाग जाने वाले को धावत् या विमुख नाम दिया गया है। इसी प्रकार युद्ध करने वाले योद्धाओं के भी तीन भेद किए गए हैं :- प्रतीचः, अनूचः और पराचः।[१७] प्रतीचः (प्रत्यक्) उन योद्धाओं को कहा जाता था, जो सामने होकर लड़ते थे। शत्रुओं का पीछा करने वालों को अनूचः (अन्वक्) और युद्ध छोड़कर भाग जाने वालों को पराचः (पराक्) कहते थे।

चारों वेदों में एक मन्त्र आया है, जिसमें यह संकेत है कि सेना के प्रस्थान के समय सेना के आगे एक विशेष अधिकारी चलता था और इसी प्रकार सेना के पीछे भी एक अधिकारी होता था। सेनापति के दाहिने और बाएं भी एक एक अधिकारी रहते थे। इन्द्र के लिए कहा गया है कि वह देवसेना का सेनापति है। बृहस्पति दाहिनी ओर चलता है। सोम देवता अग्रभाग में रहता है और मरुद्गण सबसे आगे चलते हैं।[१८]

(१) सेनापति — वेदों में सेनापति के कतिपय गुण-धर्मों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद का 'आशुः शिशानो०' नामक युद्धसूक्त चारों वेदों में आया है।[१९] इसमें १३ मंत्र हैं। इसमें सेनापति और सैनिकों के कर्तव्यों आदि का विस्तृत वर्णन है। अन्यत्र भी सेनापति के कर्तव्यों का निर्देश है। सेनापति के ये गुण और कर्म विशेषरूप से बताए गए हैं :—

---

१३. संग्रहीतृभ्यश्च वो नमः । यजु० १६.२६

१४. सेन्योऽसि । ऋग्० १.८१.२ । योधो न शत्रून् । ऋग्० १.१४३.५

१५. योधीयान् । ऋग्० १.१७३.५

१६. यः शूरेभिः, भीरुभिः, धावद्भिः । ऋग्० १.१०१.६ । विमुखान् । काठक सं० २०.८

१७. जहि प्रतीचो अनूचः पराचः । ऋग्० ३.३०.६

१८. इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानाम् .. जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ।। ऋग्० १०.१०३.८
यजु० १७.४० । साम० १८५६ । अथर्व० १९.१३.९

१९. ऋग्वेद १०.१०३.१ से १३ । यजु० १७. ३३ से ४९ । साम० मंत्र १८४९ से १८७३ । अथर्व० १९.१३. १ से ११

सेनापति अपने कार्यों में बहुत चुस्त हो, महाबली हो, शत्रुसेना को नष्ट करने की शक्ति रखता हो, शस्त्रास्त्रों को चलाने में निपुण हो, अपनी और शत्रुसेना की शक्ति को ठीक से जानता हो, भयंकर हो, शत्रुओं पर दया न करे, शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित हो, सेना को सुसंगठित रखने की योग्यता हो, शीघ्र निर्णय की क्षमता रखता हो, श्येनवत् आक्रामक हो, राष्ट्रहित का रक्षक हो, सैनिकों को प्रोत्साहित करे और उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त करे, महाज्ञानी और नीतिनिपुण हो। वह शत्रुओं को मारता, कुचलता हुआ आगे बढ़े और शत्रुसेना पर विजय प्राप्त करे।[२०] युद्धभूमि में आगे रहे और शत्रुसेना को जीते।[२१]

सेनापति वज्रधारी, प्रक्षेपास्त्रों से युक्त हो, शत्रुओं और पापियों का नाशक हो और अत्यन्त प्रभावशाली हो।[२२] सेनापति की दक्षता इस बात में है कि वह सब ओर अपना ध्यान रखे, अतः उसे 'सहस्रचेतस्' कहा गया है। वह नीतिनिपुण हो और युद्ध में विजय के लिए सैकड़ों उपाय जानता हो, अतः उसे 'शतनीथः' कहा गया है। वह शस्त्रास्त्र विद्या में दक्ष हो, अतः उसे 'ऋभ्वन्' कहा गया है। वह समस्त जनता का हितकारी और हितचिन्तक हो, अतः उसे 'पाञ्चजन्यः' कहा है। सेना में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अतिशूद्र सभी प्रकार के लोग होते थे, अतः उसके लिए आवश्यक था कि वह पंचजनों का हितकारी और शुभेच्छु हो।[२३]

वेदों में सेनापति के लिए सेनानी शब्द है। सेनापति सेना के सबसे बड़े समूह का नेता होता था।[२४] उसी के नेतृत्व में युद्ध होता था। इन्द्र को देवसेना का सेनापति कहा गया है और उसे सैकड़ों सेनाओं का विजेता बताया गया है।[२५] अथर्ववेद के दो सूक्तों में युद्ध का वर्णन किया गया है।[२६] इसमें देवसेना के सेनापति के रूप में इन्द्र के अतिरिक्त मेदि का भी उल्लेख है।[२७] इसी सूक्त में अर्बुदि और न्यर्बुदि दोनों का देवसेना के सेनापति के रूप में वर्णन है। इन्हें सेना का ईशान (अध्यक्ष, स्वामी) भी कहा गया है।[२८] नारी-सेना

---

२०. रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून् । ऋग्० १०.८४.३

२१. प्र सेनानीः शूरो अग्रे .. एति । ऋग्० ९.९६.१
पृतनासु सासहिः । ऋग्० १.१०२.९

२२. स वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः । ऋग्० १.१००.१२

२३. सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा ..... पांचजन्यः । ऋग्० १.१००.१२

२४. यो वः सेनानीर्महतो गणस्य । ऋग्० १०.३४.१२

२५. शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः । ऋग्० १०.१०३.१

२६. अथर्व० ११ सूक्त ९ और १०

२७. ताभ्याम् इन्द्रमेदिभ्यां .. जितम् । अथर्व० ११.९.४

२८. अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः । अथर्व० ११.९.४

के सेनापति के रूप में इन्द्राणी का उल्लेख है और उसे अजेय और अधर्षणीय कहा गया है।[२९]

सेनापति के विषय में कौटिल्य और शुक्र — सेनापति के गुण और कार्यों के विषय में कौटिल्य और शुक्र ने विस्तृत प्रकाश डाला है। सेनापति के विषय में कौटिल्य का कथन है कि वह हर प्रकार के युद्ध करने, हथियार चलाने और विविध शास्त्रों में पारंगत होना चाहिए। हाथी, घोड़े और रथ चलाने की पूरी योग्यता रखता हो और चतुरंगिणी सेना के कार्य और प्रयोग का ज्ञाता हो। इसके अतिरिक्त वह अपनी सेना की शक्ति, युद्धकाल, शत्रुसेना की शक्ति, व्यूहरचना और शत्रुव्यूह तोड़ना, दुर्ग तोड़ना, सेना का संचालन, उचित समय पर युद्ध के लिए प्रस्थान करना आदि कार्यों का ज्ञाता हो।[३०]

शुक्राचार्य का कथन है कि राजा इन गुणों से युक्त व्यक्ति को सेना का अध्यक्ष बनावे :- जो नीतिशास्त्र, शस्त्र-अस्त्र-संचालन, व्यूहरचना, राजनीतिशास्त्र आदि में पण्डित हो, युवा, शूरवीर, हृष्ट-पुष्ट, क्षात्रधर्म में तत्पर, स्वामिभक्त और शत्रु-संहारक हो। किसी भी जाति का व्यक्ति, अपनी योग्यता के आधार पर, सेना का अध्यक्ष हो सकता है। वह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ या वर्णसंकर किसी भी जाति का हो सकता है। ये ही गुण सैनिकों में भी होने चाहिएं।[३१] शुक्राचार्य ने एक बात पर विशेष बल दिया है कि सेनापति के पद पर शूरवीर की ही नियुक्ति होनी चाहिए।[३२]

कौटिल्य ने सेना में चारों वर्णों के शूरवीर सैनिकों की भर्ती का समर्थन किया है। उसने वैश्य सेना और शूद्र सेना का भी उल्लेख किया है। कौटिल्य ने इस विषय पर विचार किया है कि चारों वर्णों की पृथक्-पृथक् सेना होने पर किस सेना को श्रेष्ठ समझा जाना चाहिए। उसने प्राचीन आचार्यों का मत दिया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन

---

२९. इन्द्राण्येतु प्रथमाऽजीताऽमुषिता पुरः । अथर्व० १.२७.४

३०. तदेवं सेनापतिः सर्वयुद्ध-प्रहरण-विद्याविनीतो हस्त्यश्व-रथ-चर्या-
संघुष्टः चतुरङ्गस्य बलस्यानुष्ठानाधिष्ठानं विद्यात् ।
स्वभूमिं युद्धकालं प्रत्यनीकम् अभिन्नभेदनं भिन्नसंधानं संहतभेदनं
भिन्नवधं दुर्गवधं यात्राकालं च पश्येत् । कौटिल्य अर्थ० पृ० २९३-२९४

३१. नीतिशास्त्रास्त्र-व्यूहादि-नीति-विद्या-विशारदाः ।
अबाला मध्यवयसः शूरा दान्ता दृढाङ्गकाः ।।
स्वधर्मनिरता नित्यं स्वामिभक्ता रिपुद्विषः ।
शूद्रा वा क्षत्रिया वैश्या म्लेच्छाः संकरसंभवाः ।
सेनाधिपाः सैनिकाश्च कार्या राज्ञा जयार्थिना ।।
शुक्रनीतिसार अ० २. १३५-१३६

३२. सेनापतिः शूर एव योज्यः सर्वासु जातिषु ।। शुक्र० २.४१३

चारों वर्णों की सेनाओं में बाद वाले की अपेक्षा पूर्व-पूर्व सेना अधिक श्रेष्ठ है। इसके विपरीत आचार्य कौटिल्य ने अपना मत दिया है कि शत्रुपक्ष ब्राह्मणसेना को प्रणाम आदि के द्वारा अपने वश में कर सकता है, अतः युद्धविद्या में निपुण क्षत्रिय सेना को सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। यदि वैश्यसेना और शूद्रसेना में वीरपुरुष अधिक हों तो वैश्य सेना या शूद्रसेना को श्रेष्ठ समझना चाहिए।[३३]

(२) पदाति-सेनाध्यक्ष — कौटिल्य ने पदाति सेना के अध्यक्ष को 'पत्त्यध्यक्ष' कहा है। इसका कार्य बताया है कि वह शस्त्रास्त्र विद्या का पारंगत हो और युद्ध की प्रारम्भिक कार्यव्यवस्था को ठीक जानता हो। इसके साथ ही वह सेना के ६ विभागों मौलबल आदि के सामर्थ्य और असामर्थ्य को ठीक जानता हो। वह जंगल, तराई, मोर्चाबन्दी, छल-कपट, खाई, आकाश-युद्ध आदि सभी प्रकार के युद्धों को जानने वाला हो।[३४]

८. सेना के ६ भेद

कौटिल्य ने कार्यदक्षता, वेतन आदि के आधार पर सेना के ६ भेद किए हैं :- मौल, भृतक, श्रेणी, मित्र, अमित्र और अटवी बल। मौल सेना वह होती थी, जो स्थायी रूप से नियुक्त एवं वंशपरंपरागत होती थी। राजधानी की रक्षा आदि इनका कार्य होता था। यह नियमित सेना होती थी। वंशपरंपरागत होने के कारण यह राजा की स्वामिभक्त सेना होती थी। मूलाद् अगतं मौलम् , मूल अर्थात् वंशपरंपरा से आगत सेना। भृतक सेना वेतनभोगी सेना होती थी। इसको राज्य से वेतन मिलता था। यह अपने या अन्य राज्यों में भर्ती की हुई सेना होती थी। श्रेणी-बल — यह विभिन्न संघों से संबद्ध सेना होती थी। इसकी नियुक्ति विभिन्न प्रदेशों में होती थी। मित्र-बल — मित्र राजाओं की सेना थी। अमित्र- बल — शत्रुराजाओं की सेना थी। अटवी-बल — जंगली कोल, भील आदि जातियों की सेना थी।[३५] कौटिल्य ने इन ६ भेदों के अतिरिक्त एक सातवां भेद 'औत्साहिक बल' भी दिया है। यह एक प्रकार से स्वयंसेवी सेना (Volunteer corps, वालन्टियर कोर) होती थी, जो देशरक्षा

---

३३. नेति कौटिल्यः । प्रणिपातेन ब्राह्मणबलं परोऽभिहारयेत् । प्रहरणविद्याविनीतं तु क्षत्रियबलं श्रेयः, बहुलसारं वा वैश्य-शूद्रबलमिति । कौटिल्य, अर्थ० पृ० ७३६-७३७

३४. स पत्त्यध्यक्षः मौलभृत-श्रेणि-मित्रामित्राटवी-बलानां सारफल्गुतां विद्यात् । निम्न-स्थल-प्रकाश-कूट-खनकाकाश-दिवारात्रि-युद्ध-व्यायामं च विद्यात् । कौटिल्य, अर्थ० पृ० २९३

३५. मौल-भृतक-श्रेणी-मित्रामित्राटवी-बलानां समुद्दान-कालाः । कौटिल्य, अर्थ० पृ० ७३०

के लिए नियुक्त की जाती थी।[३६] चाणक्य ने इन सात प्रकार की सेनाओं में मौल सेना को सर्वोत्कृष्ट माना है, क्योंकि यह वंश-परंपरागत होने के कारण सबसे अधिक स्वामिभक्त होती थी।[३७] चाणक्य ने इन ७ प्रकार की सेनाओं का कब कहाँ उपयोग करना चाहिए, इसका विस्तृत विवेचन भी किया है।[३८]

शुक्राचार्य ने अनेक वर्षों से वृत्ति लेकर पास में रहने वाली वंशपरंपरागत सेना को मौल और तत्काल भर्ती की हुई सेना को 'साद्यस्क' नाम दिया है। इसमें भृतक के लिए साद्यस्क शब्द है।[३९] सद्यः (तुरन्त) से 'साद्यस्क शब्द बना है, जिसका अर्थ है -तुरन्त भर्ती की गई सेना।

९. सेना के आठ भेद

महाभारत में सेना को चतुरंग बल (रथ, हाथी, अश्व, पदाति) के स्थान पर अष्टांग बल भी कहा गया है और इसमें चार अन्य भेद भी संमिलित किए हैं। ये ४ भेद हैं - नौ या नौ-सेना, विष्टि, देशिक और चर।[४०] नौसेना नौका या जहाज (पोत) पर चढ़कर युद्ध करती थी। विष्टि-सेना श्रमिकों की सेना होती थी, जो युद्ध का समान आदि ढोने के लिए होती थी। कौटिल्य ने विष्टि का कार्य बताया है — सैनिक-शिविर बनाना, सड़क बनाना, पुल घाट आदि बनाना, युद्ध की मशीनें, शस्त्र - अस्त्र, कवच आदि ढोना, शस्त्रादि को दूसरी जगह ले जाना, घायल सैनिकों आदि को दूसरे स्थान पर ले जाना आदि।[४१]

देशिक शब्द के अर्थ के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ सैनिकों को प्रोत्साहित करने वाले उपदेष्टा या गायक करते हैं। ये सैनिकों का मनोरंजन करते थे और उन्हें युद्धार्थ प्रोत्साहित करते थे। इसका दूसरा अर्थ है - मार्गदर्शक। कौटिल्य ने मार्गदर्शक के रूप में अटवी बल या जंगली सेना का उपयोग बताया है। मार्गदर्शक सेना अग्रगामी

---

३६. सैन्यम् अनेकम् अनेकजातीयस्थम् .. तदौत्साहिकम् ।
कौटिल्य अर्थ० पृ० ७३४

३७. मौलबलं भृतबलात् श्रेयः । कौ० अर्थ० पृ० ७३५

३८. कौ० अर्थ० पृ० ७३० से ७३८

३९. मौलं बह्वब्दानुबन्धि साद्यस्कं यत् तदन्यथा । शुक्र० ४.७.१०

४०. रथा नागा हयाश्चैव, पादाश्चैव हि पाण्डव ।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव, देशिका इति चाष्टमम् ।।
महा० शान्ति० ५९.४१

४१. शिविर-मार्ग-सेतु-कूप-तीर्थ-शोधन-कर्म यन्त्रायुधावरणोपकरण ...
विष्टिकर्माणि । कौ० अर्थ० पृ० ८०१

पार्टी (Advance Party) के रूप में सेना के आगे चलकर वन, पर्वत आदि के मार्गों का ठीक-ठीक पता लगाती थी।

चर और चार सेना के दो रूप होते हैं। एक गुप्तचर व्यवस्था और दूसरी चार या दूत - व्यवस्था। गुप्तचर विभाग अपने देश के लिए होता था। यह देश में जासूसी कार्य करता था, सभी छल-कपट करने वालों का पता लगाता था और शत्रु के गुप्तचरों की जानकारी प्राप्त करता था। दूत-व्यवस्था परराष्ट्रों से संपर्क के लिए होती थी।

कौटिल्य ने स्थल और जल सेना के अतिरिक्त आकाश में युद्ध करने वाले सैनिकों को 'आकाशयोधिन्' कहा है।[४२] ये अस्त्र और प्रक्षेपास्त्रों के द्वारा आकाश में युद्ध करते थे। इसका विशेष विवरण अप्राप्य है।

१०. युद्ध-कार्य

युद्ध की परिभाषा - शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार क्षत्रियों द्वारा अपनी शक्ति का प्रदर्शन ही युद्ध है।[४३] युद्ध में क्षत्रिय अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है। युद्ध में वीर पुरुष अपनी वीरता और शौर्य के प्रदर्शन के द्वारा अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करता है। शुक्राचार्य ने युद्ध की परिभाषा दी है कि जहाँ आपस में शत्रुभाव रखते हुए दो पक्षों का अस्त्र-शस्त्र आदि के द्वारा अपनी विजय की कामना से संघर्ष होता है, उसे युद्ध कहते हैं।[४४]

११. युद्ध के प्रकार

शुक्राचार्य ने युद्ध को चार भागों में विभक्त किया है - उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और अधम। मान्त्रिक या मन्त्रों द्वारा प्रयुक्त दिव्य अस्त्रों से होने वाले युद्ध को उत्तम, नालिक या नालिक अस्त्रों अर्थात् तोप, बन्दूक आदि से होने वाले युद्ध को मध्यम, शस्त्रों अर्थात् तलवार, भाला आदि से होने वाले युद्ध को कनिष्ठ तथा बाहु से होने वाले युद्ध को अधम बंताया है।[४५] बाहुयुद्ध के ८ भेद बताते हुए कुश्ती, मुष्टियुद्ध (Boxing) आदि का वर्णन किया

---

४२. शस्त्रेणैव - आकाशयोधिनः । कौ० अर्थ० पृ० ६१६

४३. युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यम् । शत० १३.१.५.६
युद्धं वै राजन्यस्य । तैत्ति० ३.९.१४.४

४४. आबिभ्रतोः शत्रुभावम् उभयोः संयतात्मनोः ।
अस्त्राद्यैः स्वार्थसिद्ध्यर्थं व्यापारो युद्धमुच्यते । शुक्र० ४.७.२०८

४५. उत्तमं मान्त्रिकास्त्रेण नालिकास्त्रेण मध्यमम् ।
शस्त्रैः कनिष्ठं युद्धं तु बाहुयुद्धं ततोऽधमम् । शुक्र० ४.७. ३१९

है।[४६] साथ ही यह भी वर्णन किया है कि युद्ध के समय सेना किस प्रकार की स्थिति में रहे। नालिक अस्त्र (तोप, बन्दूक आदि) वाली सेना को सबसे आगे रखे। उसके पीछे पैदल सेना को रखे। हाथी और घोड़ों की सेना को दोनों ओर बगल मे रखे।[४७] शुक्राचार्य ने शत्रु को नष्ट करने के लिए धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध (छल युद्ध) दोनों का आश्रय लेने का विचार प्रकट किया है।[४७(क)] युद्ध के विषय में बताया है कि हाथी पर सवार हाथी वालों से, घुड़सवार घुड़सवारों से, रथी रथवालों से और पैदल सैनिक पैदल सैनिकों से युद्ध करें।[४८]

वेदों में मन्त्रयुद्ध और शस्त्रास्त्रों से युद्ध का वर्णन मिलता है। वेदों में अस्त्र और शस्त्र दोनों के लिए आयुध शब्द का प्रयोग है। आयुधधारी सैनिक के लिए आयुधिन् और स्वायुध शब्द आए हैं।[४९] मंत्रशक्ति से प्रयुक्त प्रक्षेपास्त्रों के लिए ब्रह्म और ब्रह्मसंशित शब्दों का प्रयोग हुआ है।[५०] वेदों में मान्त्रिक या मन्त्रशक्ति द्वारा प्रयुक्त दिव्य अस्त्रों में आग्नेय अस्त्र, वायव्य अस्त्र, संमोहन अस्त्र और तामस अस्त्रों का उल्लेख हुआ है।[५१]

अथर्ववेद में मंत्रशक्ति वाले अस्त्रों में ब्रह्मास्त्र का भी उल्लेख है। साथ ही कुछ ऐसे अस्त्रों का भी उल्लेख है जो योगबल या तपोबल से संबद्ध थे। ब्रह्मास्त्र को ब्रह्म-हेति और योग-शक्ति वाले अस्त्र को 'तपो-हेति' कहा है।[५२] शत्रुओं को भयभीत करने के लिए धूमास्त्र और तामस अस्त्र का प्रयोग होता था।[५३] यह धूमास्त्र Tear Gas के तुल्य प्रतीत होता है। इसके प्रयोग से चारों ओर धुआँ फैल जाता था और शत्रुओं का दम फूलने लगता था। अतः वे भयभीत होकर इधर-उधर भागते थे। इसके साथ ही छोटे बम या पटाखे के तुल्य आयुध का भी प्रयोग होता था। इससे भयंकर शब्द होता था, जिससे कान फटने लगते थे और

---

४६. मालूराकारया मुष्ट्या कपोले दृढताडनम् । ...
छलेन युद्धे भ्रमणं नियुद्धं स्मृतमष्टधा । शुक्र० ४.७.३२४ - ३२५

४७. नालास्त्राणि पुरस्कृत्य, लघूनि च महान्ति च ।
तत्पृष्ठगांश्च पादातान् , गजाश्वान् पार्श्वयोः स्थितान् ।।
कृत्वा युद्धं प्रारभेत । शुक्र० ४.७. ३२७

४७. (क) शुक्र० ४.७.३३५ ।

४८. शुक्र० ४.७. ३३९

४९. आयुधिने च नमः स्वायुधाय च । यजु० १६.३६

५०. अस्माकं ब्रह्म पृतनासु सह्याः । ऋग्० १.१५२.७
शरव्ये ब्रह्मसंशिते । ऋग्० ६.७५.१६
क्षिणोमि ब्रह्मणाऽमित्रान् । यजु० ११.८२

५१. देखो, लेखककृत अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ४७६

५२. ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते । अ० ५.६.९

५३. धूममग्निं परादृश्यामित्रा दधतां भयम् । अ० ८.८.२

श्रवणशक्ति नष्ट होती थी। इसे 'कृधुकर्णी' नाम दिया गया है।[५४] इसी प्रसंग में बारूद वाली रस्सी को जलाकर शत्रुसेना को दुर्गन्ध से व्याकुल करने का भी उल्लेख है। बारूद वाली रस्सी को 'पूतिरज्जु' कहा गया है। यह जलने के साथ ही भयंकर शब्द और बदबू करती थी।[५५]

प्रक्षेपास्त्रों के लिए 'मेनि' शब्द का प्रयोग हुआ है। कुछ प्रक्षेपास्त्र अत्यन्त घातक होते थे। इनसे एक बार में ही सैकड़ों शत्रुओं का नाश हो जाता था।[५६]

अत्यन्त तीक्ष्ण और भयंकर प्रक्षेपास्त्रों में वज्र की गणना है। यह इन्द्र का प्रमुख अस्त्र था। यह वृत्र असुर के पास भी था। वज्र पक्के लोहे का होता था। यह सौ कोण वाला और सहस्र नोक वाला भी होता था। सौ कोण के लिए 'शताश्रि' शब्द है और सहस्र नोक के लिए 'सहस्रभृष्टि' शब्द है।[५७] वज्र बहुत लंबा भी होता था। उसमें सौ गांठें तक होती थीं।[५८] असुरों के पास भी वज्र थे। वृत्र के वज्र के लिए 'अशनि' शब्द आया है। वज्र की काट भी वज्र ही था। वृत्र के वज्र को इन्द्र ने अपने वज्र से काटा।[५९]

युद्ध में योद्धा धनुष-बाण से प्रहार करते थे। असि, खड्ग, परशु आदि का प्रयोग होता था। बाहुयुद्ध और मुष्टियुद्ध (Boxing) का अनेक मंत्रों में वर्णन है। बाहु-योद्धा या बाहुबली के लिए 'बाहुजूत' शब्द है। मुष्टि-योद्धा के लिए मुष्टिहन् शब्द है।[६०] मुष्टियुद्ध में शत्रु का वध भी किया जाता था।[६१] तीक्ष्ण धार वाले चक्र से भी शत्रुओं को नष्ट किया जाता था।[६२]

सामान्य नियम यह था कि पदाति पदाति से, अश्वारोही अश्वारोही से, रथी रथी से युद्ध करते थे।[६३] युद्ध सायंकाल तक चलता था और सूर्यास्त होने पर रोक दिया जाता था। योद्धा अपने-अपने स्थानों पर जाते थे।[६४]

---

५४. धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु । अ० ११.१०.७
५५. पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् । अ० ८.८.२
५६. मेनिः शतवधा हि सा । अ० १२.५.१६
५७. वज्रं सहस्रभृष्टिं ववृतत् - शताश्रिम् । ऋग्० ६.१७.१०
५८. वज्रेण शतपर्वणा । ऋग्० १.८०.६ । ८.६.६.
५९. यद् वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः । ऋग्० १.८०.१३
६०. युष्मदेति मुष्टिहा बाहुजूतः । ऋग्० ५.५८.४
६१. नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै । अ० २०.७०.१.८
६२. नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् । अ० २०.२१.९
६३. नृभिर्नृन् वीरैर्वीरान् नीडयासे जयाजीन् । ऋग्० ६.३५.२
६४. समाववर्ति विष्ठितो जिगीषुः । ऋग्०२.३८.६

ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णन है कि जो योद्धा युद्ध करना हुआ मरता है, उसे वीरगति प्राप्त होती है। वह अनन्त पुण्य का अधिकारी होता है। यज्ञ में हजारों की दक्षिणा देने वाले यजमान को जो पुण्यलाभ होता है, वही वीरगति प्राप्त योद्धा को भी प्राप्त होता है।[६५]

युद्ध छोटे और बड़े दोनों प्रकार के होते थे। दोनों प्रकार के युद्धों में सहायतार्थ इन्द्र का आह्वान किया जाता था।[६६] महायुद्धों में दूर देशों से भी मित्र-राजा आते थे। युद्ध की समाप्ति पर वे अपने-अपने देशों को जाते थे।[६७] युद्धों में विजयी पक्ष को शत्रुसेना का धन और पुरस्कार आदि मिलता था, अतः युद्ध को 'प्रधन' कहा गया है।[६८]

ऋग्वेद और अथर्ववेद में एक देव-असुर-संग्राम का उल्लेख है। यह युद्ध अंशुमती नदी के तट पर हुआ था। इसमें इन्द्र ने बृहस्पति के सहयोग से आक्रमण करने वाली असुरों की सेना को हराया था।[६९] इसी प्रकार के एक अन्य युद्ध का वर्णन ऋग्वेद और अथर्ववेद में प्राप्त होता है। इसको दाशराज्ञ युद्ध कहते हैं। इसमें २० जनराजा (संघों के राजा) एक ओर थे और राजा सुश्रवस् दूसरी ओर। इन्द्र ने सुश्रवस् का पक्ष लिया और बीस जनराज्यों के राजाओं को नष्ट किया। इस युद्ध में ६० हजार ९९ सैनिक मारे गए थे।[७०] मृतकों की संख्या से युद्ध की भयंकरता का अनुमान लगायां जा सकता है।

अथर्ववेद में युद्ध की दो विधियां दी गई हैं - आदान और संदान। आदान का अभिप्राय है - शत्रु पर सहसा आक्रमण करके उसे घेर लेना और पकड़ना। संदान का अभिप्राय है - शत्रु पर संगठित होकर, हल्ला बोलते हुए, आक्रमण करना और उसे बांधकर लाना।[७१] युद्ध में इन दोनों विधियों को अपनाया जाता था। शत्रुसेना के जीते हुए सैनिकों को निहत्था बना

---

६५. ये युध्यन्ते प्रधनेषु, शूरसो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणाः, तान् चिदेवापि गच्छतात् ।।
ऋग्० १०.१५४.३ । अथर्व० १८.२.१७

६६. तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे । अ० २०.५६.१

६७. सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् । अ० ११.९.२६

६८. सहस्रप्रधनेषु च । अ० २०.७०.१०

६९. अंशुमत्या उपस्थे० ।
विशो अदेवीरभ्याचरन्तीर्बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे ।
ऋग्० ८.९६.१५ । अथर्व० २०.१३७.९

७०. त्वमेतान् जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण दुष्पदावृणक् ।।
ऋग्० १.५३.९ । अथर्व० २०.२१.९

७१. आदानसंदानाभ्याम् । अमित्राणां सेना अभि धत्तम्० । अ० ११.९.३

दिया जाता था और उनका वध कर दिया जाता था।[७२] युद्ध में शत्रुओं की ये चीजें छीन ली जाती थीं - घोड़े, गाय, सुवर्ण एवं आभूषण आदि।[७३] युद्ध में जो सैनिक मर जाते थे, उनकी स्त्रियों के वैधव्य-दुःख का भी वर्णन मिलता है। ऐसी स्त्रियाँ अपने बाल बिखेर लेती थीं, आभूषण उतार देती थीं, रोती थीं और छाती पीटती थीं।[७४]

१२. युद्धों में माया का प्रयोग

ऋग्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि युद्धों में माया का भी प्रयोग होता था। माया से अभिप्राय है - आवश्यकतानुसार छल, कपट या गूढ़ प्रयोग। ऐसे प्रयोगों में तामस अस्त्र, धूमास्त्र, आग्नेय और वायव्य आदि अस्त्र थे। ऋग्वेद और अथर्ववेद में माया, मायावन्त्, मायाविन् और मायिन् शब्दों का प्रयोग अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है।[७५] माया या छल का प्रयोग अधिकांश असुर या राक्षस करते थे, परन्तु इन्द्र, वरुण आदि देव भी माया के प्रयोग में दक्ष थे।[७६] इन्द्र ने माया के द्वारा मायावियों को नष्ट किया।[७७] वरुण और मरुत् देवों को भी 'मायिनम्' अर्थात् मायावी कहा गया है।[७८]

अथर्ववेद के दो सूक्तों में वर्णन किया गया है कि किस प्रकार तामस अस्त्र, धूमास्त्र, आग्नेय अस्त्र और वायव्य अस्त्र के द्वारा शत्रुओं को मूर्छित, भयभीत और किंकर्तव्यविमूढ कर दिया जाता था। उनकी आंखों की दर्शनशक्ति नष्ट कर दी जाती थी और उन्हें युद्ध छोड़कर भागने के लिए विवश कर दिया जाता था।[७९] तामस अस्त्र का इतना भयंकर धुआँ होता था कि योद्धा एक-दूसरे को देख नहीं सकते थे, उनके हाथ निष्क्रिय हो जाते थे और आंखों से कुछ दिखाई नहीं पड़ता था।[८०] इससे ज्ञात होता है कि युद्धों में माया का प्रयोग होता था।

७२. निर्हस्ताः शत्रवः स्थन-इन्द्रो वो अद्य पराशरीत् । अ० ६.६६.२

७३. अ० २०.११.९

७४. अ० ११.९.७, ८ और १४

७५. माया, ऋग्० १.३३.१० । मायावन्त्, ऋग्० ४.१६.९ । मायाविन् , ऋग्० २.११.९ । मायिन् , ऋग्० १.३९.२ । अथर्व० २०.११.३ ।

७६. यदेददेवीरसहिष्ट मायाः । ऋग्० ७.९८.५
मही मित्रस्य वरुणस्य माया । ऋग्० ३.६१.७
नि मायिनो दानवस्य मायाः । ऋग्० २.११.१०

७७. त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः । ऋग्० १.५१.५

७८. वरुणमिव मायिनम् । ऋग्० ६.४८.१४
त्वेषं गणं .. मायिनम् । ऋग्० ५.५८.२

७९. अथर्व० कांड ३, सूक्त १ और २

८०. तमसापव्रतेन, यथैषामन्यो अन्यं न जानात् । अ० ३.२.६

१३. योद्धाओं का वेश

वेदों में योद्धाओं के वेश के विषय में कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। इनसे ज्ञात होता है कि योद्धा युद्ध के समय पगड़ी बांधते थे। यजुर्वेद में रुद्र को उष्णीषधारी (उष्णीषिन् , पगड़ी पहने हुए) कहा गया है।[८१] कुछ योद्धा जटा-जूट-धारी (कपर्दिन्) भी होते थे। पूषा देवता को महारथी और कपर्दी कहा गया है।[८२] शिव के लिए कपर्टी (जटाधारी) का प्रयोग होता है। कुछ योद्धा मुंडित-सिर (व्युप्तकेश) भी होते थे।[८३]

योद्धा सिर, हाथ, पैर और छाती की रक्षा के लिए लोहे के अंगरक्षक (त्राण) पहनते थे। मरुत् देवों का योद्धा के रूप में वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे सिर पर शिप्र (शिरस्त्राण), वक्षःस्थल पर रुक्म (वक्षःस्थल का कवच) और पैर में खादि (पादरक्षक) पहनते थे।[८४] सिर और छाती के अंगरक्षक सुनहरी होते थे, अतः उन्हें हिरण्यय (स्वर्णिम) कहा गया है। ये अंगरक्षक कवच लोहे के जालीदार होते थे। लोहे के दस्ताने के लिए हस्तघ्न शब्द है। यह हाथ की रक्षा के लिए पहना जाता था।[८५] पूरे शरीर की रक्षा के लिए वर्म और कवच पहना जाता था। शिर की रक्षा के लिए बिल्म (Helmet) पहना जाता था। बिल्मधारी को बिल्मिन् (बिल्मी) कहते थे।[८६] योद्धा कन्धे पर ऋष्टि (भाला), हाथ में बाण, पीठ पर तूणीर एवं धनुष, परशु, तलवार, चक्र आदि धारण करते थे। अतएव मरुत् देवों को योद्धा के रूप में भ्राजद् ऋष्टयः (भाले से युक्त), वाशीमन्तः, ऋष्टिमन्तः, सुधन्वानः (धनुर्धर), इषुमन्तः (बाणधारी), निषंगिणः (तूणीरधारी) कहा गया है।[८७]

योद्धा ध्वज लेकर उत्साहपूर्वक युद्ध के लिए प्रस्थान करते थे।

१४. युद्ध का काल

कौटिल्य, शुक्राचार्य और मनु आदि ने इस विषय पर पर्याप्त विचार किया है कि शत्रु पर कब आक्रमण करना चाहिए। कौटिल्य का कथन है कि युद्धकाल के विषय में तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए - शक्ति, देश और काल। अपनी तैयारी कैसी है, युद्ध के

---

८१. नम उष्णीषिणे । यजु० १६.२२

८२. रथीतमं कपर्दिनम् । ऋग्० ६.५५.२

८३. नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च । यजु० १६.२९

८४. पत्सु खादयः, वक्षःसु रुक्मा, शिप्राः शीर्षसु । ऋग्० ५.५४.११

८५. हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् । ऋग्० ६.७५.१४

८६. बिल्मिने, कवचिने, वर्मिणे । यजु० १६.३५

८७. ऋग्० ५.५५.१ । ५.५७.२ ।

लिए स्थान या क्षेत्र कैसा है और कौन सी ऋतु उपयुक्त है। कौटिल्य का कथन है कि इनमें से किसी एक पर विशेष बल न देकर तीनों पर समानरूप से विचार करे। ये तीनों एक दूसरे के पूरक हैं।[८८] युद्धार्थ प्रस्थान के लिए सर्वोत्तम काल अगहन (मार्गशीर्ष) मास है। दूसरा समय चैत्र मास है और तीसरा ज्येष्ठ मास है।[८९] सदा देश और काल का विचार करके प्रस्थान का समय निर्धारित करना चाहिए।

शुक्राचार्य के अनुसार शरद् , हेमन्त और शिशिर ऋतु का समय युद्ध के लिए उत्तम है।[९०] मनु का कथन है कि मार्गशीर्ष (अगहन) मास में, या फाल्गुन, या चैत्र मास में युद्ध के लिए प्रस्थान करें।[९१]

वैदिक संहिताओं में इस विषय पर कोई सामग्री प्राप्त नहीं होती है। शतपथ ब्राह्मण में कांड २ में कहा गया है कि - चित्रा नक्षत्र में विजयार्थ शत्रु पर आक्रमण करे।[९२] इस कथन के अनुसार चित्रा-नक्षत्र-काल में युद्धार्थ प्रस्थान सर्वोत्तम काल है। वर्ष के ३६५ दिनो में २७ नक्षत्रों का भोग है। अतः वर्ष में प्रत्येक नक्षत्र का काल प्रायः १३-१/२ दिन होता है। चित्रा नक्षत्र में सूर्य प्रायः ११ अक्टूबर को प्रतिवर्ष आता है। इस प्रकार ११ अक्टूबर से २३ अक्टूबर तक युद्धार्थ प्रस्थान-काल होता है। प्रायः इसी समय विजयादशमी या दशहरा का पर्व पड़ता है। यह समय युद्धार्थ प्रस्थान का शुभ मुहूर्त है।

१५. सैनिकों का उपयोग, वेतन और भत्ता

शुक्राचार्य ने सैनिकों के विषय में कुछ उपयोगी निर्देश दिए हैं, जिनपर ध्यान देना उपयुक्त है। राजा सैनिकों के उत्साहवर्धनार्थ उन्हें युद्धधर्म सुनवावे और शौर्य-वर्धनार्थ वाद्य, नृत्य-गीत आदि की व्यवस्था करे। सेना को युद्धकार्य के अतिरिक अन्य कार्यों में नियुक्त न करे।[९३] सैनिकों को यथायोग्य वेतन दे और परदेश में जाने पर उन्हें वेतन के अतिरिक्त

---

८८. परस्परसाधका हि शक्तिदेशकालाः । कौ० अर्थ० पृ० ७२६

८९. मार्गशीर्षीं यात्रां यायात् । ज्येष्ठामूलीयां यात्रां यायात् । कौ० अर्थ० पृ० ७२७

९०. शरद्हेमन्त-शिशिर-कालो युद्धेषु चोत्तमः । शुक्र० ४.७.२१२

९१. मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद् यात्रां महीपतिः ।
फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा, मासौ प्रति यथाबलम् । मनु० ७.१८२

९२. हन्ति सपत्नान्, हन्ति द्विषन्तं भ्रातृव्यं य एवं विद्वान् चित्रायाम् आधत्ते । तस्मादेतत् क्षत्रिय एव नक्षत्रम् उपेत्सेंत् । शत० २.१.२.१७

९३. श्रावयेत् सैनिकान् नित्यं धर्मं शौर्यविवर्धनम् ।
युद्धक्रियां विना सैन्यं योजयेन्नान्यकर्मणि । शुक्र० ५.८१-८२

१/३० अतिरिक्त भत्ता दे।[९४] सैनिकों के धन की राजकोष की तरह सुरक्षा करे, जिससे सैनिकों को कोई आर्थिक कष्ट न होने पावे।[९५] शिक्षित सैनिकों को पूरा वेतन देना चाहिए और प्रशिक्षणार्थियों को आधा।[९६] कम से कम एक सहस्र ऐसे सैनिक होने चाहिए, जो आदेश पाते ही एक क्षण में युद्ध के लिए सुसज्जित हो जाएँ। सैनिकों को सप्ताह में एक दिन अवश्य प्रशिक्षण दे और उन्हें नियमों का निर्देश दे।[९७]

१६. विजयी और पराजित राजा के आचरण

दो प्रतिस्पर्धी राजाओं में युद्ध होने पर यह निश्चय है कि एक राजा विजयी होगा और दूसरा पराजित। अथर्ववेद में युद्ध में आदान और संदान विधि का उल्लेख है।[९८] इन दोनों विधियों के द्वारा शत्रुसेना को चारों ओर से घेरने और बन्दी बनाने का कार्य होता था। जहाँ पराजित सेना बन्दी बनाई जाती थी, वहाँ उनका राजा भी बन्दी बनाया जाता था। विजयी राजा पराजित राजा के प्रति कैसा आचरण करे तथा पराजित राजा विजयी राजा के प्रति कैसा आचरण करे, इसका वेदों में कहीं वर्णन नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण के अन्त में एक प्रसंग में कुछ संकेत प्राप्त होता है, जिससे ज्ञात होता है कि पराजित राजा विजयी राजा के प्रति अत्यन्त शिष्ट और विनीत आचरण करे। विजयी राजा के बैठने पर बैठे; उसके खड़े होने पर खड़ा हो जाय; उसके लेट जाने पर लेटे; उसके सो जाने पर सोवे और उसके सोकर उठने से पूर्व उठ जावे। इस प्रकार का आचरण करने से विजयी राजा भी पराजित राजा के प्रति दयाभाव प्रदर्शित करता है।[९९]

इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि पराजित राजा का सद्व्यवहार विजयी राजा के हृदय को जीत लेता है और वह मृत्युदंड आदि से बच जाता है।

---

९४. ये सैन्यधनिकास्तेभ्यो यथार्हां भृतिमावहेत् ।
पारदेश्यं च त्रिंशांशम् , अधिकं तद्धनव्ययात् । शुक्र० ५.८४

९५. धनं संरक्षयेत् तेषां, यत्नतः स्वात्मकोशवत् । शुक्र० ५.८५

९६. शुक्र० ४.७.३७३

९७. सेनासहस्रं सज्जं स्यात् क्षणात् संशासयेत् तथा ।
संशासयेत् स्वनियमान् , सैनिकान् अष्टमे दिने । शुक्र० ४.७.३६४

९८. उत्तिष्ठतम् आरभेथाम् आदान-संदानाभ्याम् । अ० ११.९.३

९९. ऐतरेय ब्राह्मण ५.१०.२८

अध्याय १७

विविध शस्त्रास्त्र

१. शस्त्र और अस्त्र

२. दिव्य और मानवीय अस्त्र

३. दिव्य अस्त्र

४. मानवीय शस्त्रास्त्र

(क) अस्त्र

(ख) शस्त्र

५. अंगरक्षक आयुध

६. युद्ध के उपकरण

७. युद्धों में वाद्य-प्रयोग

८. पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट शस्त्रास्त्र

अध्याय १७

विविध शस्त्रास्त्र

वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में शस्त्रों और अस्त्रों दोनों का प्रयोग होता था। शस्त्र और अस्त्र दोनों के लिए आयुध शब्द का प्रयोग होत: था। आयुध में अंगरक्षक शस्त्र कवच, शिरस्त्राण आदि का भी ग्रहण होता था, जो शरीर की रक्षा के लिए योद्धा पहनते थे।

१. शस्त्र और अस्त्र

शुक्रनीति में अस्त्र और शस्त्र का अन्तर स्पष्ट करते हुए लक्षण दिया गया है कि जो यन्त्र या मन्त्र के द्वारा फेंका जाता है, उसे अस्त्र (Missile) कहते हैं। इसके अतिरिक्त असि (तलवार), कुन्त (भाला) आदि को शस्त्र (Weapon) कहते हैं। अस्त्र भी दो प्रकार के होते हैं :- एक मन्त्र शक्ति से छोड़े जाने वाले (मान्त्रिक, दिव्य अस्त्र) और दूसरे यान्त्रिक (किसी यन्त्र बन्दूक, तोप आदि से छोड़े जाने वाले) या नालिक (नली वाले यन्त्र से छोड़े जाने वाले)।[१] नालिक के भी दो भेद हैं :- लघुनालिक (छोटी नली वाले, बन्दूक आदि) और बृहत् नालिक (बड़ी नली वाले, तोप आदि)।[२] लघुनालिक का छेद छोटा होता है और यह थोड़ी दूर तक के लक्ष्य का भेदन करता है। बृहत्नालिक का छेद बड़ा होता है और यह बहुत दूर तक के लक्ष्य को भेदन करता है। यन्त्र के आघात से गोली या गोला फेंका जाता है। लघुनालिक को पैदल और घुड़सवार लेकर चलते हैं तथा बृहत्नालिक (तोप) गाड़ी आदि के द्वारा ढोया जाता है।[३]

२. दिव्य और मानवीय अस्त्र

अस्त्र (Missile, मिसाइल) के लिए वेदों में हेति और मेनि शब्द आते हैं।[४] ये अस्त्र

(क) शस्त्र और अस्त्र आदि

१. अस्यते क्षिप्यते यत्तु मन्त्रयन्त्राग्निभिश्च तत् ।
अस्त्रं तदन्यत: शस्त्रम् , असिकुन्तादिकं च यत् ।।
अस्त्रं तु द्विविधं ज्ञेयं, नालिकं मान्त्रिकं तथा । शुक्र० ४.७.१८१

२. नालिकं द्विविधं ज्ञेयं, बृहत्-क्षुद्र-विभेदत: । शुक्र० ४.७.१८४

३. यन्त्राघाताग्निकृद् , ग्रावचूर्णधृक्-कर्णमूलकम् ।
लघुनालिकमप्येतत् , प्रधार्यं पत्तिसादिभि: ।।
यथा दीर्घं बृहद् गोलं, दूरभेदि तथा तथा ।
बृहन्नालिकसंज्ञं तत् ... प्रवाह्यं शकटाद्यैस्तु० ।। शुक्र० ४.७.१८५ से १८८

४. हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि । अथर्व० २.११.१

दो प्रकार के होते थे - दिव्य और मानवीय। दिव्य अस्त्र दिव्य गुणों से युक्त होते थे। इनका प्रभाव भी असाधारण होता था। ये प्रायः प्राकृतिक शक्तियों से जन्य होते थे, जैसे - विद्युत्, अग्नि, जल, वायु आदि, अथवा किसी देवता या ऋषि के द्वारा प्रदत्त होते थे, जैसे - ब्रह्मास्त्र, आथर्वण अस्त्र आदि। इनके निर्माण और प्रयोग के विषय में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है।

३. दिव्य अस्त्र

(१) आग्नेय अस्त्र या अग्निबाण - आग्नेय अस्त्र को अग्निबाण भी कहा जाता है। इस अस्त्र के प्रयोग से जलती हुई आग सी चारों ओर फैल जाती थी, जैसे आग की वर्षा हो रही हो। अग्नि के साथ यह धुआँ भी फेंकता था, जिससे शत्रु बेहोश हो जाते थे। अथर्ववेद में इसका वर्णन है कि आग्नेय अस्त्र के प्रयोग से शत्रु बेहोश हो गए और इन्द्र ने उनके सिर काट लिए।[५] इसके प्रयोग से आंख से अन्धा होने का भी वर्णन है। शत्रु अंधे हो गए और उनकी सेना पराजित हो गई।[६]

(२) वायव्य अस्त्र - इसको मारुत अस्त्र भी कहते हैं। इसके प्रयोग से आंधी जैसी तेज हवाएं चलने लगती थीं और शत्रु किंकर्तव्यविमूढ हो जाते थे। मरुत् अर्थात् आंधी या तूफान से संबद्ध होने के कारण इन्हें मारुत अस्त्र भी कहा जाता है। अथर्ववेद में इसका वर्णन है कि इन्द्र इस अस्त्र के प्रयोग से शत्रुओं को इधर-उधर भगाकर नष्ट कर दे। मन्त्र में आंधी के प्रबल वेग की भी चर्चा की गई है।[७]

(३) पाशुपत अस्त्र - यह पशुपति अर्थात् शिव या रुद्र का अस्त्र है। पशुपति के नाम पर इसका नाम पाशुपत अस्त्र पड़ा है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में रुद्र के इस अस्त्र का वर्णन है और इससे बचाव की प्रार्थना की गई है।[८]

(४) ब्रह्मास्त्र - यह ब्रह्मा की शक्ति माना जाता था। इसकी प्रहारक शक्ति असाधारण थी। इसकी कोई काट नहीं थी। यह पूरे समूह को नष्ट कर सकता था। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है। इसके लिए कहा गया है कि यह प्रहारकों का भी प्रहारक है और शत्रुओं का नाशक है। यह अस्त्र घोर तपस्या का फल है।[९]

---

५. तेषां वो अग्निमूढानाम् इन्द्रो हन्तु वरंवरम् । अ० ६.६७.२

६. चक्षूंष्याग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता । अ० ३.१.६

७. अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय । अ० ३.१.५
मरुतो घ्नन्त्वोजसा । अ० ३.१.६

८. परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः । ऋग्० २.३३.१४
परि नो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु । यजु० १६.५०

९. ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते ।
मेन्या मेनिरसि० । अथर्व० ५.६.९

(५) आथर्वण अस्त्र - यह अथर्वन् ऋषि द्वारा आविष्कृत अस्त्र था। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है।[१०] एक सूक्त में कहा गया है कि चोर, हिंसक पशु व्याघ्र आदि पर इसका प्रयोग होता था। इसके द्वारा व्याघ्र, सिंह आदि का वध किया जाता था। इसकी विशेषता यह थी कि चोर, व्याघ्र आदि जिस स्थिति में होते थे, उस स्थिति में ही रह जाते थे। यदि व्याघ्र आदि का मुँह खुला है तो बन्द नहीं होगा और बन्द है तो खुलेगा नहीं। इस प्रकार चोर, सांप, हिंसक पशु आदि पकड़ लिए जाते थे और मारे जाते थे।

(६) वारुण अस्त्र या वरुण के पाश - ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में वरुण के पाशों का उल्लेख है।[११] वरुण को सम्राट् बताया गया है। उसका सारे विश्व में साम्राज्य है।[१२] संसार की एक-एक घटना का उसके पास रिकार्ड है। उससे छिपाकर कोई कुछ काम नहीं कर सकता है।[१३] उसके सात प्रकार के पाश हैं और ये तीन प्रकार के हैं - उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् बहुत बड़े, मध्यम और छोटे ।[१४] ये नागपाश अर्थात् सांप की तरह मनुष्य को लिपटकर बांध लेते हैं। ये 'समाम्य' 'व्याम्य' दोनों प्रकार के हैं, अर्थात् परस्पर गुंथे हुए और बिखरे हुए।[१५] ये पापी को जकड़ कर मार देते हैं।[१६]

(७) संमोहन अस्त्र - अथर्ववेद में संमोहन अस्त्र का उल्लेख है। इस अस्त्र के द्वारा शत्रुसेना को बेहोश कर दिया जाता था और उसके हाथ काट लिए जाते थे।[१७] अग्नि और इन्द्र के लिए कहा गया है कि वे शत्रुसेना को बेहोश कर दें।[१८]

(८) तामस अस्त्र - चारों वेदों में इस तामस अस्त्र का उल्लेख है।[१९] यह अस्त्र

---

१०. यत् संयमो न वि यमो, वि यमो यन्न संयमः ।
इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ।। अ० ४.३.७

११. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
ऋग्० १.२४.१५, यजु० १२.१२, अथर्व० ७.८३.३

१२. ऋग्० १.२५.१०

१३. अथर्व० ४.१६. २,४,५

१४. ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिताः । अथर्व० ४.१६.६

१५. यः समाम्यो वरुणो व्याम्यः । अ० ४.१६.८

१६. अथर्व० ४.१६.७

१७. अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवत्० । अ० ३.१.१

१८. इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् । अ० ३.१.५
इन्द्रः सेनां मोहयतु । अ० ३.१.६

१९. ऋग्० १०.१०३.१२; यजु० १७.४४, अ० ३.२.५; साम० १८६१

अश्रुगैस (Tear Gas) के तुल्य होता था। यह चारों ओर धुआँ फैला देता था। धुएं से चारों ओर अंधेरा हो जाता था। शत्रुसेना के सैनिकों का दम घुटने लगता था और वे किंकर्तव्यविमूढ होकर इधर-उधर भागने लगते थे। अतः कहा गया है कि इसके छोड़ने से शत्रुसेना के सैनिक एक-दूसरे को पहचान नहीं पाते थे।[२०] तामस अस्त्र का नाम 'अप्वा' भी था।[२१] यह अंगों को शिथिल कर देता था। अथर्ववेद का कथन है कि त्रिषन्धि सेनापति ने इस तामस आस्त्र के प्रयोग से सारी शत्रुसेना को नष्ट किया था।[२२]

(९) ऐन्द्र अस्त्र या वज्र - वज्र इन्द्र का प्रमुख अस्त्र है। चारों वेदों में सैकड़ों मन्त्रों में वज्र की चर्चा है। अतएव इन्द्र को वज्रिन्, वज्र-बाहु, वज्र-दक्षिण, वज्र-भृत्, वज्र-वाह्, वज्र-हस्त आदि उपाधियों से अलंकृत किया गया है।[२३] त्वष्टा ने यह वज्र इन्द्र के लिए बनाया था।[२४] यह अयस् अर्थात् उत्तम कोटि के लोहे या फौलाद का बनाया जाता था।[२५] वज्र में तीन संधि या जोड़ होते थे, अतः इसे त्रिषन्धि कहते थे।[२६] इन्द्र ने वृत्र को जिस वज्र से मारा था, वह हजार नोक या कोण वाला था।[२७] अन्यत्र वर्णन है कि इन्द्र ने महर्षि दधीचि की अस्थियों का वज्र बनाया था और उससे वृत्र असुर का वध किया था।[२८] वृत्रवध का अभिप्राय यह है कि इन्द्र (सूर्य) ने बादलरूपी आवरक वृत्र को विद्युत्रूपी वज्र से समाप्त किया था।

(१०) अग्निपुराण में वर्णित शस्त्रास्त्र - अग्निपुराण में शस्त्रास्त्रों के ५ भेदों का वर्णन है। **१. यन्त्रमुक्त** - यंत्रों आदि के द्वारा फेंके जाने वाले। जैसे - प्रक्षेपक यन्त्र बन्दूक आदि से छोड़े जाने वाले गोले आदि और धनुष आदि से फेंके जाने वाले बाण आदि। **२. पाणिमुक्त** - हाथसे फेंके जाने वाले। जैसे तोमर या भाला आदि। **३. मुक्तसंधारित** - फेंककर फिर वापस लिए जाने वाले। नोकीला आयुध जिसके द्वारा वस्तु खींचकर पास लायी

---

२०. तां विध्यत तमसापव्रतेन, यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ।
अथर्व० ३.२.६, यजु० १७.४७

२१. गृहाणा-अङ्गानि-अप्वे परेहि । ऋग्० १०.१०३.१२

२२. त्रिषन्धे तमसा त्वमित्रान् परिवारय ।
मामीषां मोचि कश्चन । अ० ११.१०.१९

२३. ऋग्० १.५७.६; १.३२.१५; १०.२३.१; १.१००.१२; ६.४४.१९; ६.२२.५

२४. ऋग्० १.८५.९; अथर्व० २०.३५.६

२५. अथर्व० २०.३०.३ ।

२६. वज्रेण त्रिषन्धिना । अ० ११.१०.३

२७. अभ्येनं वज्र आयसः सहस्रभृष्टिः । ऋग्० १.८०.१२

२८. इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राणि ... जघान । ऋग्०१.८४.१३

जावे। जैसे - प्रास या कांटेदार जाल आदि। **४. अमुक्त** - हाथ में रखे जाने वाले। जैसे खड्ग आदि। **५. बाहुयुद्ध** - बाहुयुद्ध से संबद्ध उपकरण।[२९]

(११) कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित शस्त्रास्त्र - कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में शस्त्रास्त्रों के विषय में वुछ उपयोगी बातें दी हैं। यन्त्रों द्वारा चालित अस्त्रों को दो भागों में बांटा है :- स्थितयन्त्र और चलयन्त्र। **स्थितयन्त्र** - वे अस्त्र हैं, जिनकी मशीन एक स्थान पर ही रहती है और चल यन्त्र वे हैं, जिनकी मशीन इधर-उधर ले जाई जा सकती है। स्थितयंत्र १० प्रकार के हैं।[३०] उनमें से कुछ ये हैं :- **१. सर्वतोभद्र** - जिससे चारों ओर गोला आदि फेंका जा सके। जैसे - मशीनगन। **२. जामदग्न्य** - बाण बरसाने वाला बड़ा यंत्र। इसे महाशरयन्त्र भी कहते थे। **३. विश्वासघाती** - दुर्ग के द्वार पर खाई के ऊपर रखी तिरछी मशीन। जिसके स्पर्शमात्र से मृत्यु हो जाय। **४. पर्जन्यक** - यह वारुण अस्त्र है। आग बुझाने वाला यन्त्र, दमकल या फायर-ब्रिगेड।

कौटिल्य ने **चलयन्त्र** १६ गिनाए हैं।[३१] जिनमें कुछ ये हैं - **१. पाञ्चालिक** - बढ़िया लकड़ी पर तेज धार वाला यंत्र। यह दुर्ग के बाहर जल के अन्दर रखा जाता था। इसको जल-सुरंग (Mine) कह सकते हैं। **२. शतघ्नी** - किले की दीवार पर रखा स्तम्भ की आकृति का यन्त्र। जिससे एक साथ सौ मनुष्यों को मारा जा सके। **३. त्रिशूल** - वर्तमान त्रिशूल की आकृति का अस्त्र। **४. चक्र** - तीक्ष्ण धार वाल चक्र। श्रीकृष्ण इसके प्रयोग में सिद्धहस्त थे, अतः उन्हें चक्रधर कहते हैं।

कौटिल्य ने ११ प्रकार के **हलमुख** अस्त्र दिए हैं।[३२] इनका अग्रभाग हल की नोक के तुल्य तीक्ष्ण होता था, अतः इन्हें हलमुख कहते थे। इनमें से कुछ ये हैं :- १. शक्ति - चार हाथ लम्बा, कनेर के पत्ते के तुल्य आकृति वाला लोहे का अस्त्र। २. प्रास - २४ अंगुल

---

२९. यन्त्रमुक्तं पाणिमुक्तं, मुक्तसंधारितं तथा ।
अमुक्तं बाहुयुद्धं च, पञ्चधा तत् प्रकीर्तितम् ।।२।।
क्षेपणीचाप-यन्त्राद्यैर्यन्त्रमुक्तं प्रकीर्तितम् ।
शिला-तोमरयन्त्राद्यं पाणिमुक्तं प्रकीर्तितम् ।।४।।
मुक्तसंधारितं ज्ञेयं, प्रासाद्यमपि यद् भवेत् ।
खड्गादिकममुक्तं च, नियुद्धं विगतायुधम् ।।५।। अग्निपुराण अ० २४८

३०. सर्वतोभद्र - जामदग्न्य-बहुमुख-विश्वासघाति ... पर्जन्यक:
अर्धबाहूनि स्थितयन्त्राणि । कौटिल्य अर्थ० पृष्ठ २०९

३१. पाञ्चालिक ... शतघ्नी-त्रिशूल-चक्राणि चलयन्त्राणि ।
कौ० अर्थ० पृ० २०९

३२. शक्ति-प्रास-कुन्त ... शूल-तोमर ...
त्रासिकादीनि च हलमुखानि । कौ० अर्थ० पृ० २१०

लंबा, दुधार, बीच में मूठ और दोनों ओर मुड़े हुए कोण। ३. कुन्त - १० हाथ लंबा भाला। ४. शूल - तेज नोक वाला आयुध। ५. तोमर - ४ से ५ हाथ लंबा, बाण के तुल्य तीक्ष्ण किनारे वाला आयुध।

धनुष और बाण[३३] - धनुष ४ प्रकार से बनाए जाते थे - १. ताल - ताड़ का बना। २. चाप - उत्तम बांस का बना। ३. दारव - बढ़िया लकड़ी का बना। ४. शार्ङ्ग - सींग का बना। धनुष के लिए अन्य शब्द हैं - कार्मुक, कोदण्ड, द्रूण। धनुष की डोरी इन चीजों से बनती थी – मूर्वा (एक लता विशेष), अर्क (धतूरा), सन, गवेधुका (एक विशेष घास), वेणु (बांस) और स्नायु (ताँत)। बाणों के ५ भेद हैं :- १. वेणु (बांस), २. शर (नरसल), ३. शलाका (मजबूत लकड़ी), ४. दण्डासन (आधा लोहा, आधा लकड़ी), ५. नाराच (पूरा लोहे का)। इन बाणों के अग्रभाग में लोहा, हड्डी या लकड़ी की तीक्ष्ण नोक होती थी, जिससे छेदने, काटने और आघात पहुंचाने का कार्य संपन्न हो सके।

खड्ग या तलवार[३४] - इसके तीन प्रकार थे :- १. निस्त्रिंश - इसका अग्रभाग काफी टेढ़ा होता था। २. मण्डलाग्र - इसका अग्रभाग कुछ गोल होता था। ३. असियष्टि - इसका आकार लंबा और पतला होता था।

कवच और आवरण[३५] - कौटिल्य ने ६ प्रकार के वर्म (कवच) बताए हैं :- १. लोहजाल - सिर से पैर तक ढकने का लोहे का आवरण। २. लोहजालिका - सिर को छोड़कर अन्य अंगों को ढकने वाला लोहे का आवरण। ३. लोहपट्ट - हाथों को छोड़कर शेष सारे शरीर को ढकने वाला आवरण। ४. लोहकवच - केवल छाती और पीठ को ढकने वाला आवरण। ५. सूत्रकंकट - पक्के सूत का बना कवच, कमर से कूल्हे तक की रक्षा के लिए। ६. मिश्रितकवच - यह शिंशुमार (सूंसनामक जल जन्तु), खड्ग (गैंडा), धेनुक (नील गाय), हाथी और बैल, इन पांचों के चमड़े, खुर और सींग के मिश्रण से बनाया जाता था। इनके अतिरिक्त ७ प्रकार के अन्य आवरण बताए गए हैं, ये शरीर के किसी विशिष्ट

---

३३. (क) ताल-चाप-दारव-शार्ङ्गाणि कार्मुक-कोदण्ड-द्रूणा धनूंषि ।
(ख) मूर्वार्क-शण-गवेधु-स्नायूनि ज्याः ।
(ग) वेणु-शर-शलाका-दण्डासन-नाराचाश्च इषवः । कौ० अर्थ० पृ० २१०

३४. निस्त्रिंश - मण्डलाग्रासियष्टयः खड्गाः । कौ० अर्थ० पृ० २११

३५. (क) लोहजाल-जालिका-पट्ट-कवच-सूत्रकंकट-शिंशुमार-खड्ग - धेनुक-हस्ति-गोचर्म-खुर-शृंग-संघातं वर्माणि ।
(ख) शिरस्त्राण - कण्ठत्राण - कूर्पास-कञ्चुक - वारवाण-पट्ट-नागोदारिकाः । पेटी-चर्म-हस्तिकर्ण ... आवरणानि ।
कौ० अर्थ० पृ० २११ से २१२ (गैरोला - संस्करण)

अंग की रक्षा के लिए होते थे। ये हैं - १. शिरस्त्राण - शिर की रक्षा के लिए लोहे का टोप। २. कण्ठत्राण - गले की रक्षा के लिए लोहे की जाली। ३. कूर्पास - आधी बाहों को ढकने का आवरण। ४. कंचुक - घुटनों तक शरीर को ढकने वाला जालीदार लोहे का आवरण। ५. वारवाण - सारे शरीर को ढकने वाला हल्का जालीदार आवरण। ६. पट्ट - बिना बांह का, लोहे के अतिरिक्त किसी अन्य धातु का बना कवच। ७. नागोदरिका - हाथ की अंगुलियों की रक्षा के लिए हलका लोहे का दस्ताना। इसी प्रकार मुँह आदि ढकने के लिए चमड़े आदि के अन्य आवरण बनते थे।

कौटिल्य के द्वारा दिए गए शस्त्रास्त्रों से ज्ञात होता है कि उसके समय में इन शस्त्रास्त्रों का प्रयोग होता था। साथ ही प्राचीन शस्त्रास्त्रों को समझने के लिए उक्त विवरण विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

४. मानवीय शस्त्रास्त्र

ऋग्वेद में आयुध का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि योद्धा वीर आयुध को अपना प्रिय भाई या संबन्धी बताते हैं।[३६] आयुध उनका जीवनरक्षक है, अतः वह प्राणों के तुल्य प्रिय होता है। युद्धों में अस्त्र और शस्त्र दोनों प्रकार के आयुधों का प्रयोग होता था। वेदों में अनेक आयुधों का वर्णन है, उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

(क) अस्त्र

(१) धनुष - चारों वेदों में सैकड़ों मन्त्रों में धनुष का वर्णन है। धनुष-बाण आर्यों का महत्त्वपूर्ण अस्त्र था। धनुष के विषय में कहा गया है कि धनुष से शत्रुओं का संहार किया जाता है, युद्ध में विजयश्री मिलती है और इसके द्वारा दिग्विजय भी किया जाता है।[३७] राष्ट्रगान वाले मंत्र में प्रार्थना की गई है कि हमारे योद्धा धनुर्विद्या में निपुण हों।[३८] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि हमारे आयुध शक्तिशाली हों, जिससे हम शत्रुओं को दूर भगा सकें और विजयी हों।[३९] यजुर्वेद के रुद्राध्याय में कहा गया है कि शिव के धनुष का नाम पिनाक है।[४०] अतएव शिव को पिनाकिन् (पिनाकी) अर्थात् पिनाक धनुष धारण करने वाले कहा जाता

---

३६. जामि ब्रुवत आयुधम् । ऋग्० ८.६.३

३७. धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम,
धनुः शत्रोरप कामं कृणोति, धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम । ऋग्० ६.७५.२

३८. आ ब्रह्मन् ... आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्यो० । यजु० २२.२२

३९. स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे० । ऋग्० १.३९.२

४०. पिनाकं बिभ्रदा गहि । यजु० १६.५१

है। साथ ही शिव के लिए कहा गया है कि उनके पास असंख्य शस्त्रास्त्र हैं।[४१] शिव संसार का संहारक है, अतः उसे रुद्र भी कहते हैं। रुद्र सारे संसार में व्याप्त है और उसके बाण भी तीनों लोकों में व्याप्त हैं। इस प्रकार वह त्रिलोकी का स्वामी है। द्युलोक में उसके बाण वर्षा के रूप में हैं, अन्तरिक्ष में वायु के रूप में और पृथिवी पर अन्न के रूप में।[४२]

वेदों में धनुष के लिए धनुष् और धन्वन् शब्द आते हैं।[४३] धनुर्धारी के लिए धानुष्क, धन्वायिन्, धन्वाविन्, इषुमत्, धन्वासह शब्द हैं।[४४] धनुष विभिन्न आकार के होते थे। इस विषय में कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं होता है। कौटिल्य का कथन है कि आकार आदि के भेद से इन्हें कार्मुक, कोदण्ड और द्रूण आदि नाम दिए गए हैं।[४५] पांच अरत्नि (हाथ) का एक धनुष होता है। सेना में धनुर्धारियों को पांच हाथ के फासले पर खड़ा किया जाना चाहिए।[४६] धनुष बनाने वाले को धनुष्कार कहते थे। इसीप्रकार इषु या बाण बनाने वाले को इषुकार और ज्या या प्रत्यंचा (डोरी) बनाने वाले को ज्याकार कहते थे।[४७] धनुष बांस या अन्य किसी उत्तम लकड़ी को झुकाकर बनाया जाता था और उसके दोनों छोर पर मजबूत डोरी बांधी जाती थी। इस डोरी को कान तक खींचकर बाण चलाया जाता था। योद्धा धनुष की टंकार को सुनकर आनन्दित होते थे।[४८] धनुष की डोरी को ज्या और धनुष के दोनों सिरों को 'आर्त्नी' कहते थे।[४९] मंत्र से संकेत मिलता है किं धनुष की डोरी (ज्या) गाय या बैल (गो) के स्नायु से निर्मित तांत से बनती थी।[५०]

प्राचीन समय में धनुष-बाण का अत्यन्त प्रचलन था। सिन्धु घाटी से प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है कि उस समय भी तांबे और पीतल के बाणाग्र (Arrow-heads) बनते थे। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ईसा से तीन या चार सहस्र वर्ष पूर्व धनुष-बाण

---

४१. सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः । यजु० १६.५३

४२. नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः ।
ये ऽन्तरिक्षे येषां वात इषवः ।
ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः । यजु० १६.६४ से ६६

४३. ऋग्० ६.७५.२; यजु० २९.३९

४४. यजु० १६.२२; तैत्ति० ४.५.३.२; ऋग्० १.१२७.३

४५. कार्मुक-कोदण्ड-द्रूणा धनूंषि । कौ० अर्थ० पृ० २१०

४६. पञ्चारत्नि धनुः, तस्मिन् धन्विनं स्थापयेत् । कौ० अर्थ० पृ० ८०४

४७. हेत्यै धनुष्कारम्, शरव्यायै इषुकारम्, कर्मणे ज्याकारम् । यजु० ३०.७

४८. यजु० २९.४०, १६.९; ऋग्० ६.७५.३

४९. ज्या इयम् । आर्त्नी इमे । ऋग्० ६.७५.३ एवं ४

५०. गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता । ऋग्० ६.७५.११

का प्रचलन था। शनैः शनैः नए शतघ्नी (बन्दूक) आदि आग्नेय अस्त्रों के आने से इस विद्या का क्रमशः ह्रास हो गया।

(२) **बाण** - बाण के लिए वेदों में बाण, इषु, शर, शरव्या, शल्य, सायक आदि शब्द आते हैं।[५१] विशेष तीक्ष्ण बाण के लिए शल्य शब्द है। शल्य के अगले भाग को शल्यमुख कहते हैं और उसके अग्रभाग में जो नुकीला भाग होता है, उसे शल्यदन्त कहते हैं। यह नुकीला अग्रभाग ही शत्रु के शरीर का वेधन करता था, अतः मंत्रों में प्रार्थना की गई है कि हे रुद्र,तुम शल्य के मुख को निकाल कर हमें सुरक्षित करो।[५२] बाण का नुकीला भाग लोहे, हाथी दांत या अन्य कठोर पदार्थ से बनता था। बाण की गति को तीव्र करने के लिए किसी पक्षी के पंख को लगाने का भी प्रचलन था, अतः उसे 'सुपर्ण' कहते थे। सुपर्ण का अर्थ श्येन (बाज पक्षी) होता है, इससे ज्ञात होता है कि बाण को द्रुतगामी करने के लिए बाज के पंखों का उपयोग होता था।[५३]

ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि कुछ बाण बहुत बड़े होते थे। उसमें एक ही बाण में सौ नोक होती थी और उसमें सैकड़ों पंख लगे होते थे।[५४] ऐसे बाणों से सैकड़ों और हजारों लोगों तक को मारा जा सकता था। ऐसा धनुष-बाण रुद्र के पास था।[५५] कुछ बाणों के अग्रभाग पर लोहा लगा होता था, कुछ के अग्रभाग सूई की तरह नोकीले और तीव्रगति वाले होते थे और कुछ के अग्रभाग नोकीले कांटेदार होते थे। इन्हें क्रमशः अयोमुख, सूचीमुख और विकंकतीमुख कहा जाता था।[५६] कुछ बाण शत्रुवध के लिए विष में बुझे भी होते थे। इनका विष उतारने की विधि भी अथर्ववेद में दी गई है।[५७]

धनुष की प्रत्यंचा पर बाण रखकर उसे बाणसहित कान तक खींच कर छोड़ा जाता था, अतः ऋग्वेद में बाण को कर्णयोनि भी कहा है।[५८]

शुक्रनीति में बाण का लक्षण देते हुए कहा गया है कि यह दो हाथ का होता है और अपने निशाने को साधकर चलाया जाता है।[५९]

---

५१. ऋग्० ६.७५. १६-१७ । १०.८७.४ । यजु० १६.१३; ३०.७
५२. निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव । यजु० १६.१३
५३. सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तः । ऋग्० ६.७५.११
५४. शतब्रध्न इषुस्तव सहस्रपर्ण एक इत् । ऋग्० ८.७७.७
५५. धनुर्बिभर्षि ... सहस्रघ्नि शतवधं... । रुद्रस्येषुः० । अथर्व० ११.२.१२
५६. अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकंकतीमुखाः । अ० ११.१०.३
५७. शल्याद् विषं निरवोचम् । अ० ४.६.५
५८. इषवः ... कर्णयोनयः । ऋग्० २.२४.८
५९. लक्ष्यभेदी यथा बाणो ... द्विहस्तश्च शिलीमुखः । शुक्र० ४.७.२००

प्राचीन समय में धनुष, बाण, प्रत्यंचा आदि का कार्य व्यवसाय के रूप में प्रचलित था। इसमें कुशल कारीगर लगाये जाते थे। यजुर्वेद में धनुष बनाने वाले को धनुष्कार, बाण बनाने वाले को इषुकार और प्रत्यंचा बनाने वाले को ज्याकार कहते थे।[६०]

शीला झुनझुनवाला ने पुरातत्त्व-वेत्ताओं के आधार पर बाण के विषय में कुछ उपयोगी सूचनाएं एकत्र की हैं। वैदिक काल में इन बाणों का अस्तित्व था :– **१. अरमुख** - दांतेदार मुंहों वाला तीर। **२. क्षुरप्र** - तीक्ष्ण धार वाली पत्ती के मुंह वाला तीर। **३. सूचीमुख** - सूई की तरह नोक वाला तिकोना तीर। **४. भल्ल** - दो मुहानों पर भाले की नोक वाला तीर। **५. अर्धचन्द्र** - आधे चन्द्रमा की तरह दो तीखी नोकदार पत्तियों वाला तीर। **६. गोपुच्छ** - गाय की पूंछ जैसी तीखी बहुधारों वाला गोलाकार तीर। **७. वत्सदन्त** - बैल के दांत जैसा तीर। **८. द्विभल्ल** - दो ओर से नोकदार तीर। **९. कर्णिक** - फूल के उद्‌गम स्थान जैसा तीर। **१०. ककतुन्द** - अट्टहास करता हुआ तीर।[६१]

इनका विविध प्रकार से एवं विभिन्न स्थितियों में उपयोग किया जाता था। जैसे - अर्धचन्द्र सीधा गले का निशाना लिया करता था। वत्सदन्त शत्रु के धनुष का नाश करता था। भल्ल सीने को छलनी करने के काम आता था। कर्णिक शत्रु के लोहे के बचाव अस्त्र (कवच) का नाश करता था।[६२]

दिल्ली आदि के संग्रहालयों में जो प्राचीन काल के तीर सुरक्षित हैं, वे इस प्रकार के हैं :-

१. पत्ती की शक्ल की तीन नोकोंवाला तीर। २. पत्ती की शक्ल की तीन नोकों के ठीक पीछे एक ओर तीन नोकों वाली पत्ती की शक्ल का तीर। ३. तीर, जिसका ऊपरी सिरा गोलाकार हो और अगला सिरा धारदार गोलाई में नुकीला हो। ४. कुल्हाड़ी के फल वाले आकार की तिकोनी पत्ती वाला तीर, गोलाई वाले तीर के ठीक पीछे दो नोकों से युक्त तीर। ५. तीन नोकों वाला तीर, जिसकी बीच वाली नोक सीधी हो और आस-पास की दोनों मुड़ी हुई हों। ६. पांच कोनों वाल तीर। ७. एक के बाद एक तीन पत्तियों की नोक वाला तीर। ८. अगला सिरा मोटा और गोल हो, जब कि पिछला सिरा चौड़ाई में गोलाकार हो। ९. भाले के फल जैसा तिकोना, लम्बे मुंह वाला तीर। १०. त्रिशूल जैसा तीर। ११. क्रम में नुकीली चार तिकोनी पत्तियों वाला तीर। १२. एक गोल अंडे जैसे मुंह वाला और बाद

---

६०. धनुष्कारम्, इषुकारम्, ज्याकारम् । यजु० ३०.७

६१. शीला झुनझुनवाला, भारत के प्राचीन शस्त्रास्त्र, पृ० १८

६२. शीला झुनझुनवाला, भारत के प्राचीन शस्त्रास्त्र, पृ० १९

में पतला होता गया तीर। १३. जिसमें नोक की जगह सिर्फ एक गोलाकार बिन्दु रखा हुआ हो।[६३]

धनुर्वेद में संधान की विशिष्ट स्थितियां और क्रियाएं बताई गई हैं। साथ ही संधान के साथ शरीर की विभिन्न मुद्राओं और स्थितियों को लेकर भी निर्देश दिए गए हैं। संधान हेतु इन मुद्राओं का उल्लेख मिलता है :-

१. विशम्पद, २. प्रत्यालिघ, ३. वैशाख, ४. सम्पाद, ५. अलिघ, ६. ददुक्रम, ७. पद्मासन, ८. गरुडकर्म।

साथ ही तीर की गति, शक्ति, लक्ष्यवेध और प्रहार के प्रकारों का अलग-अलग वर्णन दिया है। धनुष की डोरी किस मुद्रा में कितनी खींचनी चाहिए, किस स्थिति में हाथ के मुड़ने की क्या मुद्रा होनी चाहिए, आदि बातों का धनुर्वेद में बहुत बारीकी से वर्णन किया गया है।[६४]

(३) इषुधि, तूणीर - युद्ध के समय बाणों को रखने के लिए विशेष प्रकार का खोल प्रयोग में लाया जाता था, इसे इषुधि, तूणीर, निषंग या तरकश कहते हैं। इसे पीठ पर बांधकर लटकाया जाता था और इसमें से सुविधापूर्वक बाण निकाला जा सकता था या इसमें रखा जा सकता था। वेदों में इषुधि और निषंग शब्द का प्रयोग हुआ है।[६५] इसी मंत्र में कहा गया है कि यह पीठ पर बांधा जाता था और शत्रुविजय का साधन था। निषङ्ग शब्द भी तूणीर के लिए आता है और तूणीरधारी को 'निषंगिन् ' कहते थे।[६६] निषङ्ग शब्द का बाण और खड्ग अर्थ भी है।

(४) सृक - निघंटु के अनुसार सृक शब्द का अर्थ वज्र है।[६७] निघण्टु में वज्र के साथ जो शब्द मेनि, हेति आदि दिए गए हैं, उनसे ज्ञात हाता है कि यह एक क्षेप्य अर्थात् फेंका जाने वाला अस्त्र है। सृक शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से भाले के लिए है। इसका बाण अर्थ भी लिया गया है। सृक और सृका दोनों का अर्थ भाला है। अतएव यजुर्वेद में रुद्र

---

६३. वही, पृ० २०

६४. वही, पृ० २२

६५. इषुधिः ... पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः । ऋग्० ६.७५.५

६६. निषङ्गिणः । ऋग्० ३.३०.१५; यजु० १६.६१
इषुधिमते । यजु० १६.२१

६७. सृकः, वज्रः, नेमिः, हेतिः, पविः, मेनिः, वज्रनामानि । निघंटु २.२०

को 'सृकाहस्ताः' हाथ में भाला लिए हुए कहा गया है।[६८] भालेधारी या भालेसाज के लिए सृकायिन् , सृगायिन् , सृकाविन् और सृकावन्त् शब्द वेदों में आए हैं।[६९]

(५) हेति, मेनि - निघंटु में हेति और मेनि को वज्र का पर्याय बताया गया है। ये दोनों शब्द क्षेप्य अस्त्र (Missile, मिसाइल) के लिए प्रयुक्त होते हैं। क्षेप्य अस्त्र में बाण, वज्र और भाला सभी आतें हैं। अतएव इन्द्र के वज्र के लिए भी हेति शब्द का प्रयोग है कि तेरा वज्र बेरोक-टोक चले।[७०] ऋग्वेद और यजुर्वेद में रुद्र के धनुष पर रखे हुए बाण के लिए हेति का प्रयोग है कि यह हमें हानि न पहुंचावे।[७१] यजुर्वेद में वर्णन है कि अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम, बृहस्पति आदि देवों के पास हेति (Missile) होते थे और वे इनका प्रयोग करते थे।[७२] यजुर्वेद में ही प्रत्येक दिशा के सेनानी और ग्रामणी का उल्लेख करते हुए प्रत्येक दिशा के हेति और प्रहेति का भी उल्लेख है। जैसे - बादलों का गरजना हेति है और बिजली का गिरना प्रहेति है।[७३] इससे ज्ञात होता है कि हेति शब्द सभी प्रकार के क्षेप्य अस्त्रों के लिए प्रयुक्त होता था। इसमें वज्र, बाण, भाला आदि सभी का समावेश है। इसी प्रकार मेनि शब्द भी सभी प्रक्षेप्य अस्त्रों के लिए प्रयुक्त होता था।[७४] ऋग्वेद में इन्द्र के वज्र के लिए इसका प्रयोग है। जैसे-मुझ इन्द्र के अतिरिक्त और कौन वृत्रासुर पर वज्र फेंक सकता है।[७५] अथर्ववेद में अन्य अस्त्रों के लिए मेनि शब्द का प्रयोग है।[७६] इससे एक साथ सौ शत्रुओं के मारा जा सकता था।[७७]

(६) प्रहेति - हेति का ही उत्कृष्ट रूप प्रहेति है। प्रक्षेप्य अस्त्रों में जो अधिक भयंकर और प्रभावशाली अस्त्र (Missile) होते थे, उन्हें प्रहेति कहते थे। यजुर्वेद में हेति और प्रहेति

---

६८. सृकाहस्ता निषङ्गिणः । यजु० १६.६१

६९. सृकायिभ्यः । यजु० १६.२१ । सृकायिन् , मैत्रा० २.९.३ ।
सृकाविन् , तैत्ति० सं० ४.५.३.१ । सृकावन्त् , मैत्रा० २.९.९ ।

७०. असिन्वा ते वंर्ततामिन्द्र हेतिः । ऋग्० १०.८९.१२

७१. परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः । ऋग्० २.३३.१४
परि ते धन्वनो हेतिः । यजु० १६.१२

७२. अग्निः, इन्द्रः, वरुणः, सोमः, बृहस्पतिः, हेतीनां प्रतिधर्ता ।
यजु० १५. १० से १४

७३. अवस्फूर्जन् हेतिः, विद्युत् प्रहेतिः । यजु० १५. १५ से १९

७४. हेत्या हेतिरसि, मेन्या मेनिरसि । अथर्व० २.११.१

७५. कतरो मेनिं प्रति तं मुचाते । ऋग्० १०.२७.११

७६. तं वधेयं ... अनया मेन्या । अथर्व० १०.५. १५ से २१

७७. मेनिः शतवधा हि सा । अथर्व० १२.५.१६

शब्दों का साथ साथ प्रयोग करते हुए स्पष्ट किया गया है कि अधिक घातक अस्त्रों को प्रहेति कहते थे।[७८]

(७) अशनि - अशनि वज्र के लिए है। यह जलता हुआ प्रक्षेपास्त्र है, जिससे शत्रु को भस्म कर दिया जाता है। ऋग्वेद में वर्णन है कि वृत्रासुर ने इन्द्र पर अशनि फेंका और इन्द्र ने वज्र के द्वारा उसे काट दिया।[७९] इन्द्र शत्रुओं को नष्ट करने के लिए इस तीक्ष्ण अशनि (वज्र) का प्रयोग करता था।[८०]

(८) ऋष्टि - ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर ऋष्टि अस्त्र का उल्लेख है। ऋष्टि एक विशेष प्रकार का भाला है। इसका प्रयोग विशेष रूप से मरुत् आदि देवों के द्वारा किया जाता था। वे इसको कंधे पर लेकर चलते थे। मरुतों के कंधों पर ऋष्टि रहते थे।[८१] इसे हाथ में लेकर मरुत् प्रहार करते थे।[८२] ये भाले अनेक प्रकार के होते थे। सात मरुत् देवों के अलग-अलग सात प्रकार के भाले थे।[८३] इन्द्र, अग्नि आदि देव शत्रुनाश के लिए इसका प्रयोग करते थे।[८४]

(९) रम्भिणी - यह एक प्रकार का शक्ति या भाला है, जो प्रक्षेपास्त्र के तुल्य कंधे पर रखा जाता था। मरुत् देव इसे अपने कंधे पर रखते थे।[८५]

(१०) सीसे की गोली - अथर्ववेद में वर्णन है कि हम सीसे की गोली से चोर और डाकुओं को मारते हैं। यह डाकुओं को मारने का साधन है। इसके लिए वैदिक शब्द सीस है।[८६]

---

७८. यजु० १५. १५ से १९

७९. यद् वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः । ऋग्० १.८०.१३

८०. शितां गभस्तिमशनिं पृतन्यसि । ऋग्० १.५४.४

८१. अंसेषु व ऋष्टयः । ऋग्० ५.५४.११

८२. बाहुषु दविद्युतत्यृष्टयः । ऋग्० ८.२०.११

८३. सप्तानां सप्त ऋष्टयः । ऋग्० ८.२८.५

८४. सा त इन्द्र ऋष्टिः । ऋग्० १.१६९.३
ऋष्टिभिर्यातुधानान् , अग्ने पूर्वो नि जहि । अथर्व० ८.३.७

८५. ऐषामंसेषु रम्भिणीव रारभे । ऋग्० १. १६८.३

८६. तं त्वा सीसेन विध्यामः । अ० १.१६.४
तदङ्ग यातुचातनम् । अ० १.१६.२

(ख) शस्त्र

(१) असि - यह तलवार है। यह पक्के लोहे की बनती थी। अथर्ववेद में वर्णन है कि चोर, डाकुओं और शत्रुओं के नाश के लिए हमारे घर में अच्छे लोहे की बनी तलवार हैं।[८७] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में तीन प्रकार के खड्ग (तलवारों) का वर्णन किया है। ये हैं :- १. निस्त्रिंश - जिसका अग्रभाग काफी टेढ़ा हो, २. मण्डलाग्र - जिसका अग्रभाग कुछ गोलाकार हो, ३. असियष्टि - जिसका आकार पतला एवं लम्बा हो। तलवार की मूठ के लिए लिखा है कि यह खड्ग (गैंडे की सींग), महिष (भैंस की सींग), वारण (हाथी दांत), दारु (मजबूत लकड़ी) और वेणुमूल (बांस की जड़) से बनवानी चाहिए।[८८]

(२) स्वधिति - यह तलवार या छुरे के लिए है। इसके प्रहार से पशुओं आदि की मृत्यु हो जाती थी।[८९] यह शत्रुनाशन के लिए था। तीक्ष्णता के लिए इसकी उपमा दी जाती थी।[९०] एक मंत्र में छुरे को स्वधिति (तलवार) का पुत्र बताया गया है।[९१]

(३) परशु - यह तीक्ष्ण चौड़ी धार की कुल्हाड़ी है। ऋग्वेद में इसको शत्रुनाशक आयुध बताया गया है।[९२] यह अतितीक्ष्ण आयुध है। इसे आग में तपाकर तीक्ष्ण किया जाता था। यह जंगलों आदि को काटने के भी काम आता था।[९३] यह बढ़िया लोहे का बनाया जाता था।[९४] इसका आकार प्रायः वर्तमान फरसा के तुल्य होता था। कौटिल्य ने इसको क्षुरवर्ग के आयुधों में रखा है।[९५] यह परशुराम का प्रिय आयुध था। गुप्तकाल तक इसका युद्ध-हेतु उपयोग होता रहा है। तत्कालीन मुद्राएं और मूर्तियां इसके प्रमाण हैं।

(४) क्षुर - यह एक प्रकार का शस्त्र था, जो चौड़े फाल वाले छुरे के तुल्य होता था। यह तीक्ष्णता के लिए बहुत प्रसिद्ध था।[९६]

---

८७. स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे । अ० १०.१.२०

८८. निस्त्रिंश - मण्डलाग्रासियष्टयः खड्गाः । खड्ग - महिष - वारण - विषाण - दारु - वेणुमूलानि त्सरवः । कौ० अर्थ० पृ० २११

८९. अश्वस्य स्वधितिः समेति । ऋग्० १.१६२.१८

९०. विश्पतिं मानुषीरिषः, अकृण्वन् स्वधितिं न तेजसे । ऋग्० ३.२.१०

९१. स्वधितिस्ते पिता । यजु० ३.६३

९२. परशुर्न द्रुहंतरः । ऋग्० १.१२७.३

९३. ऋग्० ४.६.८ । ३.५३.२२ । ७.१०४.२१

९४. शिशीते नूनं परशुं स्वायसम् । ऋग्० १०.५३.९

९५. परशु-कुठार ... क्षुरकल्पाः । कौ० अर्थ० पृ० २११

९६. अंसेष्वेताः पविषु क्षुरा अधि । ऋग्० १.१६६.१०

(५) **वाशी** - यह एक प्रकार का शस्त्र है, जो परशु या बसूले के तुल्य होता था। यह लोहे का बना होता था और मरुत् देवों का प्रिय शस्त्र था।[९७]

(६) **कृपाण** - ऋग्वेद में कृपाण-युद्ध का वर्णन है। इन्द्र ने कृपाण-युद्ध के लिए अपने सैनिकों को प्रोत्साहित किया।[९८] यह वर्तमान कृपाण के तुल्य शस्त्र था। तलवार आदि के तुल्य कृपाण से भी युद्ध प्रचलित था।

(७) **शूल** - यह नुकीला लोहे का बना हुआ शस्त्र था, जो सीधा पेट आदि में मार दिया जाता था। इसके लगते ही उस स्थान से खून बहने लगता था। इसका अग्रभाग पतला और नुकीला होता था।[९९] कौटिल्य ने भी हल के फाल के तुल्य तीक्ष्ण आयुधों में शूल का उल्लेख किया है।[१००]

(८) **चक्र** - ऋग्वेद में चक्र का आयुध के रूप में उल्लेख हैं।[१०१] यह लोहे का तीक्ष्ण धार वाला चक्र होता था। इसको अंगुलियों पर तेजी से घुमाकर शत्रु पर फेंका जाता था। इसकी धार से शत्रु की गर्दन आदि कट जाती थी। इन्द्र शत्रुवध के लिए इसका प्रयोग करता था। श्रीकृष्ण का सुदर्शन चक्र बहुत प्रसिद्ध है।

(९) **सूना** - अथर्ववेद में आयुध के रूप में तलवार के साथ सूना का भी उल्लेख है।[१०२] यह भाले या शूल के तुल्य तीक्ष्ण नोक वाला शस्त्र था।

(१०) **कर्त** - यह आरा या नुकीले शस्त्र के लिए है। इसके लगने से अंग कट जाता था और घाव हो जाता था। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है।[१०३] कौटिल्य ने परशु कुठार आदि के साथ क्रकच (आरा) का भी क्षुर-तुल्य आयुधों में उल्लेख किया है।[१०४]

(११) **समुद्रफेन** - चारों वेदों में समुद्रफेन (अपां फेनेन) का आयुध के रूप उल्लेख है। इन्द्र ने समुद्रफेन से नमुचि (वृत्रासुर) को मारा।[१०५] समुद्रफेन जमकर पत्थर के तुल्य

---

९७. वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीम् । ऋग्० ८.२९.३

९८. चोदयो नृन् कार्पाणे शूर वज्रिवः । ऋग्० १०.२२.१०

९९. अभि शूलं निहतस्यावधावति । ऋग्० १.१६२.११

१००. शूल-तोमर० हलमुखानि । कौ० अर्थ० पृ० २१०

१०१. नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् । ऋग्० १.५३.९

१०१. असिं सूनाम्० । अ० २०.१२६.१८

१०३. यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे । अ० ४.१२.७

१०४. परशुकुठार .. क्रकच .. क्षुरकल्पाः । कौ० अर्थ० पृ० २११

१०५. अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः । ऋग्० ८.१४.१३, यजु० १९.७१; अ० २०.२९.३; साम० २११

कठोर हो जाता है। इसका संभवतः पत्थर के तुल्य प्रयोग होता था। इसके फेंकने से शत्रु का सिर आदि फट जाता होगा।

(१२) उल्का - ऋग्वेद और यजुर्वेद में इसका उल्लेख है।[१०६] यह आग के गोले के तुल्य फेंका जाता था। यह गोला एक साथ चारों ओर शत्रुओं पर फेंका जा सकता था और उन्हें जलाया जा सकता था। यह संभवतः जलता हुआ लोहे का गोला है।

(१३) दण्ड - यह लाठी या डंडा है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसका शस्त्र के रूप में उल्लेख है।[१०७] यह सुरक्षा का सबसे सरल साधन था। कौटिल्य ने शतघ्नी (तोप), चक्र और मशीनों के साथ आयुधों में दण्ड (डंडा या लाठी) का भी उल्लेख किया है।[१०८]

(१४) अश्मन् , पाषाण - वेदों में अश्मन् (पाषाण) का भी आयुध के रूप में उल्लेख है। यह यन्त्र, गुलेल, गोफन या हाथ से शत्रुओं पर फेंककर उन्हें मारा जाता था। ऋग्वेद का कथन है कि पत्थरों की चोट से शत्रुओं को नष्ट करो।[१०९] पत्थरों से राक्षसों को मारो।[११०] पत्थरों की चोट से हमारी रक्षा हो।[१११] शत्रुओं को पत्थरों से मार डालो।[११२] मौर्यकाल में भी पाषाण की आयुध में गणना की जाती थी। आचार्य कौटिल्य ने कई प्रकार से इसके प्रयोग का उल्लेख किया है। जैसे :- १. यन्त्रपाषाण - मशीन या किसी यन्त्र से फेंके जाने वाले पाषाण। २. गोष्फण पाषाण - गोफन (ढेलबांस, फन्नी) से पत्थर फेंकना। ३. मुष्टिपाषाण - हाथ से पत्थर फेंकना। ४. रोचनी - गुलेल से पत्थर या ढेला फेंकना। ५. दृषद् - बड़ी चट्टान या बड़े पत्थर को प्रहारार्थ फेंकना।[११३]

(१५) धूमाक्षी - अथर्ववेद में धूमाक्षी नामक अस्त्र का उल्लेख है। यह शत्रु पर फेंका जाता था और इसके प्रयोग से शत्रुओं की आंखों में धुआं घुस जाता था। इसे धूमास्त्र कह सकते हैं। इसके घोर शब्द से कान बहरे हो जाते थे या फट जाते थे।[११४]

---

१०६. वि सृज विष्वगुल्काः । ऋग्० ४.४.२; यजु० १३.१०

१०७. यद् दण्डेन यदिष्वा० । अ० ५.५.४ । ऋग्० ७.३३.६

१०८. दण्ड-चक्र-यन्त्र-शतघ्नयः । कौ० अर्थ० पृ० १०९

१०९. अश्महन्मभिः .. विध्यतम् । ऋग्० ७.१०४.५

११०. ग्रावाणो हन्तु रक्षसः । ऋग्० ७.१०४.१७

१११. आरे अश्मा यमस्थथ । ऋग्० १.१७२.२; अ० १.२६.१

११२. एनान् अश्मना जहि । अ० १३.१.३२

११३. यन्त्र-गोष्फण-मुष्टि-पाषाण-रोचनी-दृषदश्चायुधानि । कौ० अर्थ० पृ० २११

११४. धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु । अ० ११.१०.७

५. अंगरंक्षक आयुध

युद्ध में विभिन्न अंगों की रक्षा के लिए कतिपय अंगरक्षकों की आवश्यकता होती थी। इसके लिए जो आयुध बनाए गए थे, उन्हें अंगरक्षक आयुध कहते थे। इनसे मर्मस्थलों की रक्षा होती थी। वेदों में ऐसे कतिपय आयुधों का वर्णन है। ये हैं :-

(१) बिल्म (टोप) - सिर की रक्षा के लिए बिल्म (टोप Helmet) का उपयोग किया जाता था। बिल्म को शिरस्त्राण भी कहते हैं। बिल्म-धारी को बिल्मिन् (टोपधारी) कहते थे।[१] आचार्य कौटिल्य ने बिल्म के लिए शिरस्त्राण शब्द दिया है।[२] ऋग्वेद में कहा गया है कि दूत भी लोहे का टोप (अयःशीर्षन्) लगाते थे।[३]

(२) वर्म एवं कवच - चारों वेदों में वर्म का वर्णन है। वर्मन् (वर्म) और कवच का एक ही अर्थ में प्रयोग मिलता है। वर्म और कवच सिर के नीचे के अंगों की रक्षा-हेतु प्रयुक्त होते थे। यह मुख्य रूप से शरीर के मर्मस्थलों की रक्षा के लिए पहना जाता था।[४] वर्म की महिमा से योद्धा सुरक्षित रहता था।[५] यह लोहे का बनता था। ऋग्वेद में एक मंत्र में चमड़े के कवच का भी संकेत है।[६] युद्ध के लिए बड़े-बड़े कवच सीकर तैयार रखे जाते थे।[७] यजुर्वेद में वर्म और कवच में अन्तर किया गया है। वर्म पूरा लोहे का होता था। कवच वस्त्र, चमड़े आदि का भी होता था। इसमें अन्दर कपास या रूई आदि भी भरी होती थी।[८] आचार्य कौटिल्य ने ६ प्रकार के कवचों का तथा ७ प्रकार के अन्य अंगरक्षकों का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मुंह ढकने का आवरण, पूरे हाथ ढकने का आवरण आदि का उल्लेख किया है।[९] इनका विवरण दिया जा चुका है।

(३) रुक्म - रुक्म भी एक अंगरक्षक था। मरुत् देवों के वर्णन में कहा गया है

(ख) अंगरक्षक आयुध आदि

१. नमो बिल्मिने च कवचिने च । यजु० १६.३५

२. शिरस्त्राण-कण्ठत्राण० । कौ० अर्थ० पृ० २११

३. दूतो अद्रवत् , अयःशीर्षा० । ऋग्० ८.१०१.३

४. मर्माणि ते वर्मणा छादयामि । ऋग्० ६.७५.१८, यजु० १७.४९, अथर्व० ७.११८.१; साम० १८७०

५. स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु । ऋग्० ६.७५.१

६. अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व । ऋग्० १०.१६.७

७. वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि । ऋग्० १०.१०१.८; अ० १९.५८.४

८. नमो .. कवचिने, नमो वर्मिणे । यजु० १६.३५

९. लोहजाल .. वर्माणि । शिरस्त्राण .. आवरणानि । कौ० अर्थ० पृष्ठ २११ - २१२

कि वे योद्धा के रूप में छाती पर रुक्म (सुनहरी वक्षस्त्राण) पहनते थे।[१०] यह छाती की रक्षा के लिए होता था। यह संभवतः जालीदार लोहे का कवच था।

(४) खादि, हस्तघ्न - हाथ और पैर की रक्षा के लिए एक विशेष प्रकार का अंगरक्षक था। इसे हाथ में दस्ताने की तरह और पैर में मोजे की तरह पहना जाता था। यह लोहे का पतला त्राण होता था, जो तलवार आदि के प्रहार को रोक सकने में समर्थ होता था। मरुतों को 'खादिहस्त' कहा गया है।[११] इससे ज्ञात होता है कि हाथ में पहने जाने वाले वर्म को 'हस्तखादि' कहते थे। कलाई तक के अंश की रक्षा करने के कारण इसको 'हस्तघ्न' (प्रकोष्ठ-त्राण) भी कहते थे। इसके लिए कहा गया है कि यह हाथ में चारों ओर लिपटा होता था और धनुष की प्रत्यंचा की रगड़ या चोट आदि से रक्षा करता था।[१२] पैर में पहने जाने वाले त्राण को पत्सु-खादि (पैर-रक्षक) कहा गया है।[१३] इसी मन्त्र में मरुतों की वेष-भूषा का सुन्दर वर्णन है कि उनके कंधे पर ऋष्टि (भाला), पैर में खादि (लोहे का मोजा), छाती पर रुक्म (वक्ष-त्राण), हाथमें विद्युत् (वज्र) और सिर पर शिप्रा (लोहे का टोप) होता था।

(५) शिप्रा - यह विशेष प्रकार का शिरस्त्राण होता था। यह वर्तमान टोप से मिलता-जुलता होता था। यह लोहे का जालीदार टोप होता था, जो तलवार आदि के प्रहार से सिर की रक्षा करता था। इसे मरुत् आदि योद्धा पहनते थे।[१४]

६. युद्ध के उपकरण

युद्ध के समय कतिपय अन्य साधनों की भी आवश्यकता होती थी, उन्हें उपकरण या सहायक सामग्री कहते हैं। वेदों में कुछ ऐसे उपकरणों का उल्लेख है।

१. रथ - रथों का उपयोग युद्ध एवं अन्य अवसरों पर होता था। प्राचीन समय में रथ यात्रा का अत्यन्त उपयोगी साधन था। रथ बनाना विशेषज्ञता का सूचक था। रथ बनाने वाले को रथकार कहते थे।[१५] रथ पर बैठकर युद्ध करने वाले को रथी या रथेष्ठा और बड़े रथ पर बैठकर लड़ने वाले को महारथी या महारथ कहते थे।[१६] रथ की विशषताएं थीं -

---

१०. मरुतो रुक्मवक्षसः । ऋग्० २.३४.२

११. तवसं खादिहस्तम् । ऋग्० ५.५८.२

१२. ज्याया हेतिं परिबाधमानः । हस्तघ्नः० । ऋग्० ६.७५.१४

१३. पत्सु खादयः । ऋग्० ५.५४.११

१४. शिप्राः शीर्षसु .. हिरण्ययीः । ऋग्० ५.५४.११

१५. मेधायै रथकारम् । यजु० ३०.६

१६. नमो रथिभ्यः । यजु० १६.२६
जिष्णू रथेष्ठाः, महारथो जायताम् । यजु० २२.२२

चक्र, कीली और नाभि का सुदृढ होना ।[१७] रथों पर बैठकर युद्ध किया जाता था।[१८] इन्द्र का रथ युद्ध में सदा विजयी होता था।[१९] रथों को सजाया जाता था।[२०] सुन्दर स्वर्णजटित भी रथ होते थे।[२१] बहुत बड़े भी रथ होते थे, जिनपर सौ या उससे भी अधिक मनुष्य बैठ सकते थे। ऐसे एक रथ का वर्णन है कि कुत्स के साथ १०० व्यक्ति उस रथपर बैठे थे। उसमें तीन बड़े प्रकाश-यन्त्र लगे थे।[२२]

२. ध्वज, केतु - वेदों से ज्ञात होता है कि उस समय ध्वज फहराने का प्रचलन था। युद्ध के समय प्रत्येक सेनापति अपना पृथक् ध्वज लेकर चलता था। देवसेना के ध्वजों पर सूर्य का चिह्न होता था। आर्यों की सेना को देवसेना कहते थे।[२३] आर्यों के ध्वज अरुण (लाल) रंग के होते थे।[२४] युद्ध में जाते समय सैनिक अपने हाथ में झंडे लेकर चलते थे।[२५]

३. पाश, दामन्, जाल - वेदों में अनेक प्रकार के पाशों (बन्धन, लोहे की बेड़ियों) का वर्णन है। वरुण के पाश उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के हैं।[२६] इन पाशों से शत्रुओं को बांध लिया जाता था। पाश लोहे के होते थे। ये जंजीर के तुल्य होते थे। इन्हें अयस्मय या अयोमय कहते थे। ये लोहे के बन्धन-पाश होते थे।[२७] रस्सी से बने हुए पाशों को दामन् कहते थे। ये गर्दन आदि में फंसाये या बांधे जाते थे।[२८] शत्रुओं आदि को फंसाने या बांधने के लिए जाल का भी प्रयोग होता था। इन्द्र के ऐसे जाल को 'बृहत् जाल' कहा गया है।[२९]

---

१७. रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः । अ० ४.१२.६

१८. रथं न पृतनासु तिष्ठ । अ० २०.७६.८

१९. जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ । अ० १९.१३.५

२०. रथमिव सं महेमा मनीषया । अ० २०.१३.३

२१. शतं रथ्या हिरण्ययाः । अ० २०.१३१.५

२२. अनु त्रिशोकः शतमावहन् नृन् कुत्सेन रथः । अ० २०.७६.२

२३. एता देवसेनाः सूर्यकेतवः । अ० ५.२१.१२

२४. अरुणैः केतुभिः सह । अ० ११.१०.२

२५. सं नह्यध्वम् उदाराः केतुभिः सह । अ० ११.१०.१
यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजः । ऋग्० ७.८३.२

२६. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं० । ऋग्० १.२४.१५

२७. अयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् । अ० ६.६३.२

२८. आबबन्ध दाम ग्रीवासु० । अ० ६.६२.१

२९. बृहज्जालेन संदिताः । अ० ८.८.४

४. पूतिरज्जु - अथर्ववेद में पूतिरज्जु का उल्लेख है। यह बारूद वाली रस्सी होती थी, जिसके जलने से बहुत बदबू निकलती थी और बहुत जोर का धड़ाका या शब्द होता था, जिससे शत्रुसेना घबराकर भागती थी। इन्द्र के द्वारा प्रयुक्त इस पूतिरज्जु का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसके धुएं, आग और बदबू से शत्रुसेना घबरा जाती थी।[३०]

५. उदार, विस्फोटक - अथर्ववेद में निर्देश है कि सेनापति सात प्रकार के उदारों (विस्फोटकों) का निरीक्षण करे।[३१] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भयंकर ज्वाला के लिए उदार शब्द का प्रयोग आया है।[३२] इससे ज्ञात होता है कि इन सात प्रकार के विस्फोटकों से भयंकर ज्वालाएं निकलती थीं। श्री सातवलेकर का कथन है कि उदार नामक वे अस्त्र थे, जो शत्रुपर दूर से फेंके जाते थे और वे वहां गिरकर शत्रु का भयंकर नाश करते थे। उदार (उत् + आर) शब्द सूचित करता है कि उत् = ऊपर, आर = फेंकना, अर्थात् यह शत्रु के ऊपर फेंका जाता था और वहाँ पहुंचकर फटता था। इस प्रकार शत्रु का नाश होता था।[३३]

७. युद्धों में वाद्य-प्रयोग

युद्ध के समय सैनिकों को उत्साहित और उत्तेजित करने के लिए कतिपय वाद्यों का उपयोग होता था। इन ढोल, नगाड़ों आदि की ध्वनि सुनकर योद्धा आन्दोलित हो जाते थे और वे अपने प्राणों की बाजी लगाकर युद्ध में विजयी होने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करते थे। वेदों में ऐसे कुछ वाद्यों का उल्लेख है। इनमें दुन्दुभि, शंख, कर्करि और गर्गर मुख्य हैं।

१. दुन्दुभि - वेदों में दुन्दुभि का बहुत गुणगान है। दुन्दुभि एक प्रकार का नगाड़ा है। यह ध्वन्यनुकरणात्मक (Onomatopoetic) शब्द है। दुन्दुभि (ढोल या नगाड़ा) का वादन एक विशेष कला मानी जाती थी, अतः दुन्दुभि-वादक को आदर से देखा जाता था। यजुर्वेद में इन्हें नमस्कार कहा गया है।[३४] दुन्दुभि आदि के बजाने को आहनन (पीटना) कहते थे। दुन्दुभि से निकली तीव्र ध्वनि को दुन्दुभ्य और आहनन्य कहते थे। दुन्दुभि बजाने को तैत्तिरीय संहिता में 'दुन्दुभ्याघात' कहा गया है।[३५]

---

३०. पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् । अ० ८.८.२

३१. सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन् । अ० ११.९.६

३२. तै० ब्रा० २.२.८

३३. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, अथर्व० सुबोधभाष्य, कांड ११, पृ० ११३-११४

३४. नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च । यजु० १६.३५

३५. तै० सं० ४.५.७.१

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में दुन्दुभि का गुणगान करते हुए कहा गया है कि तू अपनी ध्वनि से द्युलोक और पृथिवी को भर दे, तेरा सर्वत्र गुणगान हो, तू शत्रुओं को बहुत दूर भगा दे। तेरी ध्वनि को सुनकर योद्धाओं में बल और वीर्य बढ़े। हमारे रथारोही योद्धा विजयी हों।[३६] अथर्ववेद में अनेक मन्त्रों में वर्णन किया गया है कि दुन्दुभि शत्रुओं को भयभीत कर दे। इनमें निराशा और व्याकुलता भर दे। उनके हृदय में शोक की भावना भर दे और उनको मृत्यु के घाट उतारे।[३७]

दुन्दुभि वनस्पति या लकड़ी से बनती थी और उसके ऊपर चमड़ा मढ़ा जाता था। अतः इसे वानस्पत्य और चर्मावृत कहा गया है।[३८]

२. शंख - यह प्रचलित वाद्य है। शंखध्वनि है शुभ मानी जाती है। युद्ध में भी इसका उपयोग उत्साहवर्धन और कुशलक्षेम के लिए होता था। साथ ही यह शत्रुओं को भयभीत करने के लिए होता था। यजुर्वेद में भयभीत करने के लिए शंखवादन का वर्णन है।[३९] अथर्ववेद का कथन है कि शंख समुद्र से उत्पन्न होता है।[४०] वायु से इसे ध्वनि मिली है, विद्युत् से इसे तेज और ज्योति मिली है।[४१] योद्धा इसको रथमें रखते थे और तूणीर के साथ यह पीठ पर बांधा जाता था।[४२] शंख के द्वारा राक्षसों और शोषकों (अत्रिन्) का वध करने का उल्लेख है।[४३]

भगवद्गीता से ज्ञात होता है कि युद्ध में शंख-वादन का प्रचलन था। यह बिगुल के तुल्य उत्साहवर्धन के लिए बजाया जाता था। भीष्म पितामह ने शंख बजाया। श्रीकृष्ण और अर्जुन ने अपने-अपने शंख बजाए। श्रीकृष्ण ने पांचजन्य और भीम ने अपना महाशंख पौंड्र बजाया। इसी प्रकार अन्य सभी महारथियों ने अपने शंख बजाए।[४४] ये शंख छोटे और बड़े सभी प्रकार के होते थे।

---

३६. उप श्वासय पृथिवीमुत द्याम् ।
स दुन्दुभे ... अप सेध शत्रून् ।
दुन्दुभिर्वावदीति । अस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ।
ऋग्० ६.४७. २९ से ३१ । यजु०२९ . ५५ से ५७ । अ० ६.१२६. १ से ३

३७. अथर्व० ५.२१.१; ५.२०.३; ५.२०.११

३८. दुन्दुभिः ... वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः । अ० ५.२०.१

३९. अवरस्पराय शङ्खध्मम् । यजु० ३०.१९

४०. समुद्रादधि जज्ञिषे । अ० ४.१०.२

४१. वातात् जातः, विद्युतो ज्योतिष्परि । अ० ४.१०.१

४२. रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वम् । अ० ४.१०.६

४३. शंखेन हत्वा रक्षांसि-अत्रिणो नि षहामहे । अ० ४.१०.२

४४. गीता अ० १.१२ से १८

३. कर्करि - यह वीणा के तुल्य एक वाद्य है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है। इसकी ध्वनि तीक्ष्ण होती थी।[४५]

४. गर्गर - यह भी एक वाद्य है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। यह गोधा (लोहे का दस्ताना या वीणा) और पिंगा (पिंगल वर्ण ज्या, पीली प्रत्यंचा या पीला वाद्य) के साथ बजाया जाता था। सामूहिक वाद्य के रूप में इसका उल्लेख है।[४६]

८. पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट शस्त्रास्त्र

आचार्य पाणिनिकृत अष्टाध्यायी अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें उल्लिखित शस्त्रास्त्र तत्कालीन सैनिक स्थिति को सूचित करते हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में इसका सुन्दर संकलन किया है।[४७]

आचार्य पाणिनि ने आयुध के लिए प्रहरण शब्द का प्रयोग किया है (४.४.५७)। सूत्रों में इन आयुधों का उल्लेख है - धनुष् (धनुष), शक्ति (भाला), परश्वध (फरसा), प्रास (भाला), असि (तलवार), यष्टि (लाठी), कासू (लंबा बर्छा), कासूतरी (छोटा बर्छा), हेति (प्रक्षेपास्त्र), कौक्षेयक (कटार), कार्मुक (धनुष)।

आयुध के आधार पर ही युद्ध करने वालों का नामकरण होता था। असि (तलवार) से आसिक (तलवार से लड़ने वाला), धानुष्क (धनुष - बाण से लड़ने वाला), प्रासक (प्रास या भाले से लड़ने वाला), पारश्वधिक (परश्वध अर्थात् फरसे से लड़ने वाला), शाक्तीक (शक्ति या भाले से लड़ने वाला), याष्टीक (यष्टि या लाठी से लड़ने वाला, लठैत), कुन्त (भाला और भाले से युद्ध करने वाला), यष्टि (लाठी और लठैत)। सैन्य और सैनिक (सिपाही)।

पाणिनि और कात्यायन ने स्त्री-सैनिकों का भी उल्लेख किया है। शाक्तीकी (भाले से युद्ध करने वाली स्त्री सैनिक), याष्टीकी (लाठी से युद्ध करने वाली स्त्री सैनिक)।

कार्मुक ताड़ के पेड़ की लकड़ी से बनता था। इसे तालधनु भी कहते थे। पाणिनि ने बड़े धनुष को महेष्वास कहा है। इसकी ऊंचाई ५ हाथ या ७-१/२ फुट होती थी। बाण में लोहे के पत्र या आंकुड़े लगे रहते थे। ये कवच के अन्दर तक घुस जाते थे और मृत्यु के कारण बनते थे। आयुध (शस्त्र) से लड़ने वालों को आयुधीय और आयुधजीवी कहते थे। कौटिल्य ने इन्हें शस्त्रोपजीवी कहा है।

●

---

४५. वदसि कर्करिर्यथा० । ऋग्० २.४३.३
यत्राघाटा: कर्करय: संवदन्ति । अ० ४.३७.५

४६. अव स्वराति गर्गर:, गोधा .. पिंगा० । ऋग्० ८.६९.९

४७. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४१४ से ४१६

सहायक ग्रन्थ

संस्कृत

१. ऋग्वेद संहिता - सं०श्री दामोदर सातवलेकर १९४०
२. यजुर्वेद संहिता - सं० श्री दामोदर सातवलेकर १९४०
३. सामवेद संहिता - सं० श्री दामोदर सातवलेकर १९४०
४. अथर्ववेद संहिता - सं०श्री दामोदर सातवलेकर १९४३
५. तैत्तिरीय संहिता - सं० श्री दामोदर सातवलेकर १९५७
६. काठक संहिता - सं० श्री दामोदर सातवलेकर १९५७
७. मैत्रायणी संहिता -सं०श्री दामोदर सातवलेकर १९५७
८. शतपथ ब्राह्मण - अच्युत ग्रन्थमाला , बनारस , संवत् १९९४-१९९७
९. ऐतरेय ब्राह्मण - सायण भाष्य, आनन्दाश्रम सं०सीरीज, पूना १९३१
१०. उपनिषद:१०८,निर्णय सागर, बम्बई १९३२
११. महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर १९७०
१२. मनुस्मृति, चौखम्बा सं० सीरीज, वाराणसी १९७९
१३. कौटिल्य अर्थशास्त्र, व्या० वाचस्पति गैरोला, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी १९७७
१४. शुक्रनीतिसार, व्या० स्वामी जगदीश्वरानन्द, बहालगढ़ (हरियाणा) १९८३
१५. कामन्दकीय नीतिसार, आनन्दाश्रम , पुणे १९८२

अन्य ग्रन्थ

१. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, डा० कपिलदेव द्विवेदी , विश्वभारती अनुसंधान परिषद् , ज्ञानपुर (भदोही) १९८८
२. वेदकालीन राज्य - व्यवस्था, डा० श्यामलाल पांडेय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग उ०प्र०, लखनऊ १९७१
३. वैदिक राजनीतिशास्त्र, डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना १९७५
४. प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, डा० अ० स० अलतेकर, भारती भंडार, इलाहाबाद १९८२
५. प्राचीन भारत की शासन संस्थाएँ और राजनीतिक विचार, डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, सरस्वती सदन, मसूरी १९८३

६. प्राचीन भारत में जनतन्त्र, डा० देवीदत्त शुक्ल,
हिन्दी समिति, उ०प्र० लखनऊ , १९६६
७. हिन्दू राज्यशास्त्र, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी,
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग , १९५०
८. भारत के प्राचीन शस्त्रास्त्र, शीला झुनझुनवाला ,
सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, १९८६
९. कौटल्यकालीन भारत, आचार्य दीपंकर
हिन्दी समिति, उ०प्र०, लखनऊ , १९६८
१०. कौटिल्य की शासन-पद्धति, भगवानदास केला,
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग , १९६१
११. वैदिक कोश, डा० सूर्यकान्त,
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी , १९६३
१२. वैदिक कोश, हंसराज, भगवद्दत्त,
डी० ए० वी० कालेज, लाहौर , १९२६
१३. Hindu Polity , Dr.K.P.Jaiswal, Bangalore, 1943

***

निर्देशिका (Index)

(सूचना - अंक पृष्ठबोधक हैं ।)

अ ,आ

अंगरक्षक आयुध ३३९
अक्षावाप १९०
अग्निपुराण में शस्त्रास्त्र ३२६,३२७
अघशंस, चक्षुर्मन्त्र २७४
अत्रिन् ,क्रव्याद् २७४
अधिराज्य १७३
अपराध और दण्ड २६९
अभिलषितार्थ-चिन्तामणि १४
अभिषेक और कर्तव्यविधान ११३
अभिषेक विधि १०९
अमात्य ८६
अराजानो राजकृतः १८२
अर्थव्यवस्था (कोश) २३९
अर्थशास्त्र (कौटिल्य)३,८,९,३४, ४५, ५१, ७०,७९,८१-९८, २५३-२६१, २७९-२८३, २९२-३१९,३२७-३४२।
अर्थशास्त्र में वर्णित शस्त्रास्त्र ३२७
अलतेकर, डा०,१४,३०,३७,२०१,२२८
अशनि ३३५
अश्मन् , पाषाण ३३८
अश्व और अश्वारोही सेना ३००
असि ३३६
अस्त्र ३२९
अस्त्र और शस्त्र ३२३
आग्नेय अस्त्र, अग्निबाण ३२४
आतिष्ठ (शासन - प्रणाली) १७१
आथर्वण अस्त्र ३२५
आदर्श समाज का लक्ष्य २०
आधिपत्य और अधिपति १६७
आभ्यन्तर शत्रु , उनका दमन २९५
आर्थिक और समाजिक कर्तव्य ७७
आल्फ्रेड हिलेब्रांड, प्रो० २०१
आसन ९७

इ से ऐ

इषुधि, तूणीर ३३३
ईग्लिंग, प्रो० १८८
उदार, विस्फोटक ३४२
उपमन्त्री ८४
उल्का,शस्त्र ३३८
ऋष्टि, अस्त्र ३३५
ऐतरेय ब्राह्मण ३२, ३४,१२३-१२६, १५८-१७१, १८२ ।
ऐन्द्र अस्त्र या वज्र ३२६

क से ङ

कठोर अनुशासन १२७
कर का स्वरूप, उपयोग २४६
कर के विविध रूप २५०
कर लेने का प्रकार २५८
कर-संग्रह करना १२९
कर्करि, वाद्य ३४४
कर्त, शस्त्र ३३७
कवच और आवरण ३२८
कांस्टेंटिन फ्रैज ४८
काठक संहिता १८०,२६२,३०८
कामन्दकीय० ७०,२७९,२८३
कार्ल जकारिया ४८
कार्ल वोल्याफ ४८
कालिदास २५१
कीथ, प्रो० २५७

कृपाण ३३७
कृषि-विकास १२८
कृष्णल या रत्तिका २५९
कोश ८८
कोश का महत्त्व २४१
कोश की वृद्धि १२८
कोश - संग्रह से संबद्ध अधिकारी २६०
कोश - संचय के प्रमुख साधन २४४
क्षत्ता, रत्नी १८९
क्षत्र का स्वरूप ५७, ६३
क्षुर, शस्त्र ३३६
खड्ग या तलवार ३२८
खादि, हस्तघ्न ३४०
गज और गजारोही सेना ३००
गणक २६२
गर्गर, वाद्य ३४४
गुणों के अनुसार कार्य-निर्धारण २१
गुप्तचर - व्यवस्था २८८
गुप्तचरों के कार्य २८२
गोविकर्त, रत्नी १९२
ग्रामणी, रत्नी १८४
ग्रामसभा और अभिलेख २१३
ग्रिफिथ,प्रो० २२१

च से ज

चक्र, शस्त्र ३३७
चाणक्य १५४
चोर, स्तेन, तस्कर २७२
छान्दोग्य उपनिषद् २२५,२९६
जनपद, राष्ट्र ९२
जनराज्य १७१
जायसवाल,डा० काशीप्रसाद ८६, १०७,१६५-१७२,१८८-२२१ ।
जे. के. बलांशी ४८

त से न

तत्त्व और अंग में अन्तर ५५
तामस अस्त्र ३२५
तैत्तिरीय ब्राह्मण ४०,१६३-१९०, २६२
तैत्तिरीय संहिता १४५,१५९,१७९-१९०,२६२,३०१
त्सिमेर, प्रो० २०१,२२७,२२९
दंड का स्वरूप २६८,२६९
दंड-विधान २६७
दंड, सेना (बल) ८८
दिग्विजयार्थ प्रस्थान १११
दिव्य अस्त्र ३२४
दिव्य और मानवीय अस्त्र ३२३
दुन्दुभि, वाद्य ३४२
दूत और गुप्तचर व्यवस्था २७९
दूत की आवश्यकता ८६,२७९
दूत की योग्यता २८६
दूत के कर्तव्य २८१
दूत और चरों की योग्यता २८०
देवदूत २८३
दैवी सिद्धान्त ३७
द्वैधीभाव ९८
धनुष, बाण ३२८, ३२९
धर्म ६३
धूमाक्षी, अस्त्र ३३८
ध्वजा, केतु ३४१
नारी-सेना ३०५
निष्क २५६
नीति-मयूख १४
नीति - वाक्यामृत १३
नेपोलियन बोनापार्ट १०
न्याय और दंडविधान २६५
न्याय का स्वरूप २६५
न्याय-व्यवस्था ७५

प से म

पंचविंश ब्राह्मण १८०,२५८
पण का मूल्य ८७
पण्डित - अमात्य ८५
पदाति, पैदल सेना ३०२
पदाति- सेनाध्यक्ष ३११
पाणिनि १६०,१६१,२६७
पाणिनि - निर्दिष्ट शस्त्रास्त्र ३४४
पारमेष्ठ्य और परमेष्ठी १६९
पारस्कर गृह्यसूत्र २०३,२१३,२२१
पालागल, रत्नी १९२
पाश, दामन् , जाल ३४१
पाशुपत अस्त्र ३२४
पुत्री को दायभाग १४९
पुर, दुर्ग ९३
पुरोहित ८५
पूतिरज्जु, विस्फोटक ३४२
पूषा (पूषन्) ६५
प्रजा और राज्य की सुरक्षा ७५
प्रजा की आर्थिक स्थिति सुधारना १२८
प्रजा के कर्तव्य, राजा के प्रति १३४
प्रजा - पालन १२४,१२५
प्रतिनिधि, मंत्री ८५
प्रमुख संस्थाएँ १९९
प्रहेति ३३४
बलि (कर) २४५
बाण ३३१
बाह्य शत्रुनाशन २९७
बृहदारण्यक उप० ६३-६५,२२५
बृहस्पति स्मृति २०७
ब्रह्मन् या पुरोहित १८२
ब्रह्मास्त्र ३२४
भंडारकर, डा० २५७
भागदुघ १९०,२६०
भौज्य और भोज १६४
मंत्रिपरिषद् के सदस्य १९५
मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद् ७९,८१
मंत्रियों का वेतन ८६
मंत्रियों की संख्या ८२
मंत्रियों के कार्य,गुण ८०
मंत्रियों के विभाग ८४,८५
मंत्री और अमात्य में अन्तर ८१
मनुस्मृति ९,२३,४५,७०-८२,
२०५-२१६,२५०-२८०,३१९
महान् जनराज्य १०८
महाभारत ३-८,४०-५१,७०-९३,
१६४-१९५,२४१-२६८
मानवीय शस्त्रास्त्र ३२९
माहाराज्य और महाराज १६२
मित्र, सुहृद् ९१
मुद्राएं २५६
मैत्रायणी संहिता १८०-१९०,२६२

य से व

याज्ञवल्क्य स्मृति २०५,२६९
यातुधान २७०
यान ९७
युद्ध-कार्य ३१३
युद्ध का काल ३१८
युद्ध के उपकरण ३४०
युद्ध के प्रकार ३१३
युद्ध-सिद्धान्त ३०
युद्ध में माया-प्रयोग ३१७
युद्धों में वाद्य-प्रयोग ३४२
योद्धाओं का वेश ३१८
रक्षस् , राक्षस २७१
रत्नी १०८
रत्नी और प्रजा का प्रतिनिधित्व १९४
रथ और रथारोही सेना ३०३

राजकर्मचारियों की नियुक्ति ७७
राजदूत २८४
राजनीतिशास्त्र,उद्भव,विकास ४
राजसूय, वाजपेय,सर्वमेधयज्ञ १०६
राजा और प्रजा ७४,१३२,१३५
राजा और राजकृत् १७९
राजा और निर्वाचक १०४
राजा का निर्वाचन १०३
राजा का पदच्युत किया जाना ११७
राजा का वेतन ७९
राजा की आवश्यकता ७१
राजा की नियुक्ति , जीवन भर को १०५
राजा की निरंकुशता पर रोक ७९
राजा के कर्तव्य ७३,७४,११३, १२८,१३२
राजा के गुण ७१-७३
राजा के दोष ७४
राजा के धार्मिक कर्तव्य १२७
राजा के राष्ट्रीय कर्तव्य १२३
राजा के विविध रूप ७१
राजा के शैक्षिक कर्तव्य १३१
राजा के सामाजिक कर्तव्य १२७
राजानो राजकृत: १८१
राजा प्रजा का सेवक ७८
राजा राजकोष का ट्रस्टी ७८
राज्य-उत्पत्ति-विषयक सिद्धान्त २९
राज्य और राजा १५९
राज्य का आवयविक स्वरूप ४६
राज्य का सप्तांग स्वरूप ४५
राज्य का स्वरूप ४५
राज्य की सुरक्षा, सैन्य- व्यवस्था २५९
राज्य के कार्यवाहक १९३
राज्य के उद्देश्य ४९
राज्य के कार्य ५०
राज्य के तत्त्व ५५
राज्य के दो प्रकार के शत्रु २९५
राज्य के प्रमुख संचालक १७७
राज्य के लिए सहायक की आवश्यकता १७७
राज्य के विभिन्न तत्त्व ५५
राज्य के विविध अंग ६९
राज्याभिषेक १०६-११७
राज्याभिषेक की घोषणा ११०
राष्ट्र का स्वरूप ६१
रुक्म २५८,३३९
रोठ, प्रो० १८८,२२७
लुडविश् ,डा० २०१
वंश-परंपरागत राजत्व ११८
वरुण आदि-विधाननिर्माता १४५
वर्णाश्रम-धर्मरक्षा ७५
वर्म एवं कवच ३३९
वायव्य अस्त्र ३२४
वारुण अस्त्र ३२५
वाल्मीकीय रामायण १८६
वाशी (शस्त्र) ३३७
वासुदेवशरण अग्रवाल ८७,२५६-२६०, ३४४-३४५
विकास-सिद्धान्त २९
विग्रह ९६
विजयी और पराजित राजा ३२०
विदथ का अध्यक्ष २३२
विदथ की प्राचीनता २२६
विदथ की सदस्यता २३०
विदथ के कार्य २३३
विदथ के विषय में विभिन्न मत २२७
विधि और धर्म १४४
विधि और विधिनिर्माण १४४
विधि-निर्माण के केन्द्र १४७

विधि-निर्माण-केन्द्र, आश्रम १४७
विधि-निर्माण-केन्द्र, कुल १५०
विधि-निर्माणकेन्द्र,वर्णाश्रम धर्म १५१
विधि-निर्माणकेन्द्र , संस्थाएँ १५०
विधिनिर्माण में आचार्य का महत्त्व १५३
विधिनिर्माण में जनमत का महत्त्व १५३
विधि-निर्माता ऋषिगण १४७
विधिपालिका के कार्य १५२
विप्रराज्य १७४
विविध शस्त्रास्त्र ३२३
विविध शासन-प्रणालियाँ १५७
विविध संविधान १४२
विश् का स्वरूप ५९,६४
वीर मित्रोदय-राजनीति १३
वेदोत्तरकाल में राज्य के तत्त्व ६३
वेदों में कोश २४३
वेदों में राज्य के तत्त्व ५५
वेदों में समाज के तत्त्व १९
वेबर, प्रो० १८८
वैदिक और पाश्चात्त्य आवयविक सिद्धान्त में अन्तर ४८
वैदिक और पाश्चात्त्य दैवी सिद्धान्त में अन्तर ४१
वैदिक वर्ण-व्यवस्था,गुण-कर्मप्रधान २३
वैदिक संविधान १४१
वैदिक संविधानों की विशेषताएँ १४३
वैदिक समाज का स्वरूप १९
वैराज्य और विराट् १६५

श, ष, स, ह

शंख ३४३
शतपथ ब्राह्मण ३९,४०,६०,१०७-११९,१६०-१७९,१८४-१९४,२४६-२६०,२६६
शतमान २५८
शत्रुनाशन १२५
शत्रुविजय द्वारा प्राप्त धन २५०
शपथ-ग्रहण समारोह ११०
शर्मा,डा० आर०एस०, २२७,२२९
शस्त्र ३३६
शाकुन्तल, अभिज्ञान २५१
शिप्रा, अंगरक्षक आयुध ३४०
शीला झुनझुनवाला ३३२,३३३
शुक्रनीतिसार १०-१३,४५-४७,७०-९९,२०७-२१७,२५२,३२०, ३२३
शुल्क २४८
शूल, शस्त्र ३३७
श्यामलाल पांडेय ३६
षाड्गुण्य (६ गुण) ९५
संग्रहीता १८९,२६१
संधि ९६
संनिधाता २६१
संपत्ति का उत्तराधिकारी १४८
संमोहन अस्त्र ३२५
संविधान और विधिनिर्माण १४१
संविधान का उद्देश्य १४१
संविधान की रचना १४१
संविधान के मौलिक तत्त्व १४२
संश्रय,आश्रय,समाश्रय ९८
संसद् का स्वरूप २३४
संसद् के कार्य २३४
संस्थाओं की उपयोगिता १९९
सचिव ८५
सत्यकेतु विद्यालंकार २१३
सभा का अर्थ २०३
सभा का संगठन २०३
सभा की कार्यप्रणाली २१४
सभा की न्यायसमिति २१५
सभा की प्राचीनता १९९

सभा की सदस्यता २०५
सभा के कार्य २१०
सभापति २१०
सभा में नारी-सदस्य २१७
सभाविषयक विभिन्न मत २००
सभासद् की योग्यता २०७
सभासद् के कार्य २०९
सभासदों के विशेषाधिकार २०९
समर्यराज्य १७४
समाज-अनुबन्धवाद ३३
समाजनिर्माण और आवयविक सिद्धान्त २४
समाज के संघटक गुण २०
समाहर्ता २६१
समिति का संगठन २२१
समिति की उपयोगिता २२०
समिति की कार्यप्रणाली २२२
समिति की प्राचीनता २१८
समिति के कार्य २२३
समुद्रफेन, आयुध ३३७
सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर ३४२
सात संसद् २३५
साम्राज्य और सम्राट् १६०
सार्वभौम और एकराट् १६८
सीसे की गोली ३३५
सेना २३५
सेना का स्वरूप २९८
सेना के अंग २९९
सेना के आठ भेद ३१२
सेना के छह भेद ३११
सेनानी १८३
सेनापति ३०८
सेनापति के विषय में कौटिल्य और शुक्र ३१०
सेना, सैनिक और अधिकारी ३०७
सुमन्त्र ८५
सूत १८६
सृक, अस्त्र ३३३
सैनिकों का उपयोग, वेतन, भत्ता ३१९
स्त्री-शीलरक्षा, नारी-संरक्षण १३०
स्मृतिग्रन्थ ९
स्वधिति, शस्त्र ३३६
स्वराज्य और राष्ट्ररक्षा १२६
स्वराज्य और स्वराट् १६२
स्वावश्य, शासन-प्रणाली १७१
हेति, मेनि ३३४
ह्विटनी, प्रो. २२१, २२७
ह्वेन त्सांग १८८

***

हमारे प्रमुख प्रकाशन

शोध-ग्रन्थ

अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन	:	पद्मश्री डा० कपिलदेव द्विवेदी
स्मृतियों में राजनीति और अर्थशास्त्र	:	डा० प्रतिभा आर्य
स्मृतियों में नारी	:	डा० भारती आर्य
नाट्यशास्त्र में आंगिक अभिनय	:	डा० भारतेन्दु द्विवेदी

A Cultural Study of the Atharva Veda : Dr.K.D.Dvivedi

काव्य-ग्रन्थ

राष्ट्रगीतांजलि:	:	पद्मश्री डा० कपिलदेव द्विवेदी
भक्तिकुसुमांजलि:	:	पद्मश्री डा० कपिलदेव द्विवेदी
शर्मण्या: प्राच्यविद:	:	पद्मश्री डा० कपिलदेव द्विवेदी
आत्मविज्ञानम् (संस्कृत महाकाव्य)	:	पद्मश्री डा० कपिलदेव द्विवेदी

पद्मश्री डा० कपिलदेव द्विवेदी कृत

वेदामृतम् - ग्रन्थमाला (४० भागों में प्रकाश्य)

भाग (सद्य: प्रकाशित)	**भाग**
१. सुखी जीवन	२. सुखी गृहस्थ
३. सुखी परिवार	४. सुखी समाज
५. आचारशिक्षा	६. नीतिशिक्षा
७. वेदों में नारी	८. वैदिक मनोविज्ञान
९. यजुर्वेद-सुभाषितावली	१०.सामवेद-सुभाषितावली
११. अथर्ववेद-सुभाषितावली	१२. ऋग्वेद-सुभाषितावली
१३-१६. वेदों में आयुर्वेद	१७-२०. वेदों में राजनीतिशास्त्र

THE ESSENCE THE VEDAS

By : Padmashree Dr. K.D.DVIVEDI

The book contains 150 topics and 1400 Mantras from all the four Vedas. The Mantras are given in Roman Script with English Translation. A unique book of this kind in the world.

Size - Demy Octavo, Pages 336 + 16 Price Rs. 200/-

VISHVA BHARATI RESEARCH INSTITUTE
GYANPUR - 221304 (BHADOHI) U.P. (INDIA)